निर्वाण उपनिषद्

भगवान श्री रजनीश

संकलन :
मा योग क्रांति

सम्पादन :
स्वामी योग चिन्मय

जीवन जागृति आन्दोलन प्रकाशन
बम्बई, १९७२

प्रकाशक :
श्री ईश्वरलाल एन० साह,
(अब साधु ईश्वर समर्पण)
मंत्री, जीवन जागृति केन्द्र,
भगवान भुवन,
३१, इजरायल मोहल्ला, मस्जिद बंदर रोड,
बम्बई-९

प्रथम संस्करण :
मई, १९७२

मूल्य १५ रुपए

मुद्रक :
श्री विष्णु यन्त्रालय
भिखना पहाड़ी, पटना-४
पटना (बिहार)

कलकत्ता के भगवान् प्रेमी श्री हीरालाल मेहता
के आर्थिक अर्पण के सौजन्य से प्रकाशित

अन्तर्शीर्षक

निर्वाण उपनिषद्

साधना शिविर, माऊन्ट आबू, राजस्थान, में भगवान् श्री रजनीश द्वारा दिनांक २५ सितम्बर १९७१ से ९ अक्टूबर १९७१ तक दिए गए १५ प्रवचनों का संकलन।

प्रथम प्रवचन

साधना शिविर, माऊन्ट आबू, रात्रि, दिनांक २५ सितम्बर, १९७१

शांति पाठ का द्वार, विराट् सत्य और प्रभु का आसरा

शान्ति पाठ :

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम् माविराः वीर्म एधि वेदस्य म आणीस्थः श्रुतम् मे माप्रहासीरनेन् आधीनेन अहोरात्रात् सदधाम्य ।

ऋतम् वदिष्यामि । सत्यम् वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतुमाम् । अवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

ॐ मेरी वाणी मन में स्थिर हो, मन वाणी में स्थिर हो, हे स्वयंप्रकाश आत्मा ! मेरे सम्मुख तुम प्रकट होओ ।

हे वाणी और मन ! तुम दोनों मेरे वेद-ज्ञान के आधार हो, इसलिए मेरे वेदाभ्यास का नाश न करो । इस वेदाभ्यास में ही मैं रात्रि-दिन व्यतीत करता हूँ ।

मैं ऋत भाषण करूँगा, सत्य भाषण करूँगा । मेरी रक्षा करो । वक्ता की रक्षा करो । मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो । वक्ता की रक्षा करो । ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति ।

बूंद चाहे भी कि सागर को बिना स्मरण किए सागर की खोज कर ले, तो वह खोज न हो सकेगी। और कोई दीया सोचता हो कि सूर्य को स्मरण किए बिना सूर्य को खोज लेगा, तो नासमझी है। आत्मा भी परमात्मा की खोज पर निकली हो तो सिर्फ अपने पर भरोसा करके चले तो पहुँच न सकेगी। अपने पर भरोसा काफी नहीं है। परमात्मा का स्मरण जरूरी है—उस परमात्मा का स्मरण, जिसका हमें कोई भी पता नहीं है। यही कठिनाई है।

जिस परमात्मा का हमें कोई भी पता नहीं है, उसका स्मरण बड़ी कठिन और असंभव बात है। और अगर हम यह जिद करें कि पता होगा तभी स्मरण करेंगे, तो भी बड़ी कठिनाई है। क्योंकि पता हो जाने पर स्मरण की कोई जरूरत ही नहीं रह जाती। जो पहचानते हैं, उनके लिए प्रार्थना व्यर्थ है। और जिन्हें पता नहीं है, वे कैसे प्रार्थना करेंगे। वे कैसे पुकारें उसे, वे कैसे स्मरण करें। जिन्हें उसकी कोई खबर ही नहीं है, उसकी तरफ वे हाथ भी कैसे जोड़ें और सिर भी कैसे झुकाएँ।

बूंद को सागर का कोई भी पता नहीं, लेकिन फिर भी बूँद जब तक सागर न हो जाए तबतक तृप्त नहीं हो सकती। और अंधेरी रात में जलते हुए एक छोटे-से दीए को क्या पता होगा कि सूरज के बिना वह नहीं जल सकेगा। लेकिन सूर्य कितना ही दूर हो, वह जो छोटा-सा अँधेरे में जलनेवाला दीया है, उसकी रोशनी भी सूर्य की ही रोशनी है। और आपके गाँव में आपके

घर के पास छोटा-सा जो झरना बहता है, उसे क्या पता होगा कि वह दूर बूंद के सागरों से जुड़ा है ! और अगर सागर सूख जाएं और रिक्त हो जाएं तो यह झरना भी तत्काल सूखकर समाप्त हो जाए ! झरने को देखकर आपको भी खयाल नही आता कि सागरो से उसका सम्बन्ध है।

आदमी भी ठीक ऐसी ही स्थिति मे है। वह भी एक छोटा सा चेतना का झरना है। और उसमे अगर चेतना प्रकट हो सकी है तो सिर्फ इसीलिए कि कहीं चेतना का महासागर भी निकट में है—जुड़ा हुआ, सयुक्त, चाहे ज्ञात हो, चाहे ज्ञात न हो।

ऋषि एक यात्रा पर निकल रहा है इस सूत्र के साथ। लेकिन यह सूत्र बहुत अद्भुत है और बहुत अजीब भी। 'ऐब्सर्ड' भी है। बहुत बेमानी भी है। क्योंकि जिसकी खोज पर जा रहा है, उसी से प्रार्थना कर रहा है। जिसका पता नही है अभी, उसी के चरणों में सिर रख रहा है। यह कैसे सम्भव हो पाएगा ? इसे समझ लें, क्योंकि जिसे भी साधना के जगत् मे प्रवेश करना है उसे इस असम्भव को सम्भव बनाना पड़ता है।

एक बात तय है कि बूंद को सागर का कोई भी पता नही है, लेकिन दूसरी बात भी इतनी ही तय है कि बूंद सागर होना चाहती है। जो हम होना चाहते हैं, उसके समक्ष ही हमे प्रणाम करना होगा—हमे, वे जो हम हैं। जो हम हैं, उसे उसके समक्ष प्रार्थना करनी होगी, जो हम हो सकते हैं। जैसे बीज उस सम्भावित फूल के सामने प्रार्थना करे, जो वह हो सकता है।

इस प्रार्थना से परमात्मा को कुछ लाभ हो जाता हो, ऐसा नही है। लेकिन इस प्रार्थना से हमारे पैरों में बड़ा बल आ जाता है। यह प्रार्थना परमात्मा के लिए नही है, अपने ही लिए है।

अगर बूंद सागर की ठीक प्रार्थना कर पाए तो उसके प्राणों में कहीं सागर से सम्पर्क होना शुरू हो जाता है। बूंद जब सागर को पुकारती है, तो किसी अज्ञात मार्ग से सागर होने की क्षमता और पात्रता पैदा होती है। जब बूंद सागर से कहती है कि मुझे सहायता करना कि मै तुझ तक पहुंच सकूं, तो आधी मंजिल पूरी हो जाती है। क्योंकि जो बूंद श्रद्धा, आस्था और निष्ठा से कह सकी है कि परमात्मा मुझे सहायता करना, तो यह श्रद्धा, यह निष्ठा, यह आस्था बूंद की जो सकीर्णता है उसे तोड़ देती है और जो विराट् है उससे जोड़ देती है।

प्रार्थना के क्षण में प्रार्थना करनेवाला वही नहीं रह जाता, जो प्रार्थना करने के पहले था। जैसे कोई द्वार खुल जाता है, जो बन्द था। जैसे कोई झरोखा खुल जाता है, जो ढंका था। एक नया आयाम, एक नई यात्रा और एक नए आकाश का दर्शन होना शुरू हो जाता है। यह भी नही है कि आप आकाश तक पहुंच जाते हैं, बल्कि अपने घर के भीतर ही खड़े होते हैं, सिर्फ एक द्वार खुल जाता है और घर में भी एक अनन्त आकाश दिखाई पड़ने लगता है। आप वही होते हैं, जहां थे। आप कुछ दूसरे नही हो गए होते हैं।

एक आदमी अपने ही मकान में अंधेरे मे खड़ा है और फिर अपने द्वार को खोल लेता है। वही आदमी है, वही मकान है, वही जगह है। कहीं कोई परिवर्तन नही हो गया है, लेकिन अब बहुत दूर तक आकाश और मार्ग दिखाई पड़ने लगता है। मार्ग अगर दूर तक दिखाई न पडे तो चलना बहुत मुश्किल है। मंजिल जहां हम खडे हैं, अगर वहीं से दिखाई पड़ना शुरू न हो जाए तो यात्रा असंभव है।

ऋषि ऐसी प्रार्थना से इस निर्वाण उपनिषद् को शुरू करता है, जिसमें निर्वाण की खोज की जाएगी—उस परम सत्य की, जहां व्यक्ति विलीन हो जाता है और सिर्फ विराट् शून्य ही रह जाता है। जहां ज्योति खो जाती है अनंत मे, जहां सीमाएं असीम मे गिर जाती हैं, जहां मैं खो जाता हूं और प्रभु ही रह जाता है।

यह निर्वाण शब्द बहुत अद्भुत है। बुद्ध ने तो परमात्मा शब्द ही छोड़ दिया था, आत्मा शब्द भी छोड दिया था। क्योंकि बुद्ध ने कहा कि सारे शब्द बहुत ओठो पर गुजर कर जूठे हो गए हैं। पर निर्वाण शब्द को वे भी न छोड पाए। बुद्ध ने तो सारी की सारी खोज निर्वाण के सत्य पर केन्द्रित कर दी। आपको खयाल भी न हो कि निर्वाण का अर्थ क्या होता है। निर्वाण का अर्थ होता है दीए का बुझ जाना। जैसे दीए को कोई फूंक कर बुझा दे, तो कहां चली जाती है ज्योति ?

इस जगत् में जो भी अस्तित्व में हैं, वह अस्तित्व के बाहर नही जा सकता है। वैज्ञानिक भी अब वैसा ही कहते हैं। जो "है" उसे मिटाया नही जा सकता और जो "नहीं है" उसे बनाया नही जा सकता। सिर्फ रूपातरण होता है, परिवर्तन होता है। न कुछ नष्ट होता है, न कुछ सृजन होता है। एक दीए को फूंक मार दी तो ज्योति बुझकर कहां चली जाती है ? मिट तो नहीं

सकती है, मिटने का कोई उपाय नही है। सिर्फ वही मिट सकता है जो था ही नही, लेकिन जो दिखाई पडता था। वह नही मिट सकता, जो था। जो "है" वह नही मिट सकता।

यह बहुत मजेदार बात है, सिर्फ वही मिट सकता है जो नही था। जो है वह नही मिट सकता। वह रहेगा ही, वह रहेगा ही किसी भी रूप मे, किसी भी आकार में। कहीं भी रहेगा ही। उसके मिटने की कोई संभावना नहीं। दीए की ज्योति बुझ जाती है, मिट नहीं जाती। दीए की ज्योति खो जाती है, समाप्त नहीं हो जाती। हमारी तरफ से जो खोना है, वह किसी दूसरी तरफ से बनना बन जाता है। ज्योति आई थी किसी विराट् से और विराट् मे लीन हो जाती है। असीम से आती है और फिर असीम मे ही चली जाती है। सागर से ही आती हैं वे बूंदे, जो पहुंचती हैं आपके घर पर और आपके खेत मे, बाग मे और बगीचे मे और फिर सागर मे लीन हो जाती हैं।

यह भी ध्यान रखे, एक शाश्वत सूत्र कि जो चीज जहां लीन होनी है, वह स्थान वही है जो उद्गम का है। उद्गम और अन्त सदा एक हैं। जहां से कुछ जन्म पाता है, वही समाप्त, वही लीन, वही विदा हो जाता है। आने का द्वार और जाने का द्वार इस जगत् मे एक ही है। जन्म और मृत्यु उसी द्वार के नाम हैं, वह द्वार एक ही है। ज्योति खो जाती है वही, जहां से आती है। बुद्ध कहते थे, ज्योति के इस खो जाने को ही मैं कहता हूं 'दीए का निर्वाण'। किसी दिन जब अहंकार भी इसी तरह खो जाता है, महा विराट् में, तब उसे मै व्यक्ति का निर्वाण कहता हूं।

इस उपनिषद् का नाम है निर्वाण उपनिषद्। यह भी थोडा सोचने-जैसा है कि उपनिषद् की वाणी तो बुद्ध से बहुत पुरानी है। बुद्ध ने जो कहा है वह वही है, जो उपनिषदो में छिपा है। जो गहरे उतरेगा, वह जानेगा कि बुद्ध ने उपनिषदों की जीवन्त व्याख्या की है। लेकिन कैसा आश्चर्य है कि उपनिषदों को सर्वाधिक अपने जीवन मे जीनेवाला आदमी ही हिन्दुस्तान में ब्राह्मणो को अपना शत्रु मालूम पडा। उपनिषद् की अमृतधारा को अपने जीवन से हजार-हजार रूपों में प्रकट करनेवाला गौतम बुद्ध, उपनिषद् के जो मालिक बने बैठे पण्डित थे, उन्हें अपना दुश्मन मालूम पड़ा। बुद्ध के विचार को पण्डितों ने भारत से हटाने की अथक चेष्टा की। बुद्ध वही कह रहे थे, जो उपनिषदों ने कहा है। फिर भी ऐसा होता है।

ऐसा इसलिए होता है कि जब उपनिषद् का ऋषि कुछ कहता है तो वह ऋषि कोई पण्डित नहीं है, पुरोहित नहीं है। वह कोई पुजारी नहीं है। उसने कुछ जाना है। ज्ञान की अग्नि को सभी नहीं झेल पाते। शास्त्र की बात को सभी सँभाल पाते हैं। और जब ज्ञान बुझ जाता है और राख रह जाती है, तो शास्त्र बन जाते हैं। पण्डितों के हाथ मे ज्ञान नहीं होता, शास्त्र होता है। निश्चित ही जो आज राख है, कभी वह अंगार थी। और उसके अंगार होने के कारण ही हम राख को संभाले चले जाते हैं। पर जो आज राख है, वह अंगार नही है, यह भी जान लेना ठीक है।

बुद्ध के समय तक उपनिषद् राख हो गए थे। असल में जब भी पण्डितों और पुरोहितों के हाथ मे—जो जानते नही, लेकिन जानने के भ्रम में होते हैं—ज्ञान पडता है तो राख हो जाता है। ज्ञान की हत्या करवानी हो तो पण्डितो के हाथ मे दे देने से ज्यादा सुगम और कोई उपाय नही। पण्डित ज्ञान की हत्या करने मे इतने कुशल हैं जिसका कोई हिसाब नही। राख के आप मालिक हो सकते हैं। आग के साथ खेलना खतरनाक है। राख को आप पूजा कर सकते हैं। आग के साथ जूझना खतरनाक है। राख को आप बदल सकते हैं, पर आग आपको बदल देगी, मिटा देगी।

उपनिषद् के ऋषि तो आग से खेल रहे थे। लेकिन बुद्ध के समय तक आते-आते राख रह गई और जब बुद्ध ने फिर आग की बात की तो स्वाभाविक था कि जो राख की रक्षा कर रहे थे और जो राख को भी आग कह रहे थे, उनको बुद्ध दुश्मन मालूम पडे हों। यह स्वाभाविक है। क्योंकि जब फिर आग जला दी जाए तो राख के मालिक बड़ी कठिनाई में पड़ जाते हैं। जीसस ने वही कहा, जो यहूदी ज्ञाताओ ने कहा था। लेकिन जीसस को यहूदी पण्डितो ने ही सूली पर लटका दिया।

यह भी जानकर आपको हैरानी होगी कि आज तक धर्म का विरोध करने वाले अधार्मिक लोग नहीं हैं। धर्म का विरोध तो सदा ही तथाकथित धार्मिक, 'सो-काल्ड रिलीजस' लोग करते हैं। धर्म का विरोध अधार्मिक नहीं करते, धर्म का विरोध तथाकथित धार्मिक लोग करते हैं। बुद्ध का विरोध भारत के नास्तिकों ने नहीं किया, बुद्ध का विरोध भारत के तथाकथित आस्तिकों ने किया। कब हम यह समझ पाएँगे, कहना कठिन है, कब हमें यह बात समझ में आएगी कि सत्य सदा एक है! नई-नई अभिव्यक्तियाँ उसकी होती हैं,

लेकिन सत्य का प्राण सदा एक है। इस निर्वाण उपनिषद् में, जिसका बुद्ध से कुछ लेना-देना नहीं, बुद्ध ने जो भी कहा है, उसका सब सार है।

मेरे एक मित्र अभी चीन होकर वापस लौटे हैं। इधर मैं लाओत्से के ऊपर कुछ चर्चा कर रहा था तो उन मित्र ने मुझसे आकर कहा कि आप लाओत्से पर चर्चा कर रहे हैं। मैं चीन गया था तो मैंने चीन के एक पंडित से पूछा कि लाओत्से के सम्बन्ध मे तुम्हारा क्या खयाल है, तो उसने कहा कि "वी वेअर करप्टेड बाई योर उपनिषद्", (तुम्हारे उपनिषदो ने हमारे लाओत्से को खराब किया।) यह बात बड़ी अर्थपूर्ण है। सच तो यह है कि उसने कहा कि 'हमे खराब किया", इस अर्थ मे कि हम सब अच्छे लोग हैं। इस दुनिया में जब भी कोई आदमी खराब हुआ है तो उपनिषदो का हाथ रहा है। खराब उसी अर्थ में, जिस अर्थ मे बुद्ध खराब होते हैं, महावीर खराब होते हैं, सुकरात खराब होते हैं, जीसस खराब होते हैं। इस जमीन पर जब भी कोई आदमी खराब हुआ है तो "ही वाज करप्टेड बाई उपनिषद्।" अगर आप समझते हैं कि लाओत्से अकेला ऐसा आदमी है तो आप गलती मे हैं। जब भी कोई आदमी जमीन पर खराब हुआ है, कोई पाँच हजार वर्षों के ज्ञात इतिहास मे, तो उपनिषद् ही उसका कारण थे।

असल में उपनिषदों में जो भी शाश्वत है, उसे इतनी गूढता से कह दिया है कि कई बार ऐसा लगता है कि क्या उपनिषदों से इंच भर भी यहाँ-वहाँ हट-कर कुछ और कहा जा सकता है। क्या उपनिषदों का किसी तरह परिष्कार हो सकता है ? कैन दे बी इम्प्रूव्ड ? शक होता है, होना बहुत मुश्किल मालूम होता है। संदिग्ध मालूम होता है। कोई उपाय नही मालूम होता। और यह एक बड़ा भारी कारण बना है भारत की परेशानी का। उपनिषदों ने सत्य को इतनी शुद्धतम भाषा मे कह दिया कि परिष्कार करना मुश्किल पड़ा। इसलिए उपनिषदो के बाद भारत में बौद्धिक विकास मुश्किल हो गया, क्योंकि विकास के लिए कुछ उपाय चाहिए। उपनिषदों मे ऐसी चरम बात कह दी गई कि उसके आगे कहने--जैसा कुछ नहीं रहा। सत्य की जो परम घोषणाएँ हैं, वे उपनिषदों मे हैं।

बहुत अद्भुत निर्वाण उपनिषद् है। इस पर हम यात्रा शुरू करते हैं और यह यात्रा दोहरी होगी। एक तरफ मैं आपको उपनिषद् समझाता चलूँगा और दूसरी तरफ आपको उपनिषद् कराता भी चलूंगा। क्योंकि समझाने से

कभी कुछ समझ में नहीं आता, करने से ही कुछ समझ में आता है। करेंगे तभी समझ पाएँगे। इस जीवन में जो भी महत्त्वपूर्ण है, उसका स्वाद चाहिए, अर्थ नही। उसकी व्याख्या नही, उसकी प्रतीति चाहिए। आग क्या है, इतने से काफी नही होगा, आग जलानी पड़ेगी। उस आग से गुजरना पड़ेगा। उस आग में जलना पड़ेगा और बुझना पड़ेगा। तब प्रतीति होगी कि निर्वाण क्या है। और यह कठिन नही है।

अहंकार को बनाना कठिन है, मिटाना कठिन नही है। क्योंकि अहंकार वस्तुतः है नही, सरलता से मिट सकता है। असल में जिन्दगी भर बड़ी मेहनत करके हमें उसे सँभालना पड़ता है। सब तरफ से टेक और सहारे लगाकर उसे बनाना पड़ता है। उसे गिराना तो जरा भी कठिन नहीं। इन सात दिनों मे अगर आपका अहंकार क्षण भर को भी गिर गया, तो आपको इसकी प्रतीति हो सकेगी कि निर्वाण क्या है।

हम समझेंगे सिर्फ इसीलिए कि कर सकें। मैं जो भी कहूँगा उसे आप अपनी जानकारी नही बना लेंगे, उसे आप अपनी प्रतीति बनाने की कोशिश करेंगे। जो मैं कहूँगा, उसे अनुभव में लाने की चेष्टा करेंगे। तभी इस अवसर का सदुपयोग होगा। अन्यथा पाँच हजार सालों मे उपनिषद् की बहुत टीकाएँ हुई, पर परिणाम तो कुछ भी हाथ नहीं आया। शब्द, और शब्द, और शब्द का ढेर लग जाता है। आखीर में बहुत शब्द आपके पास होते हैं, ज्ञान बिलकुल नही होता। जिस दिन ज्ञान होता है, उस दिन अचानक आप पाते हैं कि भीतर सब निःशब्द हो गया, मौन हो गया। यह प्रार्थना है ऋषि की।

ऋषि ने इसे कहा है, शांति पाठ। परमात्मा से प्रार्थना करनी हो तो कुछ और कहना चाहिए। परमात्मा के लिए शांति के पाठ का क्या अर्थ हो सकता है? परमात्मा शान्त है। लेकिन इसे कहा है, शांति पाठ। जानकर कहा है, बहुत सोच-समझकर कहा है। उलटे यह कहा है कि प्रार्थना तो करते हैं परमात्मा से, लेकिन करते हैं अपने ही लिए। हम अशान्त हैं और अशांत रहते हुए यात्रा नहीं हो सकती। अशान्त रहते हुए हम जहाँ भी जाएंगे वह परमात्मा से विपरीत होगा। अशान्ति का अर्थ है, परमात्मा की तरफ पीठ करके चलना।

असल में जितना अशान्त मन, परमात्मा से उतनी ही दूर। अशांति ही

डिस्टेंस है, दूरी हूँ। जितना आप अशांत हैं, उतना ही फासला है। अगर पूरे शांत हैं तो कोई भी फासला नही है, "देन देअर इज नो डिस्टेंस।" तब ऐसा भी कहना ठीक नही कि आप परमात्मा के पास है, क्योंकि पास होना भी एक फासला है - नही, तब आप परमात्मा मे ही हैं। लेकिन शायद यह कहना भी ठीक नही, क्योंकि परमात्मा मे होना भी एक फासला है। तब कहना यही ठीक है कि आप परमात्मा है। या तो फिर आप हैं, या परमात्मा हैं। दो नही हैं, क्योंकि जहाँ तक दो है, वहाँ तक कोई न कोई तल पर फासला कायम रहता है। ऋषि शुरू करता है शांति पाठ से। 'शांति पाठ' इस वक्त सोचने-जैसे है, सोचने-जैसे इसीलिए ताकि किए जा सकें।

ऋषि कहता है ओम्। ओम् प्रतीक हूँ उसका, जिसे कहा नहीं जा सकता। ओम् शब्द मे कोई भी अर्थ नही। यह भी मीनिंगलेस है। इसमे कोई भी अर्थ नही है। और अगर कोई आपको अर्थ बताता हो, तो उससे कहना कि अनर्थ मत करे। ओम् मे कोई भी अर्थ नही। यह मात्र ध्वनि है। ध्यान रहे, जहाँ भी अर्थ होता है, वहाँ सीमा आ जाती है। अर्थ का अर्थ ही होता है सीमा। जहाँ भी अर्थ होता है, तो उससे विपरीत भी हो सकता है। सभी शब्दो के विपरीत शब्द हो सकते हैं। ओम् के विपरीत शब्द बताइए? जीवन है तो मृत्यु है, अँधेरा है तो प्रकाश है, अद्वैत है तो द्वैत है, मोक्ष है तो संसार है। लेकिन ओम् के विपरीत शब्द कभी सुना? अगर अर्थ हो तो विपरीत शब्द निर्मित हो जाएगा। लेकिन ओम् मे कोई अर्थ ही नही। यही उसकी महत्ता है। अजीब लगेगा, क्योंकि हमारा मन होता है कि खूब-खूब अर्थ बताया जाए। ओम् मे जरा भी अर्थ नही है। 'जस्ट ए साउण्ड', सिर्फ ध्वनि है। लेकिन बडी अर्थपूर्ण है। अर्थपूर्ण हूँ किसी दूसरे ढंग से।

ओम् प्रतीक हूँ उसका, जो नही कहा जा सकता। हम सब-कुछ कह सकते है, सिर्फ परमात्मा को नही कह सकते। और जब भी हम कहते हैं, तभी कठिनाई शुरू हो जाती हूँ। अगर आस्तिको ने ईश्वर न कहा होता तो इस जमीन पर नास्तिक पैदा न होते। आपको पता है कि नास्तिक, आस्तिक के पहले कभी पैदा नही हो सकता। अगर आस्तिक न हो तो नास्तिक पैदा नही हो सकता। क्योंकि नास्तिक तो सिर्फ एक रिऐक्शन है, एक प्रतिक्रिया हूँ। सिर्फ आस्तिक का विरोध हूँ। तो अगर दुनिया से नास्तिक मिटाने हो तो आस्तिक को कुछ बदलाहट स्वयं मे करनी पड़ेगी,

नहीं तो नास्तिक नहीं मिट सकते। असल में सच्चा आस्तिक, आस्तिक होने का दावा भी नही करता, क्योंकि दावे से नास्तिक पैदा होते हैं।

बुद्ध ऐसे ही आस्तिक हैं जो आस्तिक होने का दावा नही करते। महावीर ऐसे ही आस्तिक हैं जो आस्तिक होने का दावा नहीं करते। जो परम आस्तिक हैं वह इतना भी नही कहेगा कि ईश्वर है, क्योंकि इतना कहने से किसी को भी हम मौका देते हैं कि वह कह सके कि ईश्वर नही है। फिर जिम्मेवारी किसकी है? ज्योही हम किसी चीज को कहते हैं, 'है', तो 'नही' को निमंत्रण देते है। परम आस्तिक से तो अगर कोई कहेगा, ईश्वर नही हैं तो उसमे भी वह हाँ भर देगा। उसमे भी विवाद खडा नहीं करेगा।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन को जीवन के आखिरी दिनों मे वृद्ध और अनुभवी जानकर गाँव के लोगो ने गाँव का न्यायाधीश बना दिया, ताकि गाँव का भला हो। पहले ही दिन जिसने अपराध किया था, नसरुद्दीन ने उससे सवाल पूछा। जो भी उसने कहा, नसरुद्दीन ने उसे शांति से सुना। फिर बहुत आनंदित होकर उसने कहा, "राइट, परफेक्टली राइट (ठीक, बिलकुल ठीक)। अब हम इसका निरपेक्ष फैसला करें।" वकील थोड़े चिन्तित हुए। अभी दूसरा पक्ष तो सुना ही नही गया, लेकिन न्यायाधीश को बीच मे टोकना उचित नही था। नसरुद्दीन ने दूसरे पक्ष को बोलने के लिए कहा। शांति से सुना। जब पूरी बात हो गई तो कहा, "ठीक, बिलकुल ठीक (राइट परफेक्टली राइट)।" तब तो वकील और मुश्किल में पडे। मुंशी ने पास सरक कर नसरुद्दीन के कान मे कहा, "शायद आपको पता नही। यह आप क्या कर रहे हैं? अगर दोनो ही बिलकुल ठीक हैं तो उसमे ठीक कौन है।" नसरुद्दीन ने मुंशी से कहा, "राइट, परफेक्टली राइट (तुम भी ठीक, बिलकुल ठीक)।" नसरुद्दीन उठ गया। उसने कहा, "अदालत अपने काम की नही, क्योंकि हम कोई ऐसी बात ही न कहेंगे जिसका कोई विरोध कर सके। अदालत अपने काम की नही।"

आस्तिक इतना भी नहीं कहेगा कि नास्तिक गलत है। आस्तिक यह तो कहेगा ही नही कि ईश्वर है और मैं सही हूँ, क्योंकि यह गलत कहे जाने के लिए निमंत्रण है। और जितने जोर से लोग ईश्वर को सिद्ध करने की कोशिश करते हैं उतने ही जोर से ईश्वर को असिद्ध करने की कोशिश की जाती है।

ओम् अर्थहीन है। यहाँ कुछ कहा नहीं गया है। ओम् का अर्थ ईश्वर भी

नहीं है। इस ओम् में कोई अर्थ ही नहीं है। यह उसके लिए प्रतीक शब्द है जिसको कहा भी नहीं जा सकता। क्योंकि जिसको भी हम कहें, उसे टुकड़ों में बाँटना पड़ता है। लेकिन कुछ है अस्तित्व, जो बँटता नही। वह अनबँटा है। वह जो अनडिवाइडेड अस्तित्व है, वह जो अस्तित्व है अनबँटा, एक वही है। उसके लिए ही कहा है ओम्। इससे ही शुरू होता है ऋषि की प्रार्थना। ईश्वर से भी नही की जा रही है यह प्रार्थना। यह तो अस्तित्व से की जा रही है। ध्यान रहे, जब आप ईश्वर से प्रार्थना करते हैं तब आप बड़े शक करते हैं।

एक सज्जन ने अभी-अभी मुझे पत्र लिखा है। वह पत्र बहुत मजेदार है। उन्होंने लिखा है कि आपमें जो-जो ईश्वरीय अंश है, उसको मैं नमस्कार करता हूँ। उन्होंने सोचा कि कही पूरे आदमी को नमस्कार करें और उसमे कही गैर-ईश्वरीय अश हो तो मेरा नमस्कार बेकार न चला जाए! लेकिन ऋषि जब कहता है ओम्, तो सामने पड़ा हुआ पत्थर भी ओम् का हिस्सा है। आकाश मे फैले हुए तारे भी ओम् के हैं। ओम् शब्द सर्वग्राही है, सभी को अपने में लिये हुए है। ओम् की तरफ जो निवेदन है, इसमे कोई चुनाव नही है कि किसे। समस्त अस्तित्व को, जो भी है, सबको।

शांति पाठ भी अगर चुनाव करता हो तो अशाति पाठ बन जाता है। लेकिन हम इतना ही चुनाव नही करते कि जितने ईश्वर-अश हों, उसको। हम तो और भी चुनाव करते हैं कि कौन-सा ईश्वर? हिन्दुओं का या मुसलमानों का? फिर भी मैंने सोचा कि जिस आदमी ने पत्र लिखा है, काफी व्यापक हृदयवाला होगा। उन्होंने यह तो नही लिखा कि आपके भीतर जितने हिन्दू ईश्वरीय अंश है या जितना मुसलमानी ईश्वरीय अंश है उतने को नमस्कार! फिर भी उनका नमस्कार काफी व्यापक है! हम तो उसमें भो चुनाव करते हैं। धीरे-धीरे हमारे हाथ में जो बचता है वह हम ही हैं, और कुछ नहीं है।

मैंने सुना है कि एक आदमी का कुत्ता मर गया। उसे कुत्ते से बहुत प्रेम था। आदमी आदमी के बीच तो प्रेम बहुत मुश्किल हो गया है, इसलिए हमे कई और रास्ते खोजने पड़ते हैं। वह बड़ा आदमी था। उसने सोचा कि इस कुत्ते को ठीक मनुष्य-जैसा सम्मान मिलना चाहिए। हालांकि उसे खयाल ही न रहा कि आदमो तक को कुत्ते जितना सम्मान नहीं मिलता! पर खयाल

नहीं रहता, प्रेमी अंधे होते हैं। वह गया। गाँव में एक बड़ा कैथोलिक चर्च था। जाकर उसने पुरोहित को कहा कि मेरा कुत्ता मर गया है और मैं ठीक आदमी-जैसा सम्मान उसे देना चाहता हूँ। उस पुरोहित ने कहा, "तुम पागल हो गए हो। कुत्ता! और आदमी-जैसा सम्मान! मैं कुत्तों का पुरोहित नहीं हूँ। भाग जाओ तुम यहाँ से। लेकिन हाँ, मैं तुम्हें एक सलाह देता हूँ कि यहाँ से नीचे हटकर जो प्रोटेस्टेन्ट चर्च है, तुम वहाँ चले जाओ। शायद वह पुरोहित राजी हो जाए, क्योंकि आदमी तो वहाँ कम ही जाते हैं। और फिर प्रोटेस्टेन्ट चर्च है, हो सकता है कि वहाँ का पुरोहित राजी हो जाए।"

मजबूरी में था आदमी, बेचारा वहाँ गया। वहाँ के पुरोहित ने कहा, "तुमने समझा क्या है! तुम हमारा अपमान करने आए हो? कुत्ते को सम्मान? नही, यह नहीं हो सकता। लेकिन पास में ही एक मस्जिद है, तुम वहाँ चले जाओ, और उस मस्जिद का जो मौलवी है, मुल्ला नसरुद्दीन, वह आदमी कुछ तिरछा है, उसके बाबत प्रेडिक्सन नही किया जा सकता। वह शायद राजी हो जाए।" वह गया। उसने नसरुद्दीन को कहा। नसरुद्दीन ने सारी बातें सुनी। बहुत नाराज होकर उसने कहा, "तुमने समझा क्या है? हम आदमी को भी चुनाव करके सम्मान देते हैं, तुम कुत्ते को लाए हो? बाहर निकल जाओ।" उस आदमी ने सोचा कि शायद वह आगे किसी मंदिर मे जाने की सलाह देगा। लेकिन उसने कोई सलाह न दी, तो उसने कहा, "ठीक है, जाता हूँ। कोई और सलाह तो नहीं है?" उसने कहा, "नही, मैं कोई सलाह नही देता।" उस आदमी ने कहा कि जाते वक्त इतना मैं बता दूँ कि मैंने सोचा था कि पचास हजार रुपए उस पुरोहित के मन्दिर को दान कर दूँगा, जो मेरे कुत्ते को आदमी-जैसा सम्मान देकर दफना दे। नसरुद्दीन ने कहा, "ठहरो एक मिनट, क्या कुत्ता मुसलमान था? तो फिर हम विचार करेंगे।" उस आदमी ने कहा कि नहीं, कुत्ता मुसलमान नही था। वह जाने लगा। नसरुद्दीन ने कहा, "ठहरो, एक क्षण और ठहरो। क्या कुत्ता धार्मिक था?" उस आदमी ने कहा, "पूछने का कोई मौका नही आया।" तो नसरुद्दीन ने कहा, "आखिरी बार, एक मिनट और ठहरो। क्या कुत्ता, कुत्ता था? तो फिर हम तैयार हैं"

मुल्ला की बात ठीक ही है। अविभाजित अस्तित्व के लिए हमारे मन में कोई बात ही नहीं है। विभाजित, और विभाजित। ओम् का

अविभाजित अस्तित्व है। तो ऋषि कहता है, ओम्, मेरीवाणी मन में स्थिर हो। मेरा मन मेरी वाणी में स्थिर हो जाए। हमारा भोग, हमारी अशांति, हमारे शब्द, हमारे विचार, हमारे जीवन का तनाव निन्यानवे प्रतिशत हमारी वाणी से बोझिल रहता है।

अमरीका का एक प्रेसिडेन्ट कूलिज थे। वे इतना कम बोलते थे कि कहा जाता है कि दुनिया मे किसी राजनीतिज्ञ को इतनी कम गालियाँ नही मिली, जितनी कूलिज को मिली, क्योंकि उनको गाली देने का कोई उपाय नही था। उनका खडन भी नही हो सकता था। जब वे पहली दफा प्रेसिडेंट हुए तो पत्रकारों के सम्मेलन में, एक पत्रकार ने पूछा कि क्या आप अपनी भविष्य की योजना के सम्बन्ध में बताए'गे ? उन्होने कहा, 'नही।' पूछा गया कि इस मसले के सम्बन्ध मे आपका क्या उत्तर है। उन्होने कहा, 'मेरा कोई उत्तर नहीं है।' पूछा गया कि आप किस राजनीतिक विचार से सर्वाधिक प्रभावित हैं ? उन्होने कहा, "उत्तर नही दूंगा"। और बातें पूछी गईं, नही के सिवा उन्होने कोई उत्तर न दिया। जब सब जाने लगे, तो उन्होंने कहा, "ठहरना, (डॉन्ट टेक दिस ऑन रिकार्ड) यह जो कुछ मैंने कहा, इसको रिकार्ड पर मत लाओ। इसमें कुछ है ही नही। जो भी मैंने कहा है उसे अखबार मे मत निकालना। जो मैंने कहा, वह सब गैर-अधिकारिक ढग से कहा है। मित्रों की तरह बातचीत की है, कुछ कहा नहीं है।" उसने कुछ भी नही कहा था। जाते वक्त किसी ने कूलिज से पूछा कि तुम इतना कम क्यों बोलते हो, तो उसने कहा कि बोला जब, तभी मैं फँसा और मैंने जाना कि नही बोलने से कोई मुसीबत कभी नही आती।

एक बहुत बड़े जलसे मे कूलिज निमंत्रित थे। नगर की राजधानी की सर्वाधिक सुन्दरी और धनी महिला उनके बगल में थी। उस महिला ने कहा, प्रेसिडेंट कूलिज, मैंने एक शर्त लगाई है कि आप घटे भर यहाँ रहेंगे तो मैं कम-से-कम तीन शब्द आपसे बुलवा कर रहूँगी। कूलिज ने कहा, "यू लूज" तुम हार गई। फिर घटे भर बोले ही नहीं। वे सिर्फ हाथ हिलाते रहे।

ऋषि कहता है, मेरी वाणी मेरे मन में स्थिर हो जाए। 'कभी आपने सोचा है कि आप ऐसी बहुत-सी बातें कहते हैं, जो आप कहना ही नहीं चाहते। यह बड़ी अजीब बात है। जो बात आपने कभी नहीं कहना चाही थी

वह भी आप कहते हैं, आप खुद ही कहते हैं। और फिर भी हम यही कहते सुने जाते हैं कि मैं कहना नहीं चाहता था, मेरे बावजूद ऐसा हो गया। यह वाणी आपकी है! आप बोलना चाहते हैं कुछ, और वाणी से कुछ और निकलता है। सौ में निन्यानबे मौकों पर दूसरे लोग आपसे बुलवा लेते हैं, आप बोलते नहीं। पत्नी भली-भाँति जानती है कि वह आज पति से कौन-सा प्रश्न पूछेगी तो कौन-सा उत्तर मिलेगा। पति भी भली-भाँति जानता है कि वह क्या कहेगा और पत्नी क्या बोलेगी। सब यंत्रवत् चलता है।

मन का अर्थ है, हमारे मनन की, चिन्तन की क्षमता। लेकिन मन का हमारी वाणी से कोई सम्बन्ध नहीं है, वाणी हमारी यांत्रिक हो गई है। हम बोले चले जाते हैं, जैसे यन्त्र बोल रहा है। एक शब्द भी शायद ही आपने कहा हो जो मन से एक हो। कई बार तो ऐसा होता है कि मन में ठीक विपरीत चलता होता है और वाणी मे ठीक विपरीत होता है। किसी से आप कह रहे होते हैं कि मुझे बहुत प्रेम है आपसे और भीतर उसी आदमी की जेब काटने का विचार कर रहे हैं या गर्दन काटने का। 'जेब काटना' मैंने कहा ताकि बहुत अतिशयोक्ति न हो जाए। मन मे घृणा चल रही होती है, क्रोध चल रहा होता है और आप प्रेम की बात भी चलाते रहते हैं। आप मित्रता की बातें भी चलाते रहते हैं और भीतर शत्रुता चलती रहती है। ऐसा आदमी अपने को कभी न जान पाएगा। ऐसा आदमी दूसरों को धोखा नहीं दे रहा है, अन्ततः अपने को धोखा दे रहा है।

मुल्ला नसरुद्दीन एक रास्ते से गुजर रहा था। बहुत सर्द थी रात, बर्फ पडती थी। कपड़े कम थे, वह गिर पड़ा सर्दी के कारण। उठ न सका, बर्फ में ठंडा होने लगा। तो उसने सोचा, लगता है कि मैं मर जाऊँगा। एक बार उसने अपनी पत्नी से पूछा था कि मरते वक्त क्या होता है, तो पत्नी ने कहा था कि सब हाथ-पैर ठंडे हो जाते हैं। मुल्ला ने देखा हाथ-पैर ठंडे हो रहे हैं, तो उसने सोचा कि मर रहे हैं। चार आदमी पीछे से आए, तब तक वह सोच चुका था कि मैं मर चुका हूँ क्योंकि हाथ-पैर बिलकुल ठंडे हो चुके थे। उन चार आदमियों ने उसे कन्धे पर उठाया, सोचा कि पास के कहीं मरघट में पहुँचा दें। लेकिन वे अजनबी थे, उन्हें गाँव का रास्ता मालूम न था, तो चौराहे पर आकर खड़े हो गए। रात अँधेरी होने लगी, बर्फ ज्यादा पड़ने लगी। सोचने लगे, चौराहे पर से किस तरफ चलें। जहाँ गाँव हो

इसको वहीं पहुँचा दें ताकि यह दफना दिया जाए। फिर बड़ी देर हो गई।

मुल्ला मन में सोचता रहा। उसे रास्ता मालूम था। पर उसने सोचा, मरे हुए आदमियों का बोलना पता नही नियमयुक्त है या नहीं, क्योंकि पत्नी से पूछा नही था कि मरा हुआ आदमी बोलता है कि नहीं बोलता है। बहुत देर हो गई। उसने सोचा, अब नियमयुक्त हो या न हो, कहीं ऐसा न हो कि ये भी ठंडे होकर मर जाएँ, तो उसने कहा, "भाइयो, अगर आप नाराज न हो और एक मरे हुए आदमी की बात सुनने में कोई नियम का उल्लंघन न समझें तो मैं आपको रास्ता बता सकता हूँ कि जब मैं जिन्दा था तो यह बाईं तरफ का रास्ता मेरे गाँव को जाता था।" उन आदमियो ने कहा, "तू कैसा आदमी है। तू पूरी तरह जिन्दा है, बोल रहा है, तो अभी आँख बन्द कर क्यों पड़ा था ?" उसने कहा, "यहाँ तो मुझे भी मालूम हो रहा है कि व्याख्या तो यही की थी मेरी पत्नी ने कि हाथ-पैर ठंडे हो जाते हैं, जब आदमी मर जाता है। हाथ-पैर जरूर ठंडे हो गए थे, लेकिन मुझे पता भी चल रहा है कि किसी न किसी तरह मुझे होना चाहिए।" तो उन्होंने कहा, "जब तुम्हें यह पता चल रहा था तो तूने आखिर क्यों न कहा कि मैं जिन्दा हूँ और उठ कर खड़ा हो जाता।" मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा, "उसका कारण है, (आई एम सच ए लायर) मैं ऐसा झूठ बोलनेवाला हूँ कि अन्त मे खुद ही विश्वास नही कर सकता अपनी बात पर। अगर मैं अपने से कहूँ कि जिन्दा हूँ तो मुझे दो गवाह चाहिए। मैं ऐसा झूठ बोलने (आई एम सच ए लायर) वाला आदमी हूँ कि मुझे कभी विश्वास नही होता कि जो मैं बोल रहा हूँ वह सच है या झूठ।"

जो हम चारों तरफ बोलते रहते हैं, वह धीरे-धीरे हमारा व्यक्तित्व बन जाता है। आपको भी बिना गवाह के विश्वास नहीं हो सकता कि जो बोल रहे हैं वह सही है या झूठ। ऋषि कहता है, मेरी वाणी मेरे मन में थिर हो जाए, मेरी वाणी मेरे मन के अनुकूल हो जाए, मेरे मन से अन्यथा मेरी वाणी में कुछ न बचे। जो मेरे मन में हो, वही मेरी वाणी में हो। मेरी वाणी मेरी अभिव्यक्ति बन जाए। मैं जैसा हूँ, भला और बुरा। मैं जो भी हूँ, वही मेरी वाणी में प्रकट हो। मेरी तस्वीर मेरी ही तस्वीर हो, किसी और की नहीं। मेरा चेहरा मेरा ही चेहरा हो, किसी और का नही। मैं प्रामाणिक हो जाऊँ।

मेरे शब्द मेरे मन के प्रतीक बन जाएँ। यह बहुत कठिन बात है।

अपने को छिपाना हमारे जीवन की कोशिश है, प्रकट करना नहीं। और जब हम बोलते हैं तो जरूरी नही कि कुछ बताने को बोलते हों। बहुत बार तो हम कुछ छिपाने को बोलते हैं, क्योंकि चुप रहने मे कई बातें प्रकट हो जाती हैं। जैसे आप किसी के पास बैठे हैं और आपको उस पर क्रोध आ रहा है तो अगर आप चुप बैठे रहें तो क्रोध प्रकट हो जाएगा। अगर आप पूछने लगे, मौसम कैसा है तो वह आदमी आपकी बातचीत में लग जाएगा और आप भीतर सरक जाएँगे। अगर आप चुपचाप बैठें हे तो आपकी असली शकल ज्यादा देर छिपी नहीं रह सकती। अगर आप बातचीत कर रहे हैं तो आप धोखा दे सकते हैं। बातचीत एक बड़ा पर्दा बन जाती है। और जब हम बातचीत मे कुशल हो जाते हैं, जब हम दूसरे को धोखा देने में कुशल हो जाते हैं तो अन्ततः हम अपने को धोखा देने में भी कुशल हो जाते हैं।

ऋषि कहता है, मेरी वाणी मेरे मन मे ठहर जाए। मैं जो हूँ, वही मेरी वाणी मे हो, *अन्यथा नहीं। कठिन होगी यह साधना*, इसीलिए तो प्रार्थना करता है; क्योंकि वह भी जानता है, यह साधना कठिन है। परमात्मा साथ दे तो शायद हो जाए। अस्तित्व साथ दे तो शायद हो जाए। समस्त शक्तियाँ अगर साथ दें तो शायद हो जाए। अन्ततः कठिन है। पहली बात कहता है, मेरी वाणी मेरे मन में ठहर जाए; दूसरी बात कहता है, मेरा मन मेरी वाणी में ठहर जा ।

यह और भी कठिन है। मन का वाणी में ठहरने का अर्थ यह है कि जब मैं बोलूं, तभी मेरे भीतर मन हो। जब मैं न बोलूं तो मन भी न रह जाए। ठीक भी यही है। जब आप नहीं चलते हैं तब भी आपके पास पैर होते हैं। आप कहेंगे, लेकिन उनको पैर कहना सिर्फ कामचलाऊ है। पैर तो वही है जो चलता है। आँख तो वही है जो देखती है, कान तो वही है जो सुनता है। हम कहते हैं अन्धी आँख, तो हम बड़ा गलत शब्द कहते हैं, क्योंकि अन्धी आँख का कोई मतलब ही नहीं होता। अन्धे का मतलब होता है, आँख नहीं। आँख का मतलब होता है आँख, अन्धे का मतलब होता है, आँख नहीं। लेकिन जब आप आँख बन्द किए होते हैं और आँख का उपयोग नही कर रहे होते हैं तो आप बिलकुल अन्धे होते हैं। आँख का जब

उपयोग होता है तभी आँख फंक्शनल है। सभी नाम फंक्शनल हैं, उनकी क्रियाओं से जुड़े हुए हैं।

एक पंखा रखा हुआ है, तब भी उसे पंखा कहते हैं। कहना नहीं चाहिए। पंखा उसे तभी कहना चाहिए जब वह हवा करता हो। नहीं तो पंखा नहीं कहना चाहिए। हम चाहें तो उससे हवा कर सकते हैं। बस इतना ही। लेकिन अगर आप पुट्ठी की दफ्ती उठाकर हवा करने लगें तो दफ्ती पंखा हो जाती है। अगर आप एक किताब से हवा करने लगें तो किताब पंखा हो जाती है। यदि किताब फेंककर आपके सिर में मार दूं तो किताब पत्थर हो जाती है। सब चीजों का नाम फंक्शनल है, लेकिन अगर हम वास्तविक नाम चलाएं तो बहुत मुश्किल हो जाए। इसलिए फिक्स्ड — स्थिर — नाम रख लेते हैं।

जब वाणी के लिए जरूरत हो बोलने की, तभी मन को होना चाहिए। बाकी समय नहीं होना चाहिए। हम तो कुर्सी पर भी बैठे रहते हैं तो टाँगें हिलाते रहते हैं। कोई पूछे कि क्या कर रहे हैं आप, तो पैर रुक जाते हैं। क्या करते थे आप, बैठे-बैठे चलने की कोशिश कर रहे थे या टाँगे आपकी पागल हो गई हैं? ठीक ऐसे ही हम बोलते रहते हैं। ठीक ऐसे ही, बाहर कोई वाणी की जरूरत नहीं रहती है तो वाणी भीतर चलती रहती है। हम बाहर नहीं बोलते तो भीतर बोलते हैं। दूसरे से नहीं बोलते, तो अपने से ही बोलते रहते हैं।

ऋषि कहता है, 'मेरा मन भी वाणी मे थिर हो जाए।" यह पहली बात से ज्यादा कठिन बात है। इसका अर्थ है, जब मैं बोलूं तभी मन हो, जब मैं न बोलूं तो मन भी न हो जाए, मन भी न रहे। जैसे, जब बैठें तो पैर न चले, जब सोएं तब शरीर खड़ा न हो, ऐसे ही जब चुप हो जाएं तो मन भी शान्त और शून्य हो जाए। पहले से शुरू करना पड़ेगा। जिसने पहला नहीं किया, वह दूसरा न कर पाएगा। पहले तो वाणी को मन मे ठहराना पड़ेगा। उतना ही रह जाने दें वाणी को जितना मन के, स्वभाव के, अनुकूल है, बाकी हट जाने दें। बाकी सब झूठ गिर जाने दें।

तब बहुत कम बचेगी वाणी। अगर आप मन मे वाणी को थिर करें तो नब्बे प्रतिशत वाणी विलीन हो जाएगी, विदा हो जाएगी। नब्बे प्रतिशत तो व्यर्थ है। और इस व्यर्थ से कितना उपद्रव पैदा होता है, जीवन कैसा उलझता

चला आता है, इसका हिसाब लगाना कठिन है। बस प्रतिशत वाणी जब बचेगी तब टेलीग्राफिक बन जाएगी। आदमी चिट्ठी लिखता चला जाता है। वहां आदमी टेलीग्राम करने जाता है तो दस शब्दों में लिख देता है, वह कम से कम में लिखता है। टेलीग्राम में उतना कह देता है जितना पूरे पत्र में नहीं कह पाता है। इसलिए टेलीग्राम का जो प्रभाव होता है, वह पत्र का नहीं होता। असल में लम्बा पत्र वही लिखता हूँ जिसे पत्र लिखना नहीं आता। असल में लम्बी बात वही कहता है जिसे कहना नहीं आता।

लिंकन से कोई पूछ रहा था कि जब आप घंटा भर व्याख्यान देते हैं तो आपको कितना सोचना पड़ता है। लिंकन ने कहा, बिलकुल नही। जब घंटे भर ही बोलना है तो सोचने की जरूरत ही क्या है। उसने पूछा, जब आपको दस मिनट तक बोलना पड़ता है तब ? तो लिंकन ने कहा, काफी मेहनत उठानी पड़ती है और जब दो ही मिनट बोलना होता है तब तो मैं रात भर सो नही पाता। क्योंकि कचरे को हटाना पड़ता है, हीरे को छांटना पडता है।

जब वाणी मन मे ठहरती है तब टेलीग्राफिक हो जाती हूं, तब बिलकुल संक्षिप्त हो जाती है। ये उपनिषद् ऐसे ही लोगों ने लिखे हैं। इसलिए बहुत छोटे मे पूरे हो जाते हैं। सब संक्षिप्त हो जाता है। सारभूत रह जाता है—निचोड। जो भी अनावश्यक है, वह हट जाता है। पहले यह करना जरूरी है, अगर दूसरी बात करनी हो। पहले व्यर्थ वाणी काटनी पड़ेगी। जब सार्थक वाणी रह जाएगी तो व्यर्थ मन के रहने की कोई जरूरत नहीं। जब जरूरत होगी, तब आप बोल लेंगे।

आप इतना सोचते क्यों हैं ? सोचते इसलिए हैं कि आपको भरोसा नही है कि आपकी वाणी मे और आपके बीच में कोई मेल है। इसलिए पहले से तैयारी करते हैं कि क्या बोलूं, क्या न बोलूं। सब सोचते हैं। छोटी-छोटी बात आदमी सोचकर करता है। वह दफ्तर मे जा रहा है और उसे अपने अधिकारी से छुट्टी लेनी है तो भी वह दस दफे रिहर्सल कर लेता है मन में कि क्या कहूँगा। फिर अधिकारी क्या कहेगा, फिर मैं क्या जवाब दूंगा। वह सब सोचकर जाता है। अपने पर इतना भी भरोसा नहीं है कि अधिकारी क्या कहेगा तो उसका मैं क्या जवाब दे सकूंगा। आप वहां जवाब न दे सकेंगे, और वहां जवाब न दे सकनेवाले आप ही तो रिहर्सल कर रहे हैं। बड़े मजे की बात यह है। आप ही रिहर्सल कर रहे हैं।

सुना है मैंने कि एक नाटक का रिहर्सल चल रहा है। वह जो नाटक का आयोजन करनेवाला है, वह बड़ा परेशान है। रिहर्सल में कभी अभिनेता मौजूद नहीं रहता, तो कभी अभिनेत्री नहीं आती, कभी संगीतज्ञ नहीं आता, कभी यह नहीं आता, कभी वह नहीं आता। वह रिहर्सल व्यक्ति की कमी से न हो पाया। सिर्फ एक व्यक्ति परदा उठाने वाला है। वह नियमित आया, बाकी कोई भी नियमित नही आया। आखिरी ग्रैंड रिहर्सल था। आयोजक ने कहा, आज मुझसे कहे बिना नहीं रहा जाता कि परदा उठानेवाले को मैं धन्यवाद दूं क्योंकि आप सब में से कोई भी ऐसा नही है जो चूका न हो। सिर्फ यह एक आदमी है जो नियमित आया है। उस आदमी ने कहा, धन्यवाद देने के पहले क्षमा करें। मुझे मजबूरी थी, क्योंकि आज जब नाटक होगा तो मैं न आ पाऊँगा। इसलिए मैंने सोचा कि कम से कम जितना मै कर सकता हूँ, उतना तो करूँ। नाटक आज होनेवाला है। मैंने सोचा कि आज तो मैं आ ही नही पाऊँगा, यह तो पक्का ही है, तो कम से कम रिहर्सल मे मैं मौजूद रह ही जाऊँ।

वह जो रिहर्सल आप कर रहे हैं, जिस आदमी पर भरोसा करके, ध्यान रखना, ठीक नाटक के वक्त वह गडबड़ हो जाएगा। वे वहाँ न पाए जाएँगे। क्योंकि अगर वह वहाँ पाए जा सकते तो रिहर्सल की कोई जरूरत न थी। जब मुझे ही कुछ कहना है तो तैयारी का क्या सवाल है। जब मैं ही तैयारी करनेवाला, मैं ही कहनेवाला तो ठीक है, मैं ही कह लूंगा। लेकिन तैयारी इसलिए कर रहा हूँ कि भरोसा नहीं है।

मन और वाणी में कोई संयोग नही है। पता नही कि सोचूं कुछ, कहूँ कुछ, निकल जाए कुछ। कुछ भी पक्का पता नही है। इसलिए ठीक सब तैयार कर लेना है और वाणी पर व्यवस्था बिठा लेनी है। क्योंकि कही शुद्ध मन, सही मन, वाणी के बीच में प्रकट हो जाए, तो सब अस्त-व्यस्त हो जाए।

ऋषि कहता है, वाणी छँट जाए, उतनी ही रह जाए जितनी मेरे मन के साथ ताल-मेल है। सच-सच, अथेंटिक, प्रामाणिक। और फिर प्रभु, मेरा मन ही मेरी वाणी मे थिर हो जाए। मैं तभी मन का उपयोग करूँ, जब वाणी की जरूरत हो। यह तूलिका तभी उठाऊँ, जब चित्र बनाना हो और मैं वीणा का तार तभी छेड़ूं जब गीत गाना हो। मैं मन का काम तभी करूँ जब कुछ प्रकट करना हो। मन अभिव्यक्ति का माध्यम है (जस्ट ए मीडियम ऑफ

एक्सप्रेशन)। तो जब आप बोल नहीं रहे हैं, प्रकट नहीं कर रहे हैं, तब मन की कोई भी जरूरत नही है। लेकिन हमारी आदत है। बैठे हैं, सोए हैं, मन चल रहा है। हमारे भीतर पागल मन है।

महात्मा गांधी को जापान से किसी ने तीन बन्दर की मूर्तियाँ भेजी थीं। गांधी जी उनका अर्थ जिन्दगी भर नहीं समझ पाए। जो समझे, वह गलत था। जिन्होंने भेजी थी उनसे भी उन्होने अर्थ पुछवाया। उनको भी पता नहीं था। आपने उन तीन बन्दरो की मूर्तियां चित्र मे देखी होगी। एक बन्दर आंख पर हाथ लगाए बैठा है। एक कान पर हाथ लगाए बैठा है, एक मुंह पर हाथ लगाए बैठा है। गांधी जी ने जो व्याख्या की, वह वही थी, जो वे कर सकते थे। उन्होने व्याख्या की कि यह बन्दर जो कान पर हाथ लगाए बैठा है, उसका अर्थ है कि बुरी बात मत सुनो। मुंह पर हाथ लगाए बैठा है कि बुरी बात मत बोलो। आंख पर हाथ लगाये बैठा है कि बुरी बात मत देखो। लेकिन इसमे गलत कोई व्याख्या नहीं हुई। क्योंकि जो आदमी बुरी बात मत देखो, ऐसा सोचकर आंख पर हाथ रखेगा उसे पहले तो बुरी बात देखनी पड़ेगी। नहीं तो पता नही चलेगा कि यह बुरी बात हो रही है, मत देखो। तो तब तक देख ही ली आपने। और बुरी बात की यह खराबी है कि आंख अगर थोड़ी देख ले तो फिर आपने आंख बन्द की तो भीतर दिखाई पड़ती है। वह बन्दर बहुत मुश्किल में पड़ जाएगा। बुरी बात मत सुनो, लेकिन सुन लोगे तभी पता चलेगा कि बुरी है। फिर कान बन्द कर लेना तो वह बाहर भी न जा सकेगी। अब वह भीतर घूमेगी। नहीं, यह मतलब नही है।

मतलब यह है कि देखो ही मत, जब तक भीतर देखने की कोई जरूरत न आ जाए। सुनो ही मत, जब तक भीतर सुनना अनिवार्य न हो जाए। बोलो ही मत, जब तक भीतर बोलना अनिवार्य न हो। यह बाहर से सबधित नही है, लेकिन गांधी-जैसे लोग सारी चीजें बाहर से ही समझते हैं। यह भीतर से संबधित है। बुरी बात को अगर मुझे सुनने के लिए बाहर से चुनाव करना पड़े तो बाहरवाले पर मुझे निर्भर होना पड़ेगा। पता नहीं वह कब बोल देगा। हो सकता है गाना-बजाना शुरू करे, फिर गाली दे दे। क्या कीजिएगा ? और अगर गाली देना हो तो संगीत से शुरू करना सुविधा-पूर्ण होता है। बन्द करते-करते तो बात पहुँच जाएगी। यह तो बड़ी कमजोरी

है कि बुरी बात सुनने से इतनी घबराहट है। अगर बुरी बात सुनने से आप बुरे हो जाते हैं तो बिना सुने आप पक्के बुरे हैं। इस तरह बचाव न होगा।

लेकिन यह मत सोचना कि यह बात बन्दरों के लिए है। असल में जापान में परम्परागत रूप से इन बन्दरों की मूर्तियाँ बनाई जाती हैं, क्योंकि जापान में कहा जाता रहा है कि आदमी का मन बन्दर की तरह है। और जो भी थोड़ा-सा मन को समझते हैं, वह समझते हैं कि मन बन्दर है। डार्विन ने तो बहुत बाद में समझा कि आदमी बन्दर से ही पैदा हुआ है। लेकिन मन को समझनेवाले सदा से ही जानते रहे हैं कि मन आदमी का बिलकुल बन्दर है।

आपने बन्दर को उछलते-कूदते, बेचैन हालत मे देखा है। आपका मन उससे ज्यादा बेचैन हालत मे, उससे ज्यादा उछलता-कूदता है पूरे वक्त। अगर कोई इन्तजाम हो सके और आपकी खोपड़ी मे कुछ खिड़कियाँ बनाई जा सकें और बाहर से लोग आपके मन को देखे तो बहुत हैरान हो जाएँगे कि यह आदमी क्या कर रहा है। हम तो देखते थे कि पद्मासन लगाए बैठा है, पर भीतर से यह बड़ी यात्राएँ कर रहा है, बडी छलाँगें मार रहा है—इस झाड़ से उस झाड पर। यह भीतर चल रहा है। भीतर आदमी का मन बन्दर है।

उन मूर्तियों का अर्थ आपके लिए उपयोगी होगा इन सात दिनो के लिए। वह मत देखो जिसे देखने की कोई अनिवार्यता नही है। कैसा अजीब काम हम कर रहे हैं। रास्ते पर चले जा रहे हैं तो जो दन्तमजन का विज्ञापन है वह भी हम पढ रहे हैं, सिगरेट का विज्ञापन है वह भी हम पढ रहे हैं, साबुन का विज्ञापन है वह भी हम पढ़ रहे हैं। जैसे पढ़ाई-लिखाई आपकी इसीलिए हुई थी।

अमरीका का एक बहुत विचारशील व्यक्ति एक चौराहे से गुजर रहा है। चौराहे पर उसने चमचमाते रंग-बिरंगे प्रकाश में एक विज्ञापन देखा। उसने कहा, हे परमात्मा, अगर मैं पढा-लिखा न होता तो रगो का मजा ले सकता लेकिन पढ़ क्या गया, खोपड़ी पकी जा रही है। जलते हुए विज्ञापन: 'लक्स टायलेट सोप' और 'पनामा सिगरेट, सरस सिगरेट है' वह पढ़े जा रहे हैं, खोपड़ी मे कुछ भी कचरा डाला जा रहा है। आप अपनी आँख के इतने भी मालिक नही कि कचरे को भीतर न जाने दें। अनिवार्य रूप से देखें तो आपकी आँख का जादू बढ़ जाएगा। देखने की दृष्टि बदल जाएगी। क्षमता

और शक्ति आ जाएगी। अनिवार्य हो, तो उसे सुनें और आप सुन पाएँगे।

मैंने फ्रायड के सम्बन्ध में एक संस्मरण सुना है। फ्रायड का जो मनोविश्लेषण है उसमें तो मरीज घंटों बोलता है और मनोवैज्ञानिक को उसके पीछे बैठकर सुनना पड़ता है। फ्रायड बूढ़ा हो गया है और एक जवान मनोवैज्ञानिक उसके पास शिक्षा पा रहा है। तीन घंटे में एक मरीज परेशान कर देता है जवान मनोचिकित्सक को। और फ्रायड सुबह से लेकर आधी रात तक सुनता रहता है दस-दस घंटे, लेकिन ताजा का ताजा बाहर निकलता है। एक दिन दोनों रास्ते पर सीढ़ियों पर मिल गए, तो जवान शिष्य ने कहा कि मैं हैरान हूँ। एक मरीज मुझे पस्त कर देता है। तीन घटे पागलों को सुनना, खोपड़ी पक जाती है और आप हैं कि सुबह से रात तक इस उम्र में सुन लेते हैं, और जब देखो तब ताजे बाहर निकलते हैं। तो फ्रायड ने कहा, "सुनता कौन है ? (हू लिसेन्स ?) वे बोलते हैं, लेकिन सुनता कौन है ! सुनोगे तो थक ही जाओगे।" उसने कहा, "आप कह क्या रहे हैं, अगर सुनते नही तो उससे बकवास करवाते क्यों है ?" फ्रायड ने कहा, उसको बकवास करने से राहत मिल जाती है। निकाल लेता है कचरा अपने दिमाग का। अब तो आपको प्रोफेसनल सुननेवाले खोजने पड़ेंगे।

ट्रेडीशनल (परम्परागत) सुननेवाले न रहे। न पत्नी सुनने को राजी है, न बेटा सुनने को राजी है, न पति सुनने को राजी है, न बाप सुनने को राजी है। कोई बात सुनने को राजी नहीं है। इसलिए सारे पश्चिम में, योरोप में, अमरीका मे जो मनोवैज्ञानिक हैं बेचारे उनका कुल धन्धा है इतना कि वे आपकी बकवास सुनते हैं और आपसे पैसे लेते हैं। बकवास सुनाकर आपको राहत मिलती है। आप घर आ जाते हैं। आप समझते हैं चिकित्सा हो रही है। दो-तीन साल बकवास करके आप थक जाते हैं, शांत हो जाते हैं। बस, और कोई शांति नही मिलती। लेकिन तीन साल अगर कचरा निकालने का मौका मिले, और कोई आदमी सहानुभूति से सुने तो राहत मालूम पड़ती है। इसीलिए तो हम एक दूसरे को पकड़ते हैं। मिला कोई कि हमने शुरू किया, अपना दुख रोना। जैसे दूसरे के दुख कुछ कम हैं।

अभी एक वृद्ध महिला मुझसे मिली। वह राजस्थान की है। सत्तर साल की बूढ़ी है। उसने कहा, पूरे इण्डिया में मुझसे ज्यादा दुखी कोई नहीं है। फिर उसने मेरी तरफ देखा। "पूरे इण्डिया" सुनकर मैं भी थोड़ा चौंका। उसने

कहा, "अगर आप न मानें तो कम से कम पूरे राजस्थान में मुझसे अधिक दुखी कोई भी नहीं है।" हर आदमी यही सोच रहा है कि उससे अधिक दुखी कोई भी नहीं है। जो मिल जाए, उसे सुना देने की उत्सुकता है, तत्परता है। यह सुनना, यह बोलना, यह देखना— यह सब का सब शक्ति का अपव्यय है।

तो ऋषि कहता है, मेरी वाणी मे मेरा मन थिर हो जाए। हे स्वयंप्रकाश आत्मा, मेरे सम्मुख तुम प्रकट हो जाओ। लेकिन तभी, जब मेरी वाणी शात हो जाए, मेरा मन मौन हो जाए। क्योकि उससे पहले अगर परमात्मा आपके सामने प्रकट हो तो आप पहचान न पाएँगे। और ध्यान रहे, परमात्मा चौबीस घण्टे आपके सामने प्रकट है लेकिन आप पहचान नही पाते हैं। पहचान आप तभी पाएँगे जब आप शांत, निर्मल दर्पण की तरह हो जाएँगे। जब मन मौन होगा और वाणी शून्य होगी तब आप अचानक पाएँगे कि परमात्मा तो सदा से मौजूद था, मैं ही मौजूद नहीं था कि उसे देख पाऊँ, पहचान पाऊँ, अनुभव कर पाऊँ।

वह सब तरफ मौजूद है। इसलिए ऋषि कहता है, जब ऐसा हो जाए तभी तुम प्रकट होना क्योंकि तुम अगर अभी प्रकट भी हो जाओ तो मैं अभी नही हूँ। उस प्रकट होने का कोई अर्थ नहीं होगा। हम सब उलटे लोग हैं। इस ऋषि से जरा अपने को तौल लो।

कल स्टेशन पर मुझे बम्बई से एक मित्र विदा दे रहे थे। उस मित्र ने मेरे हाथ पकड़ कर बहुत भाव से कहा कि हम तो बुरे हैं, हम तो बेचैन हैं, हम तो परेशान हैं, लेकिन परमात्मा खुद क्यो प्रकट नही हो जाता। उसको क्या तकलीफ हो गई। माना कि हम बुरे हैं और हमसे कुछ नही हो सकता, लेकिन इससे उसका क्या बिगड़ जाएगा, वह प्रकट हो जाए। हम जैसे हैं उसी के सामने प्रकट हो जाएँ। उन मित्र को समझाना मुश्किल पड़ेगा कि वह प्रकट है। यह सवाल नहीं है कि वह प्रकट हो जाए। वह प्रकट है। लेकिन आप ऐसी बात कह रहे हैं कि एक आदमी जो आँख बन्द किए खड़ा है, वह कहता है कि मैं तो आँख बन्द किए हुए हूँ। वह तो ठीक है, लेकिन प्रकाश को क्या अड़चन हो रही है। प्रकाश तो प्रकट हो जाए। हम आँख बन्द किए हैं, किए रहें। हमारी आँख बन्द करने से प्रकाश को क्या लेना-देना है! यह प्रकाश जिद क्यों करता है कि तुम जब आँख खोलोगे तब मैं प्रकट होऊँगा! प्रकाश की कोई जिद नही, प्रकाश प्रकट है। जिद आपकी है कि आप आँख बन्द किए

हुए हैं और प्रकाश आपको इतना स्वतन्त्र किए हुए हैं कि आपकी आँख को जबरदस्ती नहीं खोलेगा। प्रकाश अनंत प्रतीक्षा कर सकता है।

परमात्मा तो प्रकट है, हम सब तरफ से बन्द हैं। इसलिए ऋषि ने एकदम से नहीं कहा कि हे प्रभु, तू प्रकट हो जा। उसने पहले प्रार्थना की, मेरी वाणी, मेरा मन!...और तब वह कह रहा है, हे स्वयं प्रकाश-आत्मा!..(परमात्मा तो प्रकाशवान है ही। वह तो स्वयं प्रकाश है ही)। मेरे सम्मुख तुम प्रकट होओ। उस शान्त, शून्य और जाग्रत क्षण में, उसी क्षण में प्रकट होने का कोई अर्थ है। लेकिन वह प्रकट होना भी हमारी तरफ से है, उसकी तरफ से नहीं। जब कोई आँख खोलेगा तो उसे ऐसा ही लगेगा कि प्रकाश प्रकट हुआ। उसके लिए तो हुआ है। प्रकाश था। सिर्फ आँख बन्द थी।

ऋषि आगे कहता है, "हे वाणी और मन।" थोड़ा सोचने-जैसा है, बहुत प्रायोगिक है। परमात्मा से प्रार्थना की है, सत्ता से प्रार्थना की है कि मेरी वाणी को शान्त कर दो, शून्य कर दो और मन में स्थिर कर दो और मेरे मन को मेरी वाणी मे थिर कर दो। लेकिन खयाल रखा गया है कि वाणी और मन को भी कोई चोट न पहुँच जाए। तो ऋषि कहता है, हे वाणी और मन, तुम दोनों मेरे ज्ञान के आधार हो, इसलिए मेरे ज्ञान का नाश न करो। मैं इस ज्ञान के अभ्यास में दिन-रात व्यतीत करता हूँ। मन और वाणी के प्रति भी वैमनस्य नहीं है, शत्रुता नही है, ऐसा भाव नही है कि वह दुश्मन है।

इस जगत् में जिन्होंने सच मे ही गहरी यात्राएँ की हैं, उन्होंने उन सबों को भी, जो मार्ग मे बाधा बनाते हैं, अपनी सीढ़ी बना ली है और यह हम पर निर्भर है। रास्ते पर से मैं गुजर रहा हूं, एक पत्थर पड़ा है। मैं छाती पीटकर चिल्लाता हूँ, रोता हूँ कि यह अवरोध है, हिन्ड्रेंस है। लेकिन जो जानता है, वह पत्थर पर पैर रखकर पार हो जाता है। और जो पत्थर पर पैर रखता है तो जो उसे पत्थर के नीचे से कभी भी दिखाई नहीं पड़ा था, वह पत्थर के ऊपर चढ़कर दिखाई पड़ जाता है। तल बदलता है। मन को गाली देनेवाले साधु-सन्त बहुत ज्यादा मिलेंगे। लेकिन हे वाणी और मन! ऐसे आदर से, वाणी और मन को भी सम्बोधन करनेवाले ऋषि को खोजना थोड़ा कठिन पड़ेगा। गाँव-गाँव मिल जाएँगे वे लोग जो कहेंगे, मन, यही शैतान है, यही शत्रु है! लेकिन ऋषि कहता है, हे वाणी और मन!

संत फासिस जिस दिन मरा तो लोग हैरान हुए कि उसने परमात्मा से

मरते वक्त प्रार्थना नही की। आँखें खोलीं आखिरी क्षण में। शिष्य सोचते थे, वह प्रभु की प्रार्थना करेगा। जिसने जीवन भर प्रार्थना मे बिताया, उसने अंतिम क्षण में अपने शरीर से कहा, हे मेरे प्यारे शरीर, तुमने मुझे पूरा साथ दिया। मैंने तेरी अनेक बार उपेक्षा की और अनेक बार तुझसे लड़ा भी, फिर भी तुमने मेरा साथ न छोड़ा। नही जानता था, तब समझता था कि तू मेरा दुश्मन है, जब जाना तो पाया कि तू मेरा साथी है। तू मुझे शराबघर भी पहुँचा सकता है, मंदिर भी। और सदा निर्णय मैं लेता हूं कि कहां जाना है, तू सदा साथ हो जाता है।

ऋषि कहता है, हे मेरी वाणी ! इस जगत् मे सभी कुछ परमात्मा का है। जो ठीक उपयोग (राइट यूज) करना जानते है, वे प्रत्येक चीज को साधन बना लेते हैं। मन और वाणी भी साधन बन सकते हैं। तो ऋषि कहता है, "हे वाणी और मन ! तुम दोनों मेरे ज्ञान के आधार हो।" इधर एक बात और खयाल मे ले लेनी जरूरी है।

मूल सूत्र मे शब्द उपयोग हुआ है वेद। हिंदी मे अनुवाद किया है, तुम मेरे वेद-ज्ञान के आधार हो। लेकिन मै दो मे से एक ही कोई शब्द उपयोग कर सकता हूं। क्योकि वेद का भी अर्थ ज्ञान होता है और ज्ञान का भी अर्थ वेद होता है। तो वेद-ज्ञान जैसा कोई भी अर्थ नही होता। वेद-ज्ञान पुनरुक्ति है, रिपीटीशन है। वेद का अर्थ ज्ञान ही होता है और ज्ञान का अर्थ तो वेद है। वेद उसी से बनता है जिससे हमारा विद्वान् बनता है विद्। विद् का अर्थ होता है जानना। लेकिन जो शास्त्रो को लिखते है और अनुवाद करते हैं उन्हें उस ज्ञान का बहुत कम पता होता है। वेद-ज्ञान का अर्थ होता है वेद, संहिता, वह किताब जो सग्रहीत है—स्क्रिप्ट और शास्त्र। वेद का अर्थ शास्त्र नही है। सब शास्त्र वेद से ही निकलते हैं, ज्ञान से ही निकलते है। हिन्दुओं के वेद की बात नहीं कर रहा हूँ। क्योकि वेद किसका हो सकता है, ज्ञान किसका हो सकता है ! सब ज्ञान वेद से निकलता है। लेकिन कोई शास्त्र वेद को सीमित नहीं कर पाते, ज्ञान को सीमित नहीं कर पाते। तो मैं न कहूंगा, वेद ज्ञान है। ज्ञान काफी है। वेद से तत्काल हमें खयाल आता है उस संहिता का, उस संग्रह का, जिसे हम वेद कहते रहे हैं।

ऋषि कह रहा है, तुम दोनों मेरे ज्ञान के आधार हो। साधारण साधु संन्यासी तो लोगों को समझाते हैं कि मन अज्ञान का आधार है, यह वेद का

आधार, ज्ञान का आधार नहीं है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि मन से जो ज्ञान मिलता है उस पर जो रुक जाए, वह ज्ञानी है। मन तो सिर्फ एक जंपिंग बोर्ड, एक आधार है जहाँ से छलांग लगानी पड़ती है अ-मन में, "नो-माइन्ड" में। उसकी आगे बात करेंगे। लेकिन जिसे अ-मन में जाना है, उसे भी मन को आधार बनाकर जाना पड़ता है।

यहाँ बड़ी भूलें होती हैं। भूलें ऐसी हो जाती हैं कि एक आदमी सीढ़ी चढता हो मकान की तो हम उससे कहें कि तू सीढी क्यों चढ़ रहा है, क्योंकि चढ जाने के बाद सीढ़ी छोड़नी पडेगी। और अगर आदमी तर्कवादी हो, बुद्धिवादी हो, अपने को इंटलेक्चुअल समझने की भूल में पड़ा हो, जैसा कि अधिक पढ़े लोग होते हैं, तो वह राजी भी हो सकता है। वह कहेगा, ठीक है सीढ़ियाँ छोड ही देनी है, उसे पकड़ें ही क्यो? उसे यही छोड़ दें। लेकिन आप नीचे ही रह जाएँगे। लेकिन तर्कवादी दूसरा रूप भी ले सकता है। तर्क हमेशा डबल एजेड है, द्वि-धारी है।

तर्क दूसरा रूप भी ले सकता है। वह यह भी ले सकता है, अच्छा, तो हम सीढियाँ छोड़ेंगे ही नही। चढेंगे जरूर, छोड़ेंगे नहीं। चढ़ जाए, छत आ जाए और वह कहे, जिन सीढियो पर इतनी मुश्किल से चढ़ें हैं, उनको छोड देना क्या उचित है? और जिन सीढियों ने इतना साथ दिया उनको छोड़ देना उचित है क्या? अब हम न छोड़ेंगे, तब तो उनपर ही खड़े रह जाएँगे। नही, जो जानता हूं वह सीढ़ियों पर चढ़ता भी है और सीढ़ियों को छोड़ता भी है।

इस जगत् में सभी साधन पकडने पडते हैं और छोड़ने पड़ते हैं। साधन का अर्थ ही है, जिसे किसी स्थिति मे पकडना पड़ता है और फिर किसी स्थिति में छोड़ देना पड़ता है। ध्यान भी पकड़ेंगे और छोड़ेंगे। प्रार्थना भी पकड़ेंगे और छोड़ेंगे। परमात्मा भी पकड़ेंगे और छोड़ेंगे। अन्तत: उस जगह पहुँच जाएँगे जहाँ कुछ छोड़ने को भी नहीं बचता और पकड़ने को भी नहीं बचता। वही निर्वाण है।

तो ऋषि कहता है, "हे मन और वाणी! तुम मेरे ज्ञान के आधार हो।" जो अभी मैं जानता हूँ, तुम्हारे द्वारा ही जानता हूँ। अगर मैं यह भी जानता हूँ कि अभी नहीं जान पाया हूँ तो भी तुम्हारे ही द्वारा जानता हूँ। अगर मुझे यह भी पता चल गया है कि तुम्हारे द्वारा मैं सब कुछ न जान पाऊँगा तो यह भी तुम्हारे द्वारा ही जानता हूँ।

यहाँ बड़ी भूलें होती हैं, जैसे कृष्णमूर्ति जो कहते हैं, वह इसी सूत्र से सम्बन्धित है। इसके विपरीत जो भीड़ हो जाती है उन्ही से उनकी चर्चा है। अगर कृष्णमूर्ति से पूछें कि ध्यान करें, तो वे कहेंगे ध्यान! ध्यान किस लिए? आप कहेंगे, ताकि मन के पार चला जाऊँ। कृष्णमूर्ति पूछेंगे, ध्यान करोगे किससे, मन से? मन से करोगे तो मन के पार कैसे जाओगे? तो मन और मजबूत हो जाएगा। तो ध्यान मत करना। अगर मन के पार जाना है तो ध्यान मत करना। और न मालूम कितने नासमझ यह सोचकर ध्यान नहीं करते कि मन के पार जाना है, ध्यान कैसे करें। और कभी भी नहीं सोचते कि 'न करने' से मन के पार चले गए। न करने से पार गए नही। करेंगे तो पार जा न सकेंगे, तो बडी मुश्किल खडी हो जाती है।

चालीस-चालीस साल से कृष्णमूर्ति को सुननेवाले लोग हैं। पता नही वह क्या सुनते हैं, अब भी क्या सुनते होंगे उनसे! वह वही कह रहे हैं चालीस साल से। इधर पचास सालों मे एक ही बात को चालीस साल अगर कोई आदमी कह रहा है तो वे कृष्णमूर्ति हैं। एक ही बात को सतत चालीस साल से लोग उनको सुन रहे हैं और बूढ़े हो गए हैं बैठे-बैठे। ऐसे लोग हैं, जिनकी जगह बँधी हुई है। उनकी सभा मे उसी खम्भे के पास, तो खम्भे के पास चालीस साल से बैठ रहा है वह आदमी। मेरे एक मित्र ने कहा, वह एक आदमी को देखते हैं, वह हरी टोपी लगाकर आता है। अस्सी साल का बूढा है। दस साल से तो वही देख रहे हैं कि उसी जगह पर वह आकर बैठ जाता है। फिर वही सुनकर चला जाता है। अगर मन के पार जाना है, तो कृष्णमूर्ति कहते हैं, "मन से कैसे जाओगे। ध्यान किससे करोगे? मन से ही करोगे तो मन के पार कैसे जाओगे? इसलिए ध्यान नही करना। मन के पार चले जाओ।"

लेकिन सुननेवाला कभी नहीं पूछता कि वह कृष्णमूर्ति को किससे सुन रहा है, मन से? तो अगर मन से ही सुनना है तो मन के पार कैसे जाओगे? सुनते रहो चालीस साल, वही के वही रहोगे। सुनोगे तो मन से ही। सुनने का तो और कोई उपाय ही नही है। यह मन से ही सुनना पड़ेगा। फिर बडी हैरानी होती है कि अगर मन से सुनकर कोई पार जा सकता है तो मन से घूमकर, गुनकर पार क्यों नही जा सकता है। और अगर मन से शब्दों को लेकर पार जा सकता है तो मन से फिर प्रयोगों को लेकर पार क्यों नहीं जा सकता!

कृष्णमूर्ति कहते हैं, अगर ध्यान किया तो मन की कण्डीशनिंग हो जाएगी। लेकिन चालीस साल से बैठकर एक आदमी तुम्हारी ये बातें सुन रहा है, तो उसका मन क्या कण्डीशंड नही हो गया है? वह यही बातें दोहराने लगा है। सच यह है कि जब तक हम मन में खड़े है तब तक मन के पार जाने के लिए भी मन का ही उपयोग करना पड़ेगा। अगर मैं एक कमरे में हूँ, माना कि जब कमरे में आया था तो चलकर कमरे मे आया था, मै सोच सकता हूँ कि अगर मुझे कमरे के बाहर जाना है तो कमरे में कभी नहीं चलना चाहिए, क्योंकि चलकर मैं कमरे के भीतर आया था। लेकिन अगर कमरे के बाहर जाना हो तो थोड़ा तो कमरे मे फिर से चलना पडेगा। उतना चलना पड़ेगा, जितना आप चलकर भीतर आए थे। कमरे में ही चलना पड़ेगा उतना। फर्क एक ही होगा कि चेहरा दूसरी तरफ होगा। जब आए थे तो दरवाजे की तरफ पीठ कर ली थी, दीवाल की तरफ चेहरा था। अब जाते वक्त दरवाजे की तरफ चेहरा होगा, दीवाल की तरफ पीठ होगी। चलना उतना ही पडेगा जितना चलकर भीतर आए थे।

मन के बाहर जाने के लिए भी मन का उतना ही उपयोग करना पडता है जितना मन के भीतर आने के लिए किया था। जो मन के भीतर आने के लिए श्रम करता है उसके लिए मन अज्ञान का आधार बन जाता है और जो मन के बाहर जाने के लिए मन का उपयोग करता है उसके लिए मन ज्ञान का आधार बन जाता है। इसलिए ऋषि कहता है, तुम दोनों मेरे ज्ञान के आधार हो। इसलिए मेरे ज्ञान का नाश न करो। यद्यपि जब भीतर आने का अभ्यास मजबूत होता है तो मन कहता है, बाहर जाने की क्या जरूरत? इसमें मन का कोई कसूर नही। हमने ही उसका अभ्यास करवाया है—हमने ही। तो मन तो यांत्रिक हो जाता है।

जैसे हम हमेशा अपने मुँह में सिगरेट रखकर पीते रहते हैं। पर शुरू मे बड़ा मुश्किल था, अभ्यास करवाया। पहले दिन पीना शुरू किया था तो खाँसी आ गई थी। तकलीफ हुई थी। तिक्त कड़वाहट फैल गई थी मुँह में, सिगरेट जहर मालूम पड़ी थी। मन को अभ्यास करवाते चले गए। फिर सिगरेट का अभ्यास मजबूत हो गया। अब हम कहते हैं, छोड़ना है, तो मन कहता है, नहीं। अब तो मजा आने लगा। और यह मजा हमने ही लाया है। मन ने तो पहले ही दिन कहा था, यह क्या कर रहे हो? हमने सुना नहीं, पिए चले

थए। अब मन फिर कहेगा कि यह क्या कर रहे हो ? छोड़ रहे हो ? अब तो रस आने लगा, अब मत छोड़ो। मन छोड़ने में बाधा डालेगा।

इसलिए ऋषि उससे भी प्रार्थना करता है कि मेरे ज्ञान का नाश न करो। यह भी प्रार्थना है मन से। यह बड़ी अद्भुत है। कभी आपने न की होगी, और करेंगे तो अद्भुत अनुभव होंगे। जब आपके ओंठ सिगरेट मांगने लगें तो प्रयोग करके देखना। ओंठ से प्रार्थना करना कि मेरे ओंठ, प्रार्थना करता हूँ कि सिगरेट मत मांगो। और अगर यह प्रार्थना हार्दिक है तो ओंठ तत्काल शिथिल हो जाएँगे और मांग बन्द कर देंगे। कामवासना उठे तो अपनी कामवासना के केन्द्र से कहना कि मेरे कामवासना के केन्द्र, काम वासना मत मांगो। मुझे सहायता दो। और आप तत्काल हैरान होंगे कि आपकी प्रार्थना के साथ ही काम-केन्द्र शिथिल हो जाएगा। पर हमने प्रार्थना तो की नहीं। अपने ही शरीर से प्रार्थना करेंगे तो अहकार को बडी पीडा होगी क्योंकि मैं, और अपने ही शरीर मे प्रार्थना करूँ! सकोच ‹ गेगा। लेकिन शरीर की गुलामी करने मे कभी सकोच नही लगता है! शरीर के पीछे-पीछे चलने मे कभी संकोच नही लगता है! शरीर की मांग की सब तरह की मूढताएँ करने मे कभी सकोच नही लगता। लेकिन जिस शरीर को आपने मालिक बना लिया, अब आप उसको प्रार्थना मे ही 'परसुएड' (फुसलाना, समझाना) कर सकते हैं।

मन तो बन गया है मालिक। तो ऋषि उसे परसुएड करता है, फुसलाता है कि हे मन, बाधा मत डाल। मेरे ज्ञान को नाश मत कर। मैं रात-दिन इसी ज्ञान में ही तो अभ्यास कर रहा हूँ। ऋषि कह रहा है, तू मुझे साथ दे। इसका इतना ही अर्थ है कि **जिस व्यक्ति को परम सत्य की खोज में जाना हो, उसको अपनी सारी इन्द्रियाँ, अपना मन, अपना शरीर, सबके साथ प्रार्थना करके सहयोग निर्मित कर लेना चाहिए।** वह सहयोग निर्मित हो जाए तो वे सब साथी, सहयोगी, सगी हो जाते है। अन्यथा, अकारण ही असहयोग आएगा और बाधा पडेगी।

साधक की यात्रा जिन दो पैरो से होती है, उन दो पैरों की सूचना शांति पाठ के आखिरी हिस्से मे हैं। **साधक का एक पैर तो है संकल्प और दूसरा पैर है समर्पण।** मेरे संकल्प के बिना तो कोई यात्रा प्रारम्भ नही हो सकती। परमात्मा भी मुझे इंच भर नही हिला सकता। मैं जहाँ हूँ, वही खड़ा

रहूँगा। मेरी स्वेच्छा पर, मेरी स्वतंत्रता पर परमात्मा कोई हमला नहीं करता है। इसलिए मैं नर्क भी जाना चाहूँ तो भी परमात्मा की तरफ से कोई बाधा नहीं पड़ेगी। मेरा संकल्प प्राथमिक है। मैं कहाँ जाना चाहता हूँ, क्या होना चाहता हूँ, उसके लिए मेरे प्राणों की तत्परता जरूरी है। लेकिन वह भी काफी नहीं है, "नाट एनफ।" मेरा सारा संकल्प भी हो तो भी काफी नहीं है।

मेरे बिना संकल्प के एक इंच यात्रा नहीं होगी। लेकिन मेरे सकल्प से भी यात्रा नहीं हो सकती, मात्र सकल्प से ही यात्रा नहीं हो सकती। मुझे परम शक्ति का सहारा भी खोजना होगा। व्यक्तियों की शक्तियाँ इतनी कम है—न के बराबर—कि अगर परम शक्ति का सहारा न मिले तो यात्रा नहीं हो सकती। मैं स्पष्ट भाषण करूँगा, ऋषि ने कहा है, मै ऋत भाषण करूँगा मैं सत्य भाषण करूँगा। यह सकल्प है। यह ऋषि कहता है, मैं ऋत भाषण करूँगा।

ऋत बहुत अद्भुत शब्द है। ऋत का अर्थ होता है स्वाभाविक, प्राकृतिक, जैसा है वैसा। मैं वही कहूँगा, जैसा है वैसा। लेकिन फिर भी, कहनेवाला तो मैं ही रहूँगा। और जैसा मुझे दिखाई पडता है, वह मुझे ही दिखाई पड़ेगा, इसलिए उसमे भूल हो सकती है। मैं सत्य भाषण करूँगा, लेकिन मैं ही करूँगा - मैं जैसा हूँ। जिस बात को सत्य समझूँगा, बोल दूँगा, लेकिन वह असत्य भी हो सकता है। मुझे जो सत्य दिखाई पड़ता है, जरूरी नहीं है कि सत्य हो भी। मुझे जो असत्य मालूम पडता है, जरूरी नहीं है कि असत्य हो भी। मुझमे भूल हो सकती है। मेरी आँखें बाधा डालेंगी, मेरी दृष्टि भी तो विकार पैदा करेगी।

अगर आपने चश्मा लगा रखा है और आपको चारो तरफ नीला रंग दिखाई पड़ रहा है तो आप बिलकुल ही सत्य कह रहे हैं कि चारों तरफ सभी चीजें नीली हैं। फिर भी असत्य कह रहे हैं। हम सबकी दृष्टि पर चश्में हैं—बहुत तरह के। हम सबके अपने विचार हैं। जब हम सत्य बोलते हैं तो हम ही तो निर्णय करते हैं कि सत्य क्या है। और हम इतने गलत हैं कि हमारा निर्णय क्या सही हो पाएगा? फिर भी ऋषि संकल्प करता है कि मै ऋत भाषण ही करूँगा। जैसा है, वैसा ही कहूँगा, अन्यथा नहीं कहूँगा। सत्य ही बोलूंगा। जो मुझे सत्य मालूम होगा, वही मैं बोलूँगा। फिर भी मेरी रक्षा करो। वह प्रभु से कह रहा है, फिर भी मेरी रक्षा करो।

यह बड़ी कीमती बात है। असत्य बोलनेवाला परमात्मा से प्रार्थना करे कि मेरी रक्षा करो, समझ में आता है। सत्य बोलनेवाला परमात्मा से प्रार्थना करे कि मेरी रक्षा करो, तो समझ में नहीं आता। सत्य काफी है, सत्य स्वयं ही रक्षा कर लेगा। लेकिन ऋषि भली भांति जानता है कि आदमी का सत्य जरूरी नहीं कि परमात्मा का सत्य हो। आदमी इतना कमजोर और इतने विकारों से भरा, इतना अंधेरे मे पड़ा है कि वह जो देखेगा वह, हो सकता है, उसे सत्य मालूम पड़े और बिलकुल असत्य हो। इसलिए ऋषि कहता है कि सत्य मैं बोलूंगा, फिर भी मेरी रक्षा करो। वह जो स्वाभाविक है, उसके अनुसार मैं चलूंगा, लेकिन फिर भी मेरी रक्षा करो। क्योंकि जिसे मैं स्वाभाविक समझूंगा वह स्वाभाविक है, या नही है, यह निर्णय मैं कैसे करूंगा। सत्य बोलकर भी अपनी रक्षा की आकांक्षा समर्पण है। ऋत के अनुसार चलकर भी रक्षा की आकांक्षा समर्पण है।

ऋषि यह कह रहा है कि मैं सब कुछ भी करूं तो भी गलत हो सकता है। तो मेरी रक्षा की जरूरत पड़ती ही रहेगी। इसमें दोहरी बातें हैं। घोषणा है अपनी तरफ से कि मैं सत्य बोलूंगा और यह भी घोषणा है अपनी तरफ से कि मेरे सत्य के होने का भरोसा क्या है।

मैंने सुना है कि एक नगर मे एक ईसाई पादरी और एक यहूदी पुरोहित पड़ोसी थे। कभी-कभी उनकी बातचीत हो जाती थी। एक दिन ईसाई पादरी ने यहूदी पुरोहित को कहा कि हम दोनों ही तो ईश्वर का काम करते हैं। फिर झगड़ा कैसा, फिर विरोध कैसा! मैं भी तो सत्य का काम करता हूं, तुम भी तो सत्य का काम करते हो, फिर विवाद क्या है! यहूदी ने कहा कि बात तो ठीक है। हम दोनों ही सत्य का काम करते हैं, लेकिन तुम उस सत्य का काम करते हो, जैसा तुम्हें दिखाई पड़ता है और मैं उस सत्य का काम करता हूं, जैसा परमात्मा को दिखाई पड़ता है। इसलिए विवाद है।

कौन तय करेगा कि कौन-सा सत्य परमात्मा का सत्य है। अगर हम तय करेंगे तो वह भी हमारा ही तय करना है। इसलिए महावीर-जैसे व्यक्ति ने, जिसने कि सत्य को पहला धर्म और सत्य पर ही सारे जीवन को आधारित करने की चेष्टा की, किसी को भी असत्य कहना बन्द कर दिया था। अगर कोई बिलकुल सरासर झूठ बोल रहा हो, सरासर झूठ—जैसे कि सूरज निकला हो और कोई कहता हो कि आधी रात है—तो भी महावीर कहते

थे, तुम्हारी बात मे कुछ सत्य तो है। क्योंकि महावीर कहते थे, माना अभी आधी रात नही है, लेकिन यही सूरज आधी रात को थोड़ी देर में ले आएगा। इस भरी दोपहरी मे आधी रात छिपी है, तुम्हारी बात में भी थोड़ा सत्य है।

अगर कोई जीवित व्यक्ति को भी कह देता कि यह मरा हुआ है, तो महावीर कहते, तुम्हारी बात मे थोड़ा सत्य है, क्योकि जिसे हम जीवित कह रहे हैं, वह थोड़ी देर मे मर ही तो जाएगा। और जो मर ही जाएगा, उस पर क्या विवाद करना कि वह अभी मरा है कि नही मरा है। मर ही जाएगा तो मरा ही है। तुम्हारी बात मे भी सत्य है।

महावीर का विचार बहुत प्रभावी नही हो सका क्योंकि किसी भी विचार के प्रभावी होने के लिए आग्रहशील आदमी चाहिए– डागमेटिक, जो कहें 'यही' सत्य है। अब ऐसे आदमी की बात कौन सुनेगा जो कहेगा कि तुम भी सत्य हो, वह भी सत्य है, सभी सत्य हैं। ऐसे आदमी की बात में आग्रह न होने के कारण पंथ का निर्माण बहुत मुश्किल है। अति कठिन है।

उपनिषदो का कोई पंथ निर्मित नही हुआ। उपनिषद् बिलकुल ही गैर-पांथिक, नान् सेक्टेरियन हैं और उसका कारण है कि ऋषियो की पूरी चेष्टा यह है कि सत्य कहें। फिर भी इस बोध के साथ कि हमारा सत्य हमारा ही सत्य होगा, आदमी का सत्य आदमी का ही सत्य होगा। और आदमी क्या उस विराट् सत्य को छू पाएगा, आदमी रहते हुए! इसलिए ऋषि कहता है, "प्रभु, मेरी रक्षा करना। सत्य मैं बोलूँगा, जितनी मेरी सामर्थ्य है, सत्य मैं खोजूँगा, जितनी मेरी सामर्थ्य है। लेकिन मेरी सामर्थ्य का मुझे पता है। तू रक्षा कर। वक्ता की रक्षा करो, मेरी रक्षा करो।"

वक्ता को क्यों बीच में ले आया, मेरी रक्षा पर्याप्त थी? मेरी रक्षा में वक्ता की रक्षा भी आ जाती थी। लेकिन विशेष रूप से ऋषि कहता है दो-दो बार, "वक्ता की रक्षा करो"। यह बहुत मजे की बात है। सत्य का अनुभव जब होता है किसी को, तब सत्य बहुत बड़ा होता है और जब वही व्यक्ति सत्य को बोलने जाता है तो सत्य उतना ही बड़ा नही रहता, और भी सिकुड़ जाता है।

एक तो सत्य है बहुत विराट् और आदमी बहुत छोटा। जब आदमी सत्य देखता है तो वह ऐसे ही जैसे एक छोटे-से पानी के डबरे में चाँद का प्रतिबिम्ब बनता है। बहुत छोटा आदमी जब सत्य को देखता है तब सत्य उसके

ही अनुपात में छोटा हो जाता है। लेकिन दूसरी दुर्घटना घटती है तब, जब वह सत्य को बोलने जाता है। वह और बड़ी दुर्घटना है। फिर तो उतना भी नही बचता, जितना उसने देखा था।

परमात्मा का सत्य तो कितना है, पता नहीं। आदमी को जितना सत्य मालूम पड़ता है उतना भी वाणी नहीं कह पाती। वह और सिकुड़ जाता है। इसलिए ऋषि कहता है कि मेरी रक्षा करो कि मै जब सत्य को जानूँ तो ऐसा न समझ लूँ कि यही पूरा हो गया। जानता रहूँ कि शेष है, यात्रा बाकी है। जानता रहूँ कि सागर को मैंने छू लिया, लेकिन सागर को पा नही लिया। सागर में मैं खड़ा हो गया, फिर भी सागर की सीमाएँ मेरी हाथ की मुट्ठी में नहीं आ गई। यही मैं जानता रहूँ और जब मै कहने जाऊँ, जब मे बोलने जाऊँ, तब मेरी और भी रक्षा करना। क्योंकि शब्द सत्य को जिस बुरी तरह विकृत करते हैं, कुछ और विकृत नहीं करता। उसका कारण है।

सभी शब्द कामचलाऊ हैं। सत्य को जब हम कामचलाऊ शब्दों में प्रकट करते हैं (और कोई शब्द है भी नहीं) तो वह जो कामचलाऊ दुनिया की दुर्गन्ध है, धूल है, वह सत्य के साथ जुड जाती है। वह कामचलाऊ शब्द हमारे होंठों पर चल-चल कर वैसे ही घिस गए हैं जैसे सिक्के चल-चल कर घिस जाते हैं। जिन शब्दो मे सत्य को कहना पड़ता है, वे भी घिस जाते हैं।

फिर अनुभूति तो सदा ही गहन होती है, शब्द सदा छिछले होते हैं। बड़ी अनुभूतियाँ तो छोड़ दें, छोटी अनुभूतियो को भी शब्द में कहना कठिन है। जैसे आपके पैर मे काँटा गड़ गया है और पीड़ा हो रही है। लेकिन जब आप किसी को बताते हैं कि मेरे पैर में पीड़ा हो रही है तो क्या आप पीड़ा को बता पाते हैं? और जब आप यह कहते हैं कि मेरे पैर मे पीडा हो रही है तो क्या वह आदमी समझ पाता है कि कैसी पीड़ा हो रही है! हाँ, अगर उसके पैर में भी काँटा गड़ा हो तो बात और है। अगर उसके पैर में काँटा न गड़ा हो तो कुछ भी समझ में नहीं आता। जिस आदमी ने जीवन में किसी को प्रेम न किया हो, उसे प्रेम की बात बिलकुल समझ में नही आती। जिस आदमी ने जीवन के सगीत को कभी अनुभव न किया हो और जिसके जीवन में कभी वह, जो चारो ओर अस्तित्व का छाया हुआ काव्य है, प्रवेश न कर गया हो तो उसे कुछ भी समझ मे नही आता।

रामकृष्ण के जीवन में उल्लेख है कि उन्हें जो पहली समाधि मिली वह छह वर्ष की उम्र में मिली। ऐसे ही किसी पहाड़ के निकट से गुजरते थे, खेत की मेड़ पर से। हरे-भरे खेत फैले थे। सुबह का सूरज निकला था, पीछे काले बादलों की एक कतार आकाश में थी। खेत की मेड़ से गुजरते ही खेत में बैठे हुए बगुलों की एक भीड़ रामकृष्ण के पैर की आहट सुनकर उड़ गई। एक पक्तिबद्ध बगुले उड़े। पीछे से काले बादल, सुबह का सूरज, नीचे थी हरियाली और सफेद बगुलो की पंक्ति का खिच जाना उन काले बादलो की पृष्ठभूमि में। रामकृष्ण वही आँख बन्द करके समाधिस्थ हो गए। अगर रामकृष्ण से बाद मे लोग पूछते थे तो रामकृष्ण कहते थे कि बहुत प्रार्थना-पूजा करके भी उस गहराई को पाना मुश्किल मालूम पड़ता है, जो उस दिन बगुलों की वह उडी हुई कतार दे गई थी। आप कहेंगे, क्या बगुलो की कतार से समाधि मिल सकती है ? हमने भी बगुले देखे हैं, काले बादल देखे हैं, हमने भी पहाड़ देखे हैं। लेकिन जिसे जीवन के काव्य का कोई अनुभव नही हुआ है वह रामकृष्ण के इस अनुभव को न समझ पाएगा।

हमे जो अनुभव है, वह हम समझ पाते हैं। शब्द उसकी सूचना दे पाते हैं। इसलिए जितना गहरा अनुभव होने लगता है, उतनी ही कठिनाई शब्दों में होने लगती है। और सत्य का अनुभव तो अतिम है, अल्टीमेट है, आत्यतिक है, आखिरी है। ऋत का अनुभव तो चरम है। उस अनुभव को शब्द में कहने जब मैं जाऊँ तब तुम मेरी रक्षा करना, ऋषि प्रभु से कहता है। लेकिन कौन कहता है कि कहने जाना। मत जाना। लेकिन एक कठिनाई है।

जितना गहरा अनुभव हो उतनी ही तीव्रता से वह प्रकट होना चाहता है। उसके कारण हैं। सत्य का जब अनुभव होता है तो प्राण हृदय से प्रफुल्लित हो जाते हैं। आनन्द का गुण है, बँटने की इच्छा। आनन्द बँटना चाहता है। जब आप दुख में होते हैं तो सिकुड़ जाते हैं, चाहते हैं कोई न मिले, कमरे मे छिप जाएँ, मर जाएँ। जब आप आनन्द मे होते हैं तो दौड़ते हैं कि कोई मिल जाए तो उसे बाँट दें। महावीर और बुद्ध जब दुख मे थे तो जंगल चले गए। जब आनन्द से भरे तो गाँव में वापस लौट आए।

यह बहुत मजे की बात है कि जब भी कोई दुखी था तो जगल में गया और जब आनन्द से भरा तो बाँटने के लिए नगरों मे वापस आ गया। आना ही पड़ेगा। आनन्द बँटना चाहता है। शेयर, किसी के साथ साझा, कोई

बांट ले, कोई थोड़ा ले ले। क्यों? क्योंकि आनन्द जितना बंटता है उतना बढ़ता है। अगर आप अपने पूरे हृदय के आनन्द को उलीच दें तो आप तत्काल पाएँगे कि उससे अनन्तगुना आनन्द आपके हृदय में फिर भर गया। कबीर ने कहा है, दोनों हाथ उलीचिए। उलीचो। क्योंकि अनन्त स्रोत के करीब आ गए हो। कितना ही उलीचो, समाप्त नहीं होगा।

आनन्द तो आनन्द है ही, उसका बांटना परम आनन्द है। इसलिए ऋषि कहता है, मेरी रक्षा करना, क्योंकि सत्य का जब मुझे अनुभव होगा, ऋत में मैं जब जिऊँगा तो मैं कहना चाहूंगा, जो मैंने जाना है, वह बताना चाहूंगा। शब्द नष्ट कर देते हैं। तुम मेरी रक्षा करना।

यह रक्षा की आकाक्षा है ताकि परमात्मा एक छाया की तरह चारो तरफ आपको घेर ले और आपके साथ चलने लगे और जब आप सत्य बोलें तब भी जानकर बोलें कि वह आपका सत्य है। जब तक परमात्मा का उसको सहयोग न हो तब तक उसका कोई मूल्य नहीं है। और जब आप बोलने जाएँ तब जाने कि जो आप बोल रहे हैं वह सीमित है, और जब तक असीम पीछे न खड़ा हो, तब तक उसका कोई भी मूल्य नहीं है। यह ऋषि प्रार्थना करता है शान्ति-पाठ मे कि मेरी रक्षा करना। ओम् शांतिः शांति. शांतिः।

एक शांति-पाठ पूरा हुआ। निर्वाण उपनिषद् कहने के पहले परमात्मा से यह प्रार्थना कि जो मैं बोलूं उसमे मेरी रक्षा करना, यह बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि अब ऋषि बोलेगा। अब वह कहेगा उसे जो शब्दों में नहीं कहा जा सकता। ऐसा नही कि निःशब्द मे नहीं कहा जा सकता, लेकिन नि,शब्द में सुननेवाला खोजना बहुत मुश्किल है। इसलिए मजबूरी मे शब्द में कहना पडता है। और अगर लोगो को निःशब्द के लिए तैयार भी करना हो तो भी शब्द के ही सहारे उनको नि.शब्द में ले जाना पड़ता है। कठिन है, विपरीत मालूम होता है, लेकिन संभव है।

जैसे वीणा का एक तार छेड़ दें। वीणा के तार से ध्वनि पैदा होगी। वह सुनते रहें, सुनते रहें, सुनते रहें। धीरे-धीरे ध्वनि खोती जाएगी, निर्ध्वनि प्रकट होने लगेगी। उसे सुनते रहें। ध्वनि क्षीण होने लगेगी। लेकिन जब ध्वनि क्षीण हो रही है, तब जानना कि साथ ही अनुपात मे निर्ध्वनि प्रखर हो रही है। जब ध्वनि मिट रही है, तब निर्ध्वनि जन्म ले रही है। जब ध्वनि खो रही है, तब निर्ध्वनि का आगमन हो रहा है। फिर थोड़ी देर में ध्वनि खो

जाएगी, तब क्या शेष रह जाएगा ? अगर कभी ध्वनि का पीछा किया है तो आपको पता चल जाएगा कि ध्वनि निर्ध्वनि में ले जाती है। शब्द नि:शब्द में ले जाते हैं। संसार मोक्ष में ले जाता है। अशांति भी शांति में ले जाने के लिए सेतु बन जाती है। बीमारी भी सीढ़ी बन जाती है स्वास्थ्य के मन्दिर तक पहुँचने के लिए। विपरीत का उपयोग करना है। पर उपनिषद् की घोषणा करने के पहले, क्योकि ऋषि महत् घोषणा करेगा।

जीवन ने जो भी गहराइयाँ छुई हैं और ऊँचाइयों के दर्शन किए हैं, जीवन ने जो भी स्वर्णकलश सत्य के देखे हैं, ऋषि इन आनेवाले शब्दों में उनकी घोषणा करेगा। वह परमात्मा से कहता है, मेरी रक्षा करना। भूल-चूक हो सकती है। शब्द वह कह सकते हैं जो मैं नही कहना चाहता था। सुननेवाले वह सुन सकते हैं जो मैंने नही कहा था। समझनेवाले वह समझ ले सकते हैं जो प्रयोजित ही नही था। मेरी रक्षा करना, क्योंकि कही सत्य कहने जाऊँ और असत्य को कहनेवाला न बन जाऊँ। कहीं सत्य को प्रकट करूँ और असत्य को देनेवाला न बन जाऊँ। चाहूँ कि लोगो को आनन्द बाँट दूँ, और कही ऐसा न हो कि उनके झोले मे दुख पहुँच जाए। मेरी रक्षा करना।

●

दूसरा प्रवचन

साधना शिविर, माऊण्ट आबू, प्रातः, दिनांक २६ सितम्बर, १९७१

निर्वाण उपनिषद्—अव्याख्य की व्याख्या का एक दुस्साहस

अथ निर्वाणोपनिषदम् व्याख्यास्यामः
परमहंसः सोऽहम् ।
परिव्राजकाः पश्चिम लिंगाः ।
मन्मथक्षेत्रपालाः ।

अब निर्वाण उपनिषद् का व्याख्यान करते हैं।
मैं परमहंस हूं।
संन्यासी अन्तिम स्थिति रूप चिह्नवाले होते हैं।
कामदेव को रोकने में पहरेदार-जैसे होते हैं।

निर्वाण उपनिषद् के पहले सूत्र मे ऋषि कहता है कि अब निर्वाण उपनिषद् का व्याख्यान करते हैं। अब उसकी चर्चा करते हैं, जिसकी चर्चा कठिन है। अब उसकी व्याख्या करते ह, जो अव्याख्य हं। जो नहीं कहा जा सकता, उसे अब कहने चलते हैं। जो सिर्फ जाना ही जा सकता है और जिया ही जा सकता है, उसे भी अब शब्द देते हैं।

बुद्ध के पास कोई जाता था तो बुद्ध बहुत-से प्रश्नों के उत्तर मे कह देते थे—"अव्याख्य," और चुप हो जाते थे। वे कह देते थे, नहीं, इसकी व्याख्या नही होगी। ऐसे उन्होंने कुछ प्रश्न तय कर रखे थे जिन्हें पूछते ही वे इतना ही कह देते थे कि यह अव्याख्य है, इसकी व्याख्या नही हो सकती। लोग उनसे पूछते थे कि क्यो नही होगी? क्योकि लोग सोचते हैं कि जो प्रश्न पूछा जा सकता है, उसका उत्तर होना ही चाहिए। लोग सोचते हैं कि चूंकि हमने प्रश्न बना लिया, इसलिए उत्तर होना ही चाहिए। आपके प्रश्न बना लेने से यह जरूरी नही है कि उसका उत्तर हो ही। सच तो यह है कि जिस प्रश्न का उत्तर न हो, जानना कि उस प्रश्न के बनाने में कहीं कोई बुनियादी भूल हुई हं। लेकिन भाषा ऐसी भ्रांति पैदा कर सकती है कि प्रश्न बिलकुल रिलेवेंट है, संगत है।

अब कोई आदमी पूछ सकता है कि सूरज की किरण का स्वाद कैसा है। प्रश्न में क्या गलती है? प्रश्न बिलकुल ठीक है। कोई आदमी पूछ सकता है कि प्रेम की ध्वनि कैसी है। प्रश्न बिलकुल ठीक मालूम पड़ता है। लेकिन प्रेम

में कोई ध्वनि नहीं होती। यह प्रश्न असंगत है। प्रेम का ध्वनि-निर्ध्वनि से कोई सम्बन्ध नहीं। सूर्य की किरण में स्वाद नहीं होता, न वह बेस्वाद होती है। प्रश्न ही असंगत है, स्वाद का कोई सम्बन्ध ही नही।

मेटाफिजिक्स, दर्शनशास्त्र बहुत से फिजूल प्रश्न पूछता है। इसीलिए तो दर्शनशास्त्र किसी प्रश्न का हल नही निकाल पाता। मगर प्रश्न भाषा में मालूम पड़ता है, बिलकुल ठीक है ! एक आदमी पूछ लेता है कि इस जगत् को किसने बनाया ? बिलकुल ठीक सवाल है, बिलकुल ठीक मालूम पड़ता है। सवाल में क्या गलती है ? लेकिन एकदम गलत है। गलत क्यों है ? गलत इसलिए है कि बनाने का सवाल उठाना ही एक ऐसा सवाल उठाना है जिसका कोई भी जवाब हल न कर पाएगा। क्योंकि अगर हम कहें कि परमात्मा ने बनाया तो सवाल परमात्मा के पीछे खड़ा हो जाएगा कि परमात्मा को किसने बनाया। अगर हम कोई और नम्बर दो का परमात्मा खोजें तो सवाल उसके पीछे खड़ा हो जाएगा कि इस नम्बर दो के परमात्मा को किसने बनाया ? यह सवाल किसी भी जवाब के पीछे खड़ा हो जाएगा। ऐसा कोई जवाब नही हो सकता जिसके लिए यह सवाल न खड़ा किया जा सके। फिर जवाब का कोई मतलब नही रह जाता।

इसलिए अगर बुद्ध से आप पूछें कि इस जगत् को किसने बनाया तो वे कहेंगे यह अव्याख्य है। इसकी व्याख्या नही होती। इसलिए नहीं कि बुद्ध को व्याख्या का पता नही है। बल्कि इसलिए है कि आप एक गलत सवाल पूछ रहे हैं। और गलत सवाल का जवाब जब भी दिया जाएगा, वह जवाब उतना ही गलत होगा, जितना गलत सवाल है। हम बहुत गलत सवाल पूछते हैं और हमारे बीच पूछनेवालों से भी ज्यादा गलत जवाब देनेवाले लोग मौजूद हैं। वे तैयार हैं कि आप पूछें और वे जवाब दें। पृथ्वी गलत जवाबों से बहुत परेशान है, बहुत पीड़ित है।

ऋषि कहता है कि अब हम निर्वाण उपनिषद् की व्याख्या में प्रवृत्त होते हैं। बड़ा असम्भव कार्य अपने हाथ में लेना है। इंच-इंच फूंक कर पैर रखना पड़ेगा। शब्द-शब्द तौलकर बोलना पड़ेगा। क्योंकि निर्वाण उपनिषद् बहुत अद्भुत उपनिषद् है। इसमें एक-एक शब्द तुला हुआ है, कटा हुआ है, निखरा हुआ है। बहुत छोटा उपनिषद् है। एक-एक शब्द में बात कहने की कोशिश की गई है। क्योंकि जितने कम शब्द हों, उतने कम भूल की संभावना है।

सूफियों के पास एक किताब है। उस किताब का नाम है, "बुक आफ द बुक्स (किताबों की किताब)।" उसमे कुछ भी लिखा हुआ नहीं है। खाली है। उसे छापने को कोई प्रकाशक राजी नहीं था। छाप कर भी क्या होगा, और कौन उसको छापने के पागलपन में पड़ेगा। छापकर उसको होगा कौन? जो भी उसको भीतर देखेगा, उसमें कुछ है ही नहीं। अभी एक प्रकाशक ने हिम्मत की, तो उसने भी इसलिए हिम्मत की कि वह जो शून्य है किताब, उस पर मुहम्मद का एक वशज छोटी-सी टिप्पणी लिखने को राजी हो गया। इदरिस शाह ने एक छोटी-सी भूमिका लिखी। वह जो खाली किताब है, जिसमें कुछ भी नही है, उसके लिए भूमिका लिखी दस-बीस पन्नो की। तो बीस पन्नो में भूमिका है और दो सौ पन्ने खाली हैं। अभी वह किताब छपी है। अनेक लोग उसको भूल से खरीद भी लेते हैं, क्योंकि वे पहले भूमिका देखते हैं। कौन पूरी किताब देखता है! जब वे भूमिका के बाद किताब पर पहुँचते हैं तो वहां तो बिलकुल खाली है। भूमिका में उसने यह समझाने की कोशिश की है कि किताब खाली क्यों है। लेकिन मैं मानता हूं कि इदरिस शाह ने अन्याय किया। पांच-सात सौ साल से हिम्मतवर लोगों ने उसे खाली रखा था। जब किताब लिखनेवालो ने ही खाली रखी थी तो उसके लिए किसी भूमिका की जरूरत नही है। वह खाली ही होनी चाहिए। छापने को कोई राजी नही था। पढने को भी कोई राजी नही होता, इसलिए बेचारे इदरिस शाह को गलत काम करना पडा।

एक अर्थ मे तो ऋषि गलत काम करने जा रहा है, इसीलिए परमात्मा से रक्षा मांगता है। गलत काम इसलिए कि जो शब्दों में नहीं कहा जा सकता, उसको वह शब्द में कहेगा। ऋषि का वश चले तो किताब को खाली छोड़ दे। लेकिन तब वह आपके काम की न होगी। क्योंकि खाली किताब को पढ़ना बड़ी कठिन बात है। और जो खाली किताब को पढ़ने में समर्थ हो जाता है, उसे और किताब पढ़ने की इस दुनिया में जरूरत नहीं रह जाती।

ऋषि कहता है, व्याख्यान शुरू करते हैं, व्याख्या शुरू करते हैं निर्वाण उपनिषद् की। इसमें एक और बात छिपी है। इसमें यह बात छिपी है कि ऋषि निर्वाण उपनिषद् नहीं लिख रहा है, सिर्फ निर्वाण उपनिषद् का व्याख्यान कर रहा है। यह बहुत अद्भुत मामला है। इसका मतलब यह हुआ कि निर्वाण उपनिषद् तो शाश्वत है, वह तो सदा से चल रहा है। ऋषि सिर्फ व्याख्या करते हैं। जिसे

हम आज निर्वाण उपनिषद् कहते हैं, वह तो इसी ऋषि ने कहा है। पर वह कहता है, हम सिर्फ व्याख्या कर रहे हैं उसकी, जो सदा से है। हम तो सिर्फ व्याख्यान कर रहे हैं उसका, जो सदा से है। इसलिए किसी ऋषि ने उपनिषद् का अपने-आप को लेखक नहीं माना। सिर्फ व्याख्यान करने-वाला माना।

ऋषि कहता है कि सत्य सदा से है, हम उसकी व्याख्या करते हैं। हमारी व्याख्या गलत भी हो सकती है, उससे सत्य गलत नहीं होता। हमारी व्याख्या भूल-चूक भरी हो सकती है, उससे सत्य भूल-चूक भरा नहीं होता है। इसलिए परमात्मा से प्रार्थना कर लेते हैं कि हम एक उपद्रव के काम में उतरते हैं, तू हमारी रक्षा करना।

इतना विनम्र जो व्यक्ति है, इतनी ह्यूमिलिटी जिसमें है, वह इस पहले ही सूत्र में जो घोषणा करता है, वह बहुत अद्भुत है। वह कहता है, मैं परमहंस हूं (परमहंस. सोऽहम्)। जो इतना विनम्र है कि सत्य बोलने में भी कहता है कि परमात्मा मेरी रक्षा करना, जो इतना विनम्र है कि इस उपनिषद् को रचता है और कहता है कि हम सिर्फ व्याख्यान कर रहे हैं, उस उपनिषद् पर जो सदा से है। वह पहली ही घोषणा मे कहता है कि मैं परमहंस हूं। बडा विपरीत मालूम पड़ेगा। लेकिन ध्यान रहे, जो इतने विनम्र हैं, वे ही इतनी स्पष्ट घोषणा कर सकते हैं। विनम्रता ही कह सकती है अपनी गहरा-इयों में कि मैं परमात्मा हूं, नहीं तो नहीं। अहंकार कभी हिम्मत नहीं जुटा सकता कहने की कि मैं परमात्मा हूं। यह बहुत मजे की बात है।

अहंकार कभी हिम्मत नहीं जुटा सकता कहने की कि मैं परमात्मा हूं। अहंकार बहुत निर्बल है। बहुत कमजोर है। यह उसका साहस नहीं है। वह छोटे-मोटे दावे कर सकता है कि मैं चीफ मिनिस्टर हूं, कि प्राइम मिनिस्टर हूं, कि राष्ट्रपति हूं। अहंकार ये दावे कर सकता है, लेकिन यह दावा कभी नहीं कर सकता है कि मैं परमात्मा हूं। नहीं करने का कारण है, क्योंकि राष्ट्रपति कोई हो जाए तो अहकार बड़ा होता है। लेकिन परमात्मा कोई हो जाए तो अहकार-शून्य होता है। मैं परमात्मा हूं, यह कहने का अर्थ है कि "मैं" नहीं हूं। मैं परमत्मा हूं, यह कहने का अर्थ है कि "मैं" की हत्या हो गई।

इस पृथ्वी पर सर्वाधिक अहंकारपूर्ण दिखनेवाली घोषणाएँ—सिर्फ दिखने

वाली (जस्ट इन एपियरेंस)—उन लोगों ने की हैं जो बिलकुल विनम्र थे, जिनके जीवन में अस्मिता थी ही नहीं। कृष्ण कह सकते हैं अर्जुन से कि "सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरण व्रज। सब छोड़, मेरे चरणों में आ।' यह कोई अहंकारी नहीं कह सकता। अहकारी कोशिश यही करता है कि सब छोड़ और मेरे चरणों मे आ। लेकिन यह कह नहीं सकता। अहंकार होशियार है। वह जानता है कि अगर अपने अहंकार को प्रगाढ़ करना हो तो छिपाओ, बचाओ। अगर अपने अहंकार को बड़ा करना हो तो दूसरे के अहंकार को चोट मत पहुँचाओ, उसे परसुएड करो, दूसरे के अहकार को राजी करो। कृष्ण-जैसा निरहंकारी ही कह सकता है कि सब छोड़कर मेरे चरणो में आ जा। यह उपनिषद् का ऋषि कहता है, मैं परमहंस हूँ। यह पहली घोषणा है निर्वाण उपनिषद् की।

क्या अर्थ है परमहंस होने का ? यह पारिभाषिक शब्द है। हंस के साथ एक माइथोलॉजी, एक मिथ, एक पुराण-कथा चलती है कि वह दूध और पानी को अलग-अलग करने में समर्थ है। है या नही, इससे कोई प्रयोजन नही। यह शाब्दिक है। यह 'हंस' शब्द अर्थ रखता है कि जो दूध और पानी अलग करने मे समर्थ है। और परमहंस उसे कहते रहे हैं जो सार और असार को अलग करने में समर्थ है, जो सत्य और असत्य को अलग करने में समर्थ है। तो ऋषि कहता है, मैं परमहंस हूँ। मै वही हूँ, जो सार और असार को अलग करने में समर्थ है। यह घोषणा पहले ही सूत्र मे ! यह घोषणा उचित है, क्योंकि पीछे सार और असार को अलग करने की भी चेष्टा है। ऋषि बड़ी विनम्रता से कहता है कि मैं सार और असार को अलग करने मे समर्थ हूँ। यह एक अर्थ है।

दूसरा अर्थ . ऋषि जब कहता है, मैं परमहंस हूँ, तो सिर्फ अपने लिए ही नही कह रहा है। जो भी अपने को "मैं" कह सकते हैं वे परमहंस हो सकते हैं। जहाँ-जहाँ "मै" है, वहाँ-वहाँ परमहंस छिपा है। उसका उपयोग करें, न करें वह आपकी मर्जी। सार असार को अलग करें, न करें, वह आपकी मर्जी है। लेकिन क्या आपने कभी खयाल किया है कि जब आप असत्य बोलते हैं तब आपके भीतर कोई जानता है कि असत्य है ? जब आप सत्य बोलते हैं तब आपके भीतर कोई जागा हुआ जानता है कि सत्य है ?

कभी आपने खयाल किया है कि भीतर किसी बिन्दु पर आप अपने और

चीजों के बीच के फासले को सदा जानते हैं ? बात और है कि अपने को धोखा दे लेते हैं, बात और है कि अपने को समझा लेते हैं, बात और है कि आदत बना लेते हैं भ्रांति की। लेकिन कितनी ही गहरी आदत हो, एक भीतर कोई दीया जलता ही रहता है सदा, जो बताता रहता है कि कहाँ प्रकाश है और कहाँ अंधकार है। उस दीए का नाम परमहंस है। वह सबके भीतर है। वह बुरे-से-बुरे आदमी के भीतर उतना ही है, जितना भले से भले आदमी के भीतर है। उसके अनुपात में कोई भेद नहीं है। वह पापी से पापी के भीतर उतना ही है, जितना पुण्यात्मा के भीतर। जो फर्क है, वह उस भीतर की ज्योति का नहीं है, उस परमहंस का नहीं है। जो फर्क है, वह उस परमहंस को झुठलाने का है, उस परमहंस को इनकार करने का है। हम चाहें तो अपने को प्रवंचना में डालते रह सकते हैं। जिस दिन हम चाहे, प्रवचना को तोड सकते हैं। क्योंकि हम कितनी ही प्रवचनाएँ करें, हम उस परमहंस के स्वभाव को विकृत नहीं कर सकते। इसलिए ठीक अर्थों में कोई आदमी कभी पापी नहीं हो पाता। कितना ही पाप करें, फिर भी उसके भीतर एक निष्पाप तल सदा ही बना रहता है। और इसलिए अक्सर यह घटना घटती है कि बड़े पापी भी क्षण में निष्पाप मे प्रवेश कर जाते हैं। क्योंकि जिन्हें पाप का बहुत अनुभव होता है उसके साथ ही उन्हें भीतर के निष्पाप बिन्दु का भी अनुभव होता है। यह 'कण्ट्रास्ट' है, जैसे कि सफेद दीवाल पर काली रेखा कोई खींच दे, या काली दीवाल पर कोई सफेद रेखा खींच दे। पापी को अपने भीतर के निष्पाप बिन्दु का बड़ा गहरा अनुभव होता है। साफ दिखाई पड़ता है। और इसलिए जिनको हम 'मिडियाकर' (मध्यम) कहें— जो न पापी होते हैं, न पुण्यात्मा होते हैं, जो बड़े समन्वयी होते हैं, जो थोड़ा पाप कर लेते हैं, थोड़ा पुण्य करके बैलेंस (संतुलन) करते रहते हैं—ऐसे लोगों की जिन्दगी में क्रान्ति मुश्किल से घटित होती है, क्योंकि 'कण्ट्रास्ट' नहीं होता। न पाप होता है, न निष्पाप का बोध होता है। दोनों फीके हो जाते हैं। इसलिए कभी अगर गहरे पापी की आँखों में झाँकें तो उसमें बच्चे की आँखें दिखाई पड़ जाएँगी। लेकिन एक साधारण आदमी, जो पाप करना भी चाहता है, समझा भी लेता है, नहीं भी करता है, पाप कर भी लेता है, सँभालने के लिए पुण्य भी कर लेता है, हिसाब बराबर रखता है, ऐसे आदमी की आँखों में सदा 'कनिंगनेस', चालाकी दिखाई पड़ेगी, बच्चे की सरलता दिखाई नहीं पड़ेगी।

वह जो भीतर परमहंस है, वह तो सबके भीतर है। वह नष्ट नहीं होता। किसी भी क्षण में उसे पाया जा सकता है और छलांग लगायी जा सकती है। उस छलांग के लिए ऋषि पहले यह घोषणा करता है कि मैं परमहंस हूँ। यह घोषणा सबकी तरफ से है। यह सिर्फ ऋषि के "मैं" की घोषणा नहीं है। यह जो भी अपने को "मैं" कह सकते हैं, उन सबकी तरफ से है। इस परमहंस को अगर विकसित करना हो, सजग करना हो, ज्योतिर्मय करना हो, तो इसका उपयोग करना चाहिए। हम जिस चीज का उपयोग करते है, वही प्रगाढ़ हो जाती है, प्रखर हो जाती है, तेजस्वी भी हो जाती है। अगर हम बैठे रहें तो पैर चलने की क्षमता खो देते हैं, अगर हम आँखें बन्द किए रहें तो कुछ ही दिनों मे आँखे देखना बन्द कर देती हैं।

मैंने कोई दो सौ साल आगे की कहानी सुनी है। बाईसवी सदी मे जैसे और सब चीजें बिकती हैं, ऐसे ही लोगों के मस्तिष्क भी बिकने लगेंगे। आपको अपना दिमाग ठीक नही मालूम पड़ता है तो आप जा सकते हैं और अपनी खोपड़ी के भीतर जो है, उसे बदलवा सकते हैं। एक आदमी एक दूकान मे गया है, जहाँ मस्तिष्क बिकते हैं। वहाँ अनेक तरह के मस्तिष्क उपलब्ध है। दुकानदार ने उसे मस्तिष्क दिखाए और कहा कि यह एक वैज्ञानिक का मस्तिष्क है, पाँच हजार रुपए इसके दाम होगे। उसने कहा, यह तो बहुत ज्यादा हो जाएगा। लेकिन इससे भी अच्छे मस्तिष्क हैं क्या? तो उसने बताया है कि यह एक धार्मिक आदमी का मस्तिष्क है, इसके दाम दस हजार रुपए हैं। उसने कहा, बहुत महँगा है। लेकिन क्या इससे भी कोई अच्छा है? उसने कहा, सबसे अच्छा तो यह मस्तिष्क है, इसके दाम पच्चीस हजार रुपए होगे। उसने पूछा, यह किसका मस्तिष्क है? उसने कहा, यह राजनीतिज्ञ का मस्तिष्क है। वह ग्राहक चकित हुआ। वैज्ञानिक का पांच हजार दाम है, धार्मिक का दस हजार दाम, और राजनीतित्र के मस्तिष्क का इतना दाम! तो उस दुकानदार ने कहा, "बिकाज इट हैज बिन नेवर यूज्ड (क्योंकि इसका कभी उपयोग नहीं किया गया है)।" राजनीतिज्ञ को दिमाग का उपयोग करने की जरूरत भी क्या है? यह बिलकुल ताजा (फ्रेश) है, क्योंकि कभी भी इसका उपयोग नहीं हुआ। बिलकुल ताजा है। इसलिए इसका दाम ज्यादा है।

किसी दिन अगर मस्तिष्क बिकें तो राजनीतिज्ञों के मस्तिष्कों के दाम सबसे ज्यादा होंगे। जिन चीजों का उपयोग न किया जाए, वे बन्द पड़ जाते हैं। अगर एक घड़ी की गारंटी दस साल चलने की हो और आप उसे चलाएँ ही न, तो सौ साल चल सकती है। चल सकती है मतलब चलाएँ ही न! जिस चीज का हम उपयोग नहीं करते उसके चारों तरफ अनुपयोग का एक आवरण, एक व्यवस्था निर्मित हो जाती है।

हम अपने जीवन में इस परमहंस-पन का जरा भी उपयोग नहीं करते। हम कभी सार और असार में फर्क नहीं करते। धीरे धीरे हम भूल ही जाते हैं कि हमारे भीतर वह बैठा है जो जहर और अमृत को अलग कर सकता है। ध्यान रहे, हम जहर को चुन ही इसलिए पाते हैं क्योंकि वह जो अलग करने-वाला है, करीब-करीब निष्क्रिय पड़ा है। नहीं तो जहर कोई चुन न पाए। अगर आपको दिखाई पड़ जाए कि सार क्या है और असार क्या है, तो क्या असार को चुन सकिएगा? सार को छोड़ सकिएगा? दिख गया तो बात समाप्त हो गई।

सुकरात कहता था, ज्ञान ही क्रांति है, ज्ञान ही आचरण है। अगर दिखने लगा कि यह पत्थर है, हीरा नहीं, तो उसको कैसे ढोइएगा। अगर समझ में आ गया कि यह नकली सिक्का है, असली नहीं, तो इसको तिजोरी में सँभाल कर कैसे रखिएगा! तिजोरी में तभी तक सँभाल कर रख सकते हैं, जब तक वह असली मालूम पड़ता रहे।

जिन्दगी की सारी बुराई, जिन्दगी की सारी भूल का एकमात्र कारण है— हमारे भीतर के परमहंस का सोया होना। एक बार उसका आविर्भाव हो जाए तो गलत को छोड़ना नहीं पड़ता। गलत को जान लेना कि वह गलत है, गलत का छूट जाना हो जाता है। सही को पकड़ना नहीं पड़ता, सही का सही दिखाई पड़ जाना, सही का पकड़ना हो जाता है। गलत को कोई पकड़ ही नहीं सकता। वह असंभव है। अगर गलत को भी पकड़ना हो तो उसमें सही की भ्रांति पैदा करनी पड़ती है। और सही की भ्रांति पैदा करनी हो तो परमहंस का सोया होना जरूरी है।

तो ऋषि कहता है, मैं परमहंस हूँ। इस घोषणा से अपनी व्याख्या शुरू करता है। निश्चित ही यह पहला सूत्र होना चाहिए। यह पहला सूत्र होना चाहिए अध्यात्मिक ज्यामिति का कि मैं परमहंस हूँ, क्योंकि फिर सार और

असार में फर्क किया जा सकेगा, भेद किया जा सकेगा ।

दूसरे सूत्र में ऋषि कहता है, संन्यासी अन्तिम स्थिति रूप चिह्नवाले होते हैं। मैं परमहंस हूँ। संन्यासी कौन है? संन्यासी वह है जो परमहंस के अन्तिम चिह्नवाला होता है। परमहंस का पहला चिह्न क्या है? परमहंस का पहला चिह्न है सार और निसार में भेद। परमहंस का अन्तिम चिह्न है, भेद ही नहीं करना, वरन् उसे जीना। परमहंस का पहला चिह्न है सार और असार के भेद का अभ्यास। परमहंस का अन्तिम चिह्न है अभ्यास भी नहीं, वरन् सहज जीवन।

साधारण साधक जब यात्रा शुरू करता है तो उस बात को करने की कोशिश करता है, जो ठीक है। उसको छोड़ने की कोशिश करता है, जो ठीक नहीं है। लेकिन साधक, जब सिद्ध हो जाता है, तब हम ऐसा नहीं कह सकते कि सिद्ध, जो गलत है, उसको नहीं करता और जो सही है, उसको करता है। सिद्ध का अर्थ होता है कि वह जो करता है वही सही है और जो नहीं करता है, वही गलत है। यह अन्तिम लक्षण है। प्राथमिक लक्षण है कि जो सही है वह हम करेंगे, जो गलत है वह न करेंगे। अन्तिम लक्षण है कि हम जो करेंगे वही सही है, हम जो नहीं करेंगे, वही गलत है। सन्यासी परमहंस के अन्तिम लक्षण वाले होते है। वे वही करते हैं, जो वे कर पाते हैं। वही उनका स्वभाव हो जाता है, जो सही है।

रिंझाई जापान में एक फकीर हुआ है। अपने गुरु से उसने पूछा कि सही क्या है, गलत क्या है? तो उसके गुरु ने कहा, मैं जो करता हूँ उसका ठीक से निरीक्षण कर। जो मैं करता हूँ, वह सही है, जो मैं नहीं करता, वह गलत है। रिंझाई ने अपने गुरु से कहा, क्या आपसे कभी गलती नहीं होती? गुरु ने कहा, अगर मैं होता तो गलती हो सकती थी। वह आदमी अब न रहा जिससे गलती हो सकती थी। मैं बचा नहीं, जिससे गलती हो सकती है। कौन करेगा गलती? मैं हूँ नहीं। और अगर तुम सोचते हो कि परमात्मा गलती कर सकता है तो फिर गलती ही सही है।

यह रिंझाई का गुरु अत्यन्त विनम्र आदमी था। जापान का सम्राट् उत्सुक था किसी को गुरु बनाने के लिए। उसने न मालूम कितने संन्यासियों को बुलाया, लेकिन कोई उसे नहीं जँचा। उसने बड़ी खोज की तो किसी ने उससे कहा कि एक ही आदमी है—रिंझाई का गुरु। ध्यान रहे, रिंझाई के गुरु क

कोई नाम नहीं था, इसलिए मैं बार-बार कह रहा हूं "रिंझाई का गुरु"। नाम नहीं था इस आदमी का। और वह आदमी कहता है कि मैं जो करता हूं, वही सही है और जो नहीं करता, वही गलत है।

सम्राट् को कहा गया कि एक आदमी है, लेकिन उसका नाम नहीं है। इसलिए उसको बुलाइएगा कैसे! और वह दरबार मे आने को राजी होगा, कुछ कहा नही जा सकता! कभी तो वह झोंपडी में भी जाने को राजी हो जाता है, परन्तु राजमहल में जाने को वह कभी राजी नही होता है। वह हवा पानी की तरह है। उसका कोई भरोसा नही कि वह किस तरफ बहने लगे। आपको ही जाना पडेगा। उस सम्राट् ने कहा कि जिसका नाम नही है उसके सम्बन्ध मे मैं पूछूंगा कैसे कि किसको खोज रहा हूं। तो सलाह देनेवालो ने कहा कि यही कठिनाई है। लेकिन आप यही पूछते हुए खोजें कि मैं उसको खोज रहा हूं, जिसको खोजना बहुत मुश्किल है। शायद कोई बता दे। शायद वह कही मिल जाए।

सम्राट् गया। गांव के बाहर पत्थर पर, एक चट्टान पर बैठा हुआ एक फकीर था। सम्राट् ने उससे पूछा कि मैं उसको खोज रहा हूं जिसको खोजा नहीं जा सकता। कुछ पता बता सकते हो? उसने कहा, बहुत लबी यात्रा है। वर्षो लग जाएंगे। मिल तो जाएगा वह आदमी, लेकिन वर्षों लग जाएंगे। सम्राट् ने पूछा कि वह कब मिलेगा, तो उस फकीर ने कहा कि जब खोजने-वाला भी मिट जाएगा। सम्राट् ने कहा कि किस पागल के चक्कर में पड़ गए। उसे खोजना है जो खोजा नहीं जा सकता है और तब खोज पाएंगे जब खुद ही मिट जाएंगे। लेकिन उस फकीर की आंखों ने मोह लिया और सम्राट् उसकी बात मानकर खोज पर निकल गया। कहते हैं, तीस साल उसने खोज की। पूरे जापान का कोना-कोना खोज डाला। जहां-जहां फकीर थे, संन्यासी थे, साधु थे, वहां-वहां वह गया।

तीस साल बाद सम्राट् अपने गांव वापस लौटा तो उसी चट्टान पर वही फकीर बैठा था। सम्राट् ने उसे देखा और पहचान लिया कि वह वही आदमी है जिसकी मैं खोज कर रहा था। उसने उसके पैर पकड़े और कहा कि तुम आदमी कैसे हो! अगर तुम ही थे वह, जो पहले दिन मिले थे, तो तीस साल मुझे भटकाया क्यों? तो उस फकीर ने कहा, लेकिन तब मुझे तुम पहचान न सकते थे, क्योंकि 'तुम थे।' परमात्मा के पास से भी बहुत बार आदमी को

निकल जाना पड़ता है, क्योंकि सवाल तो पहचानने का है। यह तीस साल भटकना जरूरी था ताकि तुम वहां पहुंच सको जो बिलकुल निकट था, तुम्हारे गांव के बाहर था।

जिनका नाम नहीं, वे ऐसी घोषणा कर सकते हैं। जो इतने विनम्र हैं कि मिट गए हैं, वे ऐसी घोषणा कर सकते हैं। ऋषि कहता है, परमहंस का अंतिम लक्षण, अंतिम चिह्न यही है कि वे जो करते हैं, वही सही है और जो वे नहीं करते हैं, वही गलत है। यह बहुत खतरनाक वक्तव्य है। 'टू डेंजरस' और इसलिए जब उपनिषदों का अनुवाद पश्चिम में पहली बार हुआ तो पश्चिम के विचारकों ने कहा कि इनको पश्चिम में लाना खतरनाक है, डेंजरस है। इसमें बहुत एक्सप्लोसिव, बहुत बारूद छिपा है। वह बारूद आपको आगे खयाल में आएगी।

तीसरे सूत्र में ऋषि कहता है, कामदेव को रोकने में वे पहरेदार-जैसे होते हैं। वासना को रोकने में, काम को रोकने में वे पहरेदार-जैसे होते हैं। क्या मतलब है इसका? बुद्ध कहते थे कि अगर घर का मालिक जगा हो तो चोर उसके घर में आने की हिम्मत नहीं जुटाते। घर में जब दीया जला हो और प्रकाश हो तो चोर उस घर से बचकर चलते हैं। घर के द्वार पर अगर पहरेदार बैठा हो तो चोर फिर उस घर में प्रवेश पाने की अनुमति तो मांगने नहीं आते। चोर तो वहां प्रवेश करते हैं जहां पहरेदार नहीं हैं, जहां घर का मालिक सोया है और अंधेरा है।

ऋषि कहता है, ऐसे जो परमहंस की शक्ति को जगा लेते हैं उनके भीतर सतत पहरा, कांस्टैंट व्हिजिलेंस, होता है। उनके भीतर वासना प्रवेश नहीं करती। उनके भीतर कामना प्रवेश नहीं करती। उनके भीतर तृष्णा का रास्ता नहीं रह जाता। ऐसा समझें तो आसान होगा कि सोए मन में ही वासना का प्रवेश हो सकता है, अंधेरे से भरे मन में ही वासना का प्रवेश हो सकता है। जहां विवेक अजागरूक है, वहीं वासना का प्रवेश हो सकता है। वासना प्रवेश वहीं कर सकती है, जहां विवेक नहीं है, जैसे अंधेरा वहीं प्रवेश कर सकता है जहां प्रकाश नहीं है। तो इस परमहंस को जिसने भीतर जगा लिया है, वह संन्यासी है। उस संन्यासी के भीतर काम-वासना प्रवेश नहीं करती।

ध्यान रहे, ऋषि यह नहीं कहता है कि संन्यासी वह है जो काम-वासना

पर नियन्त्रण पा लेता है। ध्यान रहे, ऋषि यह नहीं कहता कि 'जिसने काम पर नियन्त्रण पा लिया।' जिसने नियन्त्रण पा लिया उसके भीतर तो प्रवेश भलीभाँति है। नियन्त्रण पा लेने के लिए भी मकान के भीतर ही रहना पड़ेगा। अगर काम-वासना पर नियन्त्रण पाना है तो भी उसे आपके भीतर होना चाहिए, तभी तो आप उस पर नियन्त्रण पा सकेंगे। नहीं, ऋषि यह भी नहीं कहता कि संन्यासी संयमी होता है। फिर उस संयम का क्या प्रयोजन है ? संयम का तो वही प्रयोजन है जहाँ असयमित होने की आकांक्षा मौजूद है। ऋषि इतना ही कहता है कि जैसे पहरेदार बैठा हो और चोर भीतर प्रवेश नही करते, ऐसे ही उस व्यक्ति में वासनाएँ प्रवेश नहीं करतीं। नही, ऐसा नही कि वह वासनाओं को हटाता है और निकालता है। बस वे प्रवेश नहीं करती—पर परमहंस बिना जागे नही है। सार और असार दिखाई पड़ने लगे, सार्थक और निरर्थक दिखाई पड़ने लगे तो अपने आप उस प्रकाश के वर्तुल के भीतर उन सबका कोई प्रवेश नहीं होता, जिनसे हम पीड़ित हैं।

दो उपाय हैं। एक उपाय है नैतिक व्यक्ति का। वह कहता है, गलत को हटाओ, सही को लाओ। एक उपाय है धार्मिक व्यक्ति का। वह कहता है कि सिर्फ जागो, प्रकाशित हो जाओ। वह जो छिपा हुआ तुम्हारे भीतर प्रकाश-बीज है, उसे तोड़ दो। वह जो आवृत दीया है, उसे अनावृत्त कर दो। फिर बुरा नही आता, और जो आता है वह भला ही होता है। ये दो मार्ग हैं—एक मॉरलिस्ट का, नैतिकवादी का और दूसरा एक धार्मिक का।

ध्यान रहे, धर्म और नीति के रास्ते बड़े अलग हैं। नीति के रास्ते से अनीति कभी समाप्त नही होती। धर्म के रास्ते से अनीति का कोई पता ही नही चलता। लेकिन नैतिक आदमी धर्म से भी डरता है। क्योंकि उसे डर लगता है कि अगर अनीति पर कोई नियन्त्रण न रहे तो फिर क्या होगा ? उसे पता ही नहीं है कि चेतना की ऐसी दशा भी है जहाँ नियन्त्रण की कोई जरूरत ही नहो होती। चेतना की इतनी प्रबुद्ध स्थिति भी है जहाँ विकार सामने आने की हिम्मत ही नहीं करते। इतना जागरूक व्यक्तित्व भी होता है जहाँ अँधेरा निकट आने का साहस नही जुटा पाते। वहाँ कोई नियन्त्रण नहीं है।

संन्यास धर्म की परम आकांक्षा है। संन्यासी वह नहीं है जो नियन्त्रित है, कण्ट्रोल्ड है। संन्यासी वह नहीं है जिसने अपने ऊपर संयम थोप

लिया। संन्यासी वह है जो इतना जागा कि संयम व्यर्थ हो गया, नियन्त्रण की कोई जरूरत न रह गई। यह ठीक से समझ लें, क्योंकि आगे के सूत्र बहुत ही क्रांतिकारी हैं और इसको समझेंगे तभी खयाल में आ सकेगा। इसको ठीक से समझ लें, अन्यथा आगे के सूत्र कठिन हो जाएंगे। इसलिए उपनिषदों ने नीति की कोई बात नहीं की। ईसाइयों के पास टेन कमाण्डमेंट्स हैं और ईसाई बड़े गौरव से कह सकते हैं कि तुम्हारे उपनिषदों के पास एक भी कमाण्डमेंट नहीं, एक भी आदेश नहीं है। दस उनके पास सूत्र हैं, चोरी मत करो, व्यभिचार मत करो, झूठ मत बोलो—ऐसे दस सूत्र हैं।

एक मजाक मैंने सुनी है। सुना है कि परमात्मा उतरा और अनेक लोगों के पास गया। वह गया सबसे पहले एक राजनीतिज्ञ के पास। सोचा कि यह मान जाए तो बहुत लोग मान जाएंगे। परमात्मा ने उससे कहा कि मैं तुम्हें एक आदेश देने आया हूँ, क्या तुम लेना चाहोगे? राजनीतिज्ञ ने पूछा, पहले मैं जान लूं कि आदेश क्या है। तो परमात्मा ने कहा, झूठ मत बोलो। तो राजनीतिज्ञ ने कहा, मर गए। अगर झूठ न बोलें तो हम मर गए। राजनीति का सारा धंधा झूठ पर खड़ा है। क्षमा करें, आप कोई और आदमी खोजें। यह आदेश हम नहीं मान सकेंगे।

परमात्मा पुरोहित के पास गया, क्योंकि राजनीतिज्ञ के बाद पुरोहित का प्रभाव है। परमात्मा ने उससे भी कहा कि मैं तुम्हें कुछ आदेश देने आया हूँ। उसने कहा, कौन-सा आदेश? परमात्मा ने कहा, पहला आदेश, झूठ मत बोलो। पुरोहित ने कहा, अगर हम झूठ न बोलें तो ये सारे मन्दिर, मस्जिद, ये गिरजे, गुरुद्वारे—ये सब गिर जाएं। हमें खुद ही पता नहीं है कि तुम हो, फिर भी हम कहते हैं कि तुम हो। हमें खुद ही पता नहीं है कि कोई मोक्ष है, फिर भी हम समझाते रहते हैं कि मोक्ष है। हमें खुद ही पता नहीं कि पाप का कोई दुष्फल मिलता है, लेकिन हम लोगों को समझाते रहते हैं कि पाप का दुष्फल मिलता है और पीछे के दरवाजे से हम पाप किए चले जाते हैं। नहीं, यह नहीं हो सकेगा, यह तो हमारा पुरोहित का सारा धंधा ही गिर जाएगा। पुरोहित का धंधा ही झूठ पर खड़ा है। और जो पुरोहित जितनी हिम्मत से झूठ बोल सकता है उतना धंधा ठीक चलता है। पुरोहित ने कहा कि हमारे धंधे में झूठ और सच में एक ही फर्क है—हिम्मत से बोलने का। क्षमा करें, हम आपकी पूजा-प्रार्थना करते रहते हैं लेकिन यह काम

अगर हमने किया तो बड़ी गड़बड़ हो जाएगी।

इस प्रकार ईश्वर बहुत लोगों के पास भटका। वह एक व्यापारी के पास गया। वह एक वकील के पास गया। उसने बहुत तरह के लोगों से सलाह ली, कोई राजी न हुआ। कहते हैं, फिर वह मूसा के पास गया जो यहूदियों के प्रॉफेट हैं। यहूदियों के सम्बन्ध में आपको एक बात खयाल में दे दूं तो समझ में आ जाएगा। यहूदी खरीदने-बेचने की भाषा में सोचते हैं, व्यापारी हैं, पक्के व्यापारी हैं। जिनके भी पास ईश्वर गया, उन्होंने पूछा, कौन-सा आदेश ? जब यहूदी मूसा के पास ईश्वर गया और उसने कहा, मैं कुछ आदेश तुम्हें देना चाहता हूँ, तो मूसा ने पूछा, कितने दाम होंगे ? 'हाउ मच इट विल कॉस्ट।' यहूदी यही पूछेगा। जैनी के पास आता तो जैनी भी यही पूछते कि 'हाउ मच इटविल कॉस्ट।' ईश्वर ने कहा नहीं, कुछ भी कीमत नहीं, मुफ्त मे दूंगा। तो मूसा ने कहा "देन आई विल टेक टेन।" (तो मैं दस लूंगा) क्या हर्जा है। अगर मुफ्त ही दे रहे हो तो दस दे दो। एक की क्या बात है। इसलिए दस आदेश ईश्वर ने दिए— टेन कमाण्डमेंट्स। लेकिन उपनिषदों के पास ऐसा कोई आदेश नही है। चोरी मत करो, बेईमानी मत करो, व्यभिचार मत करो, ये कोई आदेश नही हैं।

उपनिषद् बिलकुल नीतिशून्य हैं। कारण ? कारण यह है कि उपनिषद् धर्मग्रन्थ हैं, नीतिग्रंथ नहीं है। उपनिषद् कहते हैं, चोरी मत करो, यह तो चोरों से कहने की बात है। झूठ मत बोलो, यह तो झूठों से बोलने की बात है। हम तो उस परम सत्य के अन्वेषण करनेवाले हैं, जहाँ झूठ प्रवेश नहीं करता, जहाँ चोरी की कोई खबर नही मिलती। वहाँ इन सबकी चर्चा का क्या अर्थ ? इसकी कोई चर्चा का कारण नहीं है। हम तो परम ज्योति की तलाश कर रहे हैं, जहाँ नीति-अनीति का कोई सवाल नहीं उठता, जहाँ आदमी द्वन्द्व के पार चला जाता है।

संन्यास परमहंस अवस्था में पूरी तरह हो जाना है। यह कोई नैतिक धारणा नही, एक धार्मिक यात्रा है।

●

तीसरा प्रवचन

साधना शिविर, माऊण्ट आबू, रात्रि, दिनांक २६ सितम्बर, १९७१

यात्रा—अमृत की, अक्षय की—निःसंशयता, निर्वाण और केवल ज्ञान की

गगन सिद्धान्तः अमृत कल्लोलनदी ।
अक्षयं निरंजनम् ।
नि.संशय ऋषिः ।
निर्वाणो देवता ।
निष्कुल प्रवृत्तिः ।
निष्केवलज्ञानम् ।
ऊर्ध्वाम्नाय. ।

उनका सिद्धान्त आकाश के समान निर्लेप है, अमृत की तरंगों से युक्त (आत्मारूप) उनकी नदी होती है।

अक्षय और निर्लेप उनका स्वरूप होता है।

जो संशय शून्य है वह ऋषि है।

निर्वाण ही उनका ईष्ट है।

वे सर्व उपाधियों से मुक्त हैं।

वहाँ मात्र ज्ञान ही शेष है।

ऊर्ध्वगमन ही जिनका पथ है।

ऋषि परमहंस के स्वरूप की ओर इंगित और इशारा करता है। ऋषि कहता है, उनका सिद्धान्त आकाश की भांति निर्लिप्त है। जो भी घटित होता है, उसकी कोई रेखा आकाश पर नहीं छूटती। इसलिए आकाश के अतिरिक्त निर्लेपता का और कोई अच्छा उदाहरण नहीं है। आकाश का अर्थ है, स्पेस, खाली जगह। आपके भीतर भी आकाश है। एक बीज फूट रहा है, आकाश में जन्म ले रहा है। आकाश में वृक्ष बनेगा। कल मुर्झाएगा, वृद्ध होगा, जीर्ण-जर्जर होगा, आकाश मे गिरेगा, खो जाएगा आकाश में। लेकिन आकाश पर कोई रूपरेखा न छूट पाएगी। आकाश को पता भी नहीं चलेगा। पानी पर हम हाथ से रेखा खींचें तो बनती है, पर बनते ही मिट जाती है। पत्थर पर रेखा खींचें तो बनी रह जाती है। आकाश मे रेखा खींचें तो खिचती ही नहीं। आकाश पर कुछ भी अंकित नहीं होता।

इसलिए ऋषि कह रहा है कि वे जो परमहंस हैं, उनका सिद्धान्त आकाश की भांति निर्लेप है। और अगर सिद्धान्त आकाश की भांति निर्लेप है तो सिद्धान्त मत नहीं हो सकता, ओपीनियन नहीं हो सकता। क्योंकि जहां मत है, वहां कोई रेखा खिंच जाती है। जैसे आकाश में बादल घिर जाएँ, ऐसे ही जब चेतना पर विचार घिर जाते हैं और चेतना उन विचारों को पकड़ लेती है, तो मत का, ओपीनियन का जन्म होता है। आकाश से बादल हट जाएँ, खाली कोरा आकाश छूट जाए, जिसमें कुछ भी नहीं है—निपट शून्य है, ऐसे ही जब

भीतर चेतना छूट जाती है, जिसमें कोई विचार के बादल नहीं होते, कोई बदलियाँ नही तैरतीं, जिसमें कोई मत नही होता, तब जो शून्य चेतना है, वहाँ जो होता है, उसे ऋषि ने कहा है, वही परमहंस का सिद्धान्त है।

सिद्धान्त का हम जैसा उपयोग करते हैं, वैसा उपयोग यह नही है। सिद्धांत से हमारा अर्थ होता है, प्रिंसिपुल, मत, विचार। एक आदमी कहता है, मेरा सिद्धान्त जैन है; एक आदमी कहता है, मेरा सिद्धान्त बौद्ध है; एक आदमी कहता है, मेरा सिद्धान्त हिन्दू है। लेकिन सिद्धान्त बौद्ध, हिन्दू और जैन नही हो सकता। तब तो आकाश बँट गया, तब तो आकाश लिप्त हो गया, तब तो आकाश के विशेषण हो गए। सिद्धान्त का तो अर्थ यह होता है कि अन्त में जो सिद्ध होता है, अन्ततः जो सिद्ध होता है। जीवन जब अपने परम शिखर पर पहुँचता है, वहाँ आकर जो सिद्ध होता है, वहाँ जिसका दर्शन होता है, उस सिद्धान्त को आकाश की तरह निर्लिप्त कहा है।

इसीलिए ऋषि किसी धर्म का नही होता। सभी धर्म ऋषियों से पैदा होते हैं, लेकिन ऋषि किसी धर्म का नहीं होता। न तो जीसस ईसाई हैं और न तो मुहम्मद मुसलमान हैं और न कृष्ण हिन्दू हैं और न महावीर जैन हैं। मजे की बात इसलिए है कि महावीर से जैन विचार चलता है, मुहम्मद से इस्लाम का विचार चलता है। लेकिन मुहम्मद मुसलमान नही हैं, हो भी नही सकते। फिर यह दुर्घटना क्यो घटती है कि ऋषि तो निर्लिप्त होता है आकाश की तरह, आग्रह-शून्य होता है, विचार और मतान्धता उसमे नहीं होती? सिर्फ दर्शन होता है उसके पास। उसे दिखाई पडता है, जो है। लेकिन जब ऋषि कहने जाता है, तो जो दिखाई पड़ता है, वह शब्दो मे बँधता है और संकीर्ण हो जाता है। और जब हम, जिन्हें सत्य का कुछ भी पता नही है, सुनते हैं, तो जो हम समझते हैं वह कुछ और ही होता है। जो ऋषि जानता है वह कुछ और है, जब ऋषि उसे कहता है तब वह कुछ और है, और जब हम उसे सुनते हैं तब वह कुछ और हो जाता है। और फिर हजारों साल की यात्रा करके वह सत्य से इतना दूर हो जाता है जितना असत्य दूर होता है, और कुछ भी नहीं। महावीर से जैन-सिद्धान्त उतना ही दूर हो जाता है, जितना सत्य से असत्य दूर हो जाता है, और मुहम्मद से इस्लाम उतना ही दूर हो जाता है, और जीसस से ईसाइयत उतनी ही दूर हो जाती है। हो ही जाएगी।

ऋषि तो 'देखता' है। वह सत्य के साथ एक हो गया होता है। कोई बीच में

पर्दा और दीवाल नहीं रह जाती। लेकिन जब कहता है, तो शब्दों के पर्दे और दीवालें उठनी शुरू हो जाती है। इसलिए बहुत-से ऋषि चुप रह गए और उन्होंने कुछ भी नहीं कहा, क्योंकि उससे कुछ हल नही होता। कहने से भी तो कहा नही जाता है और नही कहने से भी नही कहा जाता। कहने से भूल का डर है, नही कहने से भूल का कोई डर नहीं है। लेकिन कहने मे एक आशा भी है कि शायद उन्हें सुनने वाला कोई भूल न करे। न कहने में वह आशा भी नही है। हजार लोगों से सत्य कहा जाए, तो हो सकता है एक आदमी समझ ले। उस एक की आशा में ही कहा गया है। नौ सौ निन्यानवे न समझ पाएँ, गलत समझ जाएँ, लेकिन न कहा जाए, तब तो हजार ही नही समझ पाएँगे, वह एक भी वंचित रह जाएगा।

बुद्ध को ज्ञान हुआ तो उन्हें लगा कि जो जाना है उसे कहूँगा कैसे, इसलिए बुद्ध चुप रह गए। सात दिन तक वे चुप थे। बहुत मीठी कथा है कि देवताओ ने बुद्ध के चरणो में सिर रखे और उनसे कहा कि जो तुमने जाना है वह कहो, क्योंकि तुम्हारे-जैसा पुरुष हजारो वर्षों में पृथ्वी पर एक बार आता है। हजारो वर्षों मे कभी यह अवसर मिलता है कि अन्धे भी प्रकाश की बात सुन सकें और बहरे भी संगीत से भर जाएँ। लँगड़े भी चल सकें उठकर, मुर्दे भी जीवन की आशा से हरे हो जाएँ। तुम बोलो। पर बुद्ध ने कहा, जो मैंने जाना है, वह बोला नही जा सकता और फिर मैं सोचता हूँ कि मैं बोलूँ भी तो जो मुझे समझ पाएँगे, वे मेरे बिना बोले भी समझ जाएँगे। जो इस योग्य होंगे कि मुझे समझ पाएँ, वे मेरे बिना बोले भी समझ जाएँगे। और जो मेरे नहीं बोलने पर नही समझ रहे हैं, वे वे ही होंगे, जो मेरे बोलने पर भी नही समझ पाएँगे। इसलिए मेरे चुप रह जाने में हर्ज क्या है?

देवता बहुत व्यथित हुए, बहुत चिन्तित हुए। उन्होने आपस में बहुत मन्थन-मनन किया। फिर बुद्ध से निवेदन किया कि कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो बिलकुल किनारे पर खड़े हैं (जस्ट ऑन द बाउण्ड्री)। अगर आप न बोलें तो वे इसी पार रह जाएँ, अगर आप बोलें तो वे एक कदम उठाएँ और उस पार हो जाएँ। आप ठीक कहते हैं कि कुछ जो मुझे सुनकर समझ पाएँगे वह मुझे बिना सुने ही समझ लेंगे। उनकी योग्यता इतनी है। कुछ, जो मुझे बिना बोले नहीं समझ सकते, वे मुझे सुनकर भी गलत समझ

लेंगे। उनकी अयोग्यता इतनी है। इन दोना के बीच में कुछ लोग हैं, जो आप नहीं बोलेंगे तो शायद इसी पार रह जाएंगे और आप बोलेंगे तो शायद उस पार हो जाएंगे। वे बिलकुल किनारे पर हैं। जैसे पानी अगर निन्यानवे डिग्री पर उबलता हो तो आपके हाथ की गर्मी भी उसे सौ डिग्री कर देगी। वह भाप बन सकता है। माना कि जो बर्फ है, वह आपके हाथ को ही ठंडा करेगा और यह भी माना कि जो सौ डिग्री पर पहुंच ही गया है, उसको आपके हाथ की गर्मी की भी कोई जरूरत नहीं, वह भाप बन ही जाएगा। लेकिन इन दोनों के बीच में भी कुछ हैं, उन पर कृपा करें। बुद्ध को कुछ सूझा नहीं और उन्हें राजी होना पड़ा—उनके लिए बोलने को जो शायद दोनो के बीच में हों। ऋषि सदा उनके लिए ही बोले हैं, जो दोनों के बीच में हैं।

तो ऋषियों ने सिद्धान्त कहे—मत नहीं, वाद नहीं, इज्म नहीं। केवल वही कहा है जो जीवन का परम रहस्य है। वह ऋषियों का विचार नहीं है, वह उनका अनुभव है। अनुभव और विचार में थोड़ा फर्क होता है, उसे समझ लें। विचार होता है उस चीज के संबन्ध में जिसका हमें कोई पता नहीं। अगर आपसे कोई पूछे कि ईश्वर के सम्बन्ध में आपका क्या विचार है, तो आप जरूर कोई विचार देंगे। आप कहेंगे, मैं मानता हूँ ईश्वर को; या आप कहेंगे, मैं नहीं मानता ईश्वर को। लेकिन ये दोनो आपके विचार हैं। न तो जो मानता है, उसे पता है और न उसे पता है, जो नहीं मानता है। वे एक ही गड्ढे में खड़े हैं। उन्होंने अपने गड्ढे का नाम अलग-अलग रख छोड़ा है। वे एक ही अँधेरे में खड़े हैं। लेकिन जो जानता है, वह यह नहीं कहेगा कि मै मानता हूँ या नहीं मानत हूँ। वह कहेगा, मै जानता हूँ।

एक बहुत बड़े वैज्ञानिक लापलेस ने पाँच ग्रन्थों में नेपोलियन के समय में विश्व की पूरी व्यवस्था के बाबत एक किताब लिखी। यह किताब अनूठी है—पूरे ब्रह्माण्ड के बाबत! बड़ी किताब है। नेपोलियन ने किताब को उलटा-पलटा। वह चकित हुआ कि पाँच खंडों में हजारों पृष्ठों की किताब है विश्व के सम्बन्ध में, लेकिन ईश्वर का एक जगह भी नाम नहीं आया। लापलेस को उसने राजमहल में बुलाया और कहा कि किताब अद्भुत है और तुमने श्रम किया है, जीवन भर लगाया है; लेकिन मैं सोचता था कि विश्व के सम्बन्ध में जो इतनी महान किताब है, उसमें कहीं तो ईश्वर का उल्लेख होगा। पर ईश्वर

शब्द का उल्लेख एक बार भी नहीं है। खंडन के लिए भी नहीं। यह भी तुमने नहीं कहा कि ईश्वर नहीं है।

लापलेस ने कहा, ईश्वर की जो हाईपोथीसिस है, परिकल्पना है, ईश्वर का जो विचार है, उसकी मुझे जगत् को समझाने की कोई जरूरत नहीं। "द हाईपोथीसिस ऑफ गॉड इज नॉट रिक्वायर्ड टु एक्सप्लेन द युनिवर्स।" नेपोलियन का प्रधान मंत्री पास मे बैठा हुआ था। वह भी गणितज्ञ और विचारक था। उसने कहा, ईश्वर की परिकल्पना (हाईपोथीसिस) तुम्हारे लिए विश्व को समझाने के लिए जरूरी न हो, "बट हाइपोथीसिस इज ब्यूटिफुल, इट एक्सप्लेन्स मेनी थिंग्स।"–परिकल्पना खूबसूरत है, सुन्दर है। यह बहुत-सी चीजों को समझाने के लिए उपयोगी है। मैं भी ईश्वर को मानता हूँ, उसने कहा। लापलेस ने कहा, मैं तो ईश्वर को नहीं मानता हूँ। नेपोलियन ने पूछा, तुम दोनो मे मुझे कोई फर्क नही मालूम पड़ता। तुम दोनो ही कहते हो, "द हाईपोथीसिस आफ गॉड" तुम दोनों ही कहते हो, "ईश्वर की परिकल्पना"। तुम दोनो ही कहते हो, ईश्वर का विचार। एक कहता है, नहीं मानता हूँ, मानने की जरूरत नही है। दूसरा कहता है, मैं मानता हूँ, जरूरत है। लेकिन तुम दोनो में से कोई भी यह नहीं कहता कि मैं जानता हूँ कि ईश्वर है।

परिकल्पना की जरूरत है। उससे कुछ चीजें समझाने में आसानी पड़ती है। अगर कल हमे कोई दूसरी परिकल्पना मिल जाए, जो और अच्छे ढंग से समझा सके, तो हम ईश्वर को उठाकर बाहर कर देंगे। परिकल्पना का अर्थ होता है, अबतक उपलब्ध विचारों में सर्वाधिक उपयोगी। कल ज्यादा उपयोगी परिकल्पना मिल जाए, तो इसे हम हटा देंगे। इसलिए विज्ञान अपनी परिकल्पना रोज बदल लेता है। कल तक परिकल्पना एक काम करती थी। फिर परिकल्पना का अर्थ है सिर्फ हाईपोथेटिकल, सिर्फ हमने कल्पना की है कि इस सत्य का हमें पता नही है। लेकिन कल्पना कर लेने से, इसको सत्य मान लेने से, कुछ उलझी बातों को सुलझाने में आसानी होती है। कल अच्छी कल्पना मिल जाएगी, तो हम इसे हटाकर रिप्लेस कर देंगे, उसे इसकी जगह रख देंगे।

नेपोलियन ने ठीक कहा कि जहाँ तक मैं समझता हूँ, तुममें कोई विवाद नहीं है—"यू बोथ ऐग्री इन वन थिंग, दैट गॉड इज हाईपोथी-सिस।" (तुम दोनो एक बात में राजी हो कि ईश्वर एक परिकल्पना है)। एक

कहता है, उपयोगी नहीं है; एक कहता है, उपयोगी है। लेकिन विवाद गहरा नहीं है। ईश्वर है, ऐसा तुम दोनों नहीं कहते।

ऋषि यह नहीं कहता कि ईश्वर की परिकल्पना उपयोगी है। ऋषि यह भी नहीं कहता कि ईश्वर है। ऋषि कहता है, जो है, उसका नाम ईश्वर है। ऋषि ऐसा भी नहीं कहता कि "ईश्वर है," क्योंकि जिसे भी हम कहें, "है" वह "नहीं है" भी हो सकता है। हम कहते हैं, वृक्ष है, कल नहीं हो जाएगा। हम कहते हैं, नदी है, कल सूख जाएगी। हम कहते हैं, जवानी है, कल बुढ़ापा आ जाएगा। हम कहते हैं, सौंदर्य है, कल कुरूप हो जाएँगे। जो भी है, वह नहीं होने की संभावनाओं को भीतर लिये हुए है। इसलिए ऋषि यह भी नहीं कहते कि ईश्वर है। वे नहीं कहते कि "गॉड एक्जिस्ट्स।" वे कहते हैं, जो है उसका नाम ईश्वर है। "दैट व्हिच एग्जिस्ट्स इज गॉड" जो है, उसका नाम ईश्वर है। यह और बड़ी बात है। इसका अर्थ हुआ ईश्वर, अर्थात् अस्तित्व। ईश्वर अर्थात् होना। जो भी है, वह ईश्वर है। ईश्वर और सब चीजों की तरह एक चीज नहीं है, और सब वस्तुओं की तरह एक वस्तु नहीं है। ईश्वर होने का गुण है। इसलिए ऋषि तो कहेंगे, 'ईश्वर है', ऐसा कहना पुनरुक्ति है, रिपीटीशन है। क्योंकि ईश्वर का मतलब होता है "है" और है का भी मतलब होता है, ईश्वर। ऐसे परम सिद्धान्त को कहना बड़ा कठिन है।

ईश्वर, अस्तित्व, परम सत्य—इसे जानना तो उतना कठिन नहीं है, जितना उसे कहना कठिन है। क्योंकि कहते ही उन शब्दों का सहारा लेना पड़ता है, जो पूर्ण को कहने के लिए नहीं बने हैं, जो अपूर्ण को कहने के लिए बने हैं। पर ऋषियों का जो सिद्धान्त है, वह मत नहीं, विवाद नहीं, वाद नहीं, हाइपोथीसिस नहीं। वह उनकी अनुभूति है। यह अनुभूति आकाश-जैसी निर्लेप है। इसमें विचार का कोई भी आवरण नहीं है। यह खुले मुक्त आकाश-जैसा है।

आप जब आकाश की तरफ देखते हैं, तो आकाश नीला दिखाई पड़ता है। आप सोचते होंगे कि आकाश का रंग नीला है, तो आपने गलती कर दी। आकाश का कोई रंग नहीं है। दिखाई पड़ता है आपको नीला, पर आकाश का कोई रंग नहीं है। आपको नीला दिखाई पड़ने के कारण बीच की हवाएँ हैं। बीच में हवाओं की परतें हैं दो सौ मील तक। सूर्य की किरणें इन दो सौ

मील तक हवाओं में प्रवेश करके नीलिमा की भ्रांति पैदा करती हैं। इसलिए जैसे ही इन दो सौ मील के पार अंतरिक्ष में यात्री पहुँच जाता है, आकाश रंगहीन हो जाता है, कलरलेस हो जाता है।

आकाश मे कोई रंग नही है, लेकिन हमारी आँख आकाश में रंग डाल देती है। उसे भी नीला कर देती है। अस्तित्व में भी कोई रंग नही है। लेकिन हमारे विचार और हमारी देखने की दृष्टि उसमें भी रग डाल देती है। हम वही देख लेते हैं जो हम देख सकते हैं, वह नहीं, जो है। लेकिन ऋषि तो वही देखते हैं, जो है। अगर वही देखना है जो है, तो अपनी आँखों से छुटकारा चाहिए। अगर वही सुनना है जो है, तो कानो से छुटकारा चाहिए! यह बात बड़ी उलटी लगेगी। बिना आँखो के देखेंगे कैसे, बिना कानों के सुनेंगे कैसे! और मैं कह रहा हूँ, वही देखना है जो है, तो आँख बीच में नही चाहिए, नहीं तो आँख बीच में उपद्रव पैदा करती है। कभी आप प्रयोग करें, तो समझ मे आ जाएगा।

जब पहली दफा गैलेलियो ने दूरबीन बनाई, खुर्दबीन बनाई, जिनसे दूर की चीजें देखी जा सकती हैं और पास की चीजें सैकड़ों गुनी बड़ी हो जाती है, तो गैलेलियो के सबंध में खबर उड़ गई; लोगों ने कहा कि यह आदमी कुछ चकमा दे रहा है। ऐसा कहीं हो सकता है? चीजें जितनी बड़ी हैं, उतनी बडी हैं। अगर एक पत्थर तीन इंच का है, तो तीन इंच का है; हजार इंच का कैसे दिखाई पड सकता है। और अगर दिखाई पड सकता है, तो कोई धोखा है। खुली आँख से तारे हैं, वे दिखाई पड़ते हैं। अगर दूरबीन से ऐसे भी तारे दिखाई पड़ते हैं जो खुली आँख से दिखाई नहीं पड़ते, तो कहीं जरूर कोई धोखा है।

बड़े-बड़े पण्डित और युनिवर्सिटी के प्रोफेसर गैलेलियो की दूरबीन से देखने को राजी नहीं हुए। उन्होंने कहा, तुम्हारी दूरबीन हमें धोखा दे सकती है। जो राजी हुए, वे देखकर हट गए। उन्होंने कहा, इसमें कुछ चालबाजी है। क्योंकि जिस चेहरे को हम सुन्दर और प्रीतिकर कहते थे, वह तुम्हारी खुर्दबीन से ऐसा दिखाई पड़ता है, जैसे ऊबड़-खाबड़ जमीन है। अगर चेहरे को बड़ा कर दिया जाए, तो उसके छोटे-छोटे छेद बड़े गड्ढे हो जाते हैं। सुन्दर से सुन्दर स्त्री ऐसी मालूम पड़ती है, जैसे पहाड़ी स्थान पर यात्रा कर रहे हैं।

यह बहुत घबड़ाने वाला मामला है। लेकिन अब तो दूरबीन और खुर्दबीन स्वीकृत हो गई। अब बड़ी मुश्किल है। आंख जो कहती है, वह सच है या जो दूरबीन और खुर्दबीन कहती है, वह सच है? सच में आंख जिस चेहरे को सुन्दर कहती है, वह सुन्दर है या खुर्दबीन, जो और गहरा देखती है, आंख से ज्यादा देखती है? दूरबीन आंख के देखने की क्षमता को बड़ा कर देती है। तो वह जो चेहरा दिखाई पड़ता है खुर्दबीन से, वह भी सही है।

अब एल एस डी का आविष्कार हुआ है। अगर एल एस डी ले ले तो जो स्त्री बिलकुल ही बदशकल मालूम पड़ती है, वह भी खूबसूरत मालूम पड़ती है। हक्सले ने जब पहली दफे एल एस डी (एक रासायनिक द्रव जो आदमी को गहरी सम्मोहन तंद्रा में ले जाता है) लिया, तो उसके सामने रखी साधारण कुर्सी उसे इतनी खूबसूरत मालूम पड़ने लगी जितनी मजनू को लैला कभी भी मालूम नही हुई होगी। वह बहुत घबड़ाया, क्योंकि कुर्सी से ऐसे रंग निकलते मालूम पड़ने लगे और कुर्सी ऐसी प्रीतिकर लगने लगी कि उसने कहा, अगर कोई भी महानतम काव्य लिखा जा सकता है, अगर कालीदास और शेक्सपीयर को फिर से पैदा होकर काव्य लिखना हो, तो इस कुर्सी के सामने बैठकर लिखना चाहिए। यह बड़ी प्रेरक है। एल एस डी का नशा उतर गया, कुर्सी वही की वही हो गई। सही क्या था? वह जो एल एस डी के प्रभाव में दिखाई पड़ा था वह, या जो खाली आंख मे दिखाई पड़ा था वह? नही, ऋषि कहते हैं, चाहे खुर्दबीन से देखो, चाहे आंख से देखो, जब तक किसी माध्यम से देखोगे, तब तक जो भी दिखाई पड़ेगा, वह माध्यम से ही निर्धारित होगा। अगर उसे देखना है "जो है", तो फिर बीच में कोई माध्यम नहीं चाहिए।

मुझे याद आता है कि मुल्ला नसरुद्दीन जीवन के अंतिम दिनों मे एक सम्राट् का प्रधान मंत्री हो गया था। महीने दो महीने में वह विश्राम के लिए पास के एक हिल स्टेशन पर, एक पहाड़ी जगह पर, चला आता था, जहां उसने एक बंगला बना रखा था। सम्राट् थोड़े दिनों में चकित हुआ क्योंकि नसरुद्दीन कभी कहकर जाता कि मैं बीस दिन बाद लौटूंगा तो पांच दिन में लौट आता। कभी कहकर जाता कि पांच दिन में लौटूंगा, तो बीस दिन लगा देता। सम्राट् ने पूछा कि बात क्या है?

तुम कह जाते हो, पर समय से वापस नहीं लौटते ! तुम्हारे लौटने का ढंग क्या है ? किस हिसाब से लौटते हो ?

नसरुद्दीन ने कहा, अगर आप पूछते ही हैं तो मैं अपना हिसाब बता दूं। सम्राट् ने कहा, ऐसा कुछ गुप्त है ? नसरुद्दीन ने कहा कि बहुत गुप्त है। मैंने एक नौकरानी छोड़ रखी है उस बगले पर, पहाड़ पर। वह कोई सत्तर साल की बूढ़ी है। दांत उसके एक भी बचे नही हैं। एक आंख पत्थर की है। एक टांग लकड़ी की है। शरीर ऐसा है, जो कभी का मर जाना चाहिए था। जब वह औरत मुझे सुन्दर मालूम पड़ने लगती है, तब मैं भाग खडा होता हूँ। पांच दिन लगें, सात दिन लगें, दस दिन लगें, लेकिन जैसे ही मुझे वह औरत सुन्दर मालूम पड़ने लगती है, मैं समझ जाता हूँ कि अब यहाँ से भाग जाना चाहिए। कितने दिन लगेंगे इस घटना के लिए, यह पहले से बिलकुल पक्का तय करना मुश्किल है। कभी वह मुझे पांच दिन में सुन्दर मालूम पडने लगती है, तो मैं अपना बोरिया-बिस्तर बाँधकर वहाँ से भाग खड़ा हो जाता हूँ। कभी दस दिन भी लग जाते हैं, कभी बीस दिन भी लग जाते हैं। लेकिन मापदण्ड मेरा यही है। मै तब समझता हूँ कि अब होश मेरे हाथ से गया। अब यहाँ से हट जाना चाहिए। एल एस डी भीतर से पैदा हो जाता है। बाहर से लेने की जरूरत नहीं है, भीतर भी पैदा होता है।

सारा का सारा, जिसको हम सेक्सुअल अट्रैक्शन कहते हैं, कामुक आकर्षण कहते हैं, वह कुछ भी नही है। वह आपके ग्लेंड्स से बहने वाले रस-केमिकल्स-के कारण है, और कुछ भी नही हैं। अगर आपके शरीर से थोड़ी-सी ग्रंथियाँ और रसो को पैदा करने वाले सूत्र अलग कर लिये जाएँ, तो आपको कोई भी स्त्री सुन्दर दिखाई पड़नी बन्द हो जाएगी। कोई भी पुरुष सुन्दर दिखाई पडना बन्द हो जाएगा। आपके बीच और जो दिखाई पड़ता है उसके बीच में रस की एक धार आ जाती है—वह चाहे एल एस डी बाहर से लेने पर आवे, चाहे भीतर से पैदा हो जाए। आदमी के भीतर भी हिप्नोटिक ड्रग्स पैदा होते हैं। जवानी में उसी तरह का पागलपन पैदा होता है। वही मूर्च्छा पकड़ लेती है।

ऋषि कहते हैं, माध्यम से जब भी कुछ देखा जाएगा—किसी भी माध्यम से—तो माध्यम भी विकार पैदा करेगा। वह जो निर्लेप आकाश-जैसा सिद्धान्त है, उसे तो तभी देखा जा सकता है, जब देखने वाले ने अपने देखने के

सब साधन छोड़ दिए — ऑल इन्सट्रूमेंट्स आफ द्विज़न। न अपने कान का उपयोग करता है सुनने के लिए, न अपनी आंख का उपयोग करता है देखने के लिए, न अपने हाथ का उपयोग करता है छूने के लिए।

ध्यान रहे, ध्यान की गहराई में वह दिन आ जाता है, जब बिना छुए स्पर्श होता है और बिना आंख के दिखाई पड़ता है और बिना कान के स्वर सुनाई पड़ने लगते हैं। जो बिना कान के सुनाई पड़ता है, उसे ऋषि ने अनाहत नाद कहा है। जो बिना आंख के दिखाई पड़ता है, उसे ऋषि ने अमूर्त कहा है। लेकिन उस अनुभव के पहले स्वयं भी आकाश-जैसा निर्मल और निर्लेप हो जाना चाहिए। सारी इन्द्रियां हट जाएं बीच से, तो भीतर वह, जो चेतना का आकाश है, मुक्त हो जाता है और बाहर के आकाश से एक हो जाता है।

अमृत की तरंगों से युक्त, जैसे अमृत से भरी हुई सरिता हो, ऐसी उनकी आत्मा है। हमे यह समझना कठिन होगा। हम तो यहां से समझना शुरू करें तो आसान होगा कि दुख की तरंगों से भरा हुआ सब कुछ, नरक की लपटों से भरा हुआ सब कुछ, ऐसी हमारी स्थिति है। वहां अमृत का तो कहीं कोई पता नहीं चलता, सिर्फ जहर ही जहर मिलता है। सुख नहीं होता, दुख ही दुख के कांटे सारे जीवन मे चुभ जाते हैं। सुख का कोई फूल नही खिलता। तो जिन ऋषियों की यह बात की जा रही है कि अमृत की तरंगो से भरी हुई जैसे कोई सरिता हो, ऐसी उनकी चेतना है, यह हमारे खयाल में न आएगा। कुछ भी रास्ता हमें नही सूझेगा कि हम इसे कैसे समझें। हम तो जानते हैं मृत्यु को, अमृत को तो नहीं जानते। हम जानते हैं दुख को, आनन्द को तो हम नहीं जानते। हम जानते हैं विषाद को, पीड़ा को, आह्लाद को; अहोभाव को हम नहीं जानते। हमारा सारा अनुभव नरक का है। ठीक इसके विपरीत हो सकता है। हमारे नरक में ही सूचना छिपी है इसके विपरीत होने की। दुख का हमें अनुभव ही इसीलिए होता है कि हमारी चेतना दुख के लिए निर्मित नहीं है। अगर हमारी चेतना दुख ही होती, तो हमें दुख का अनुभव न होता। अनुभव सदा विपरीत का होता है। इसे ठीक से खयाल में ले लें।

अनुभव सदा विपरीत का होता है। अगर मुझे दुख का अनुभव होता है तो उसका अर्थ ही यही है कि मेरे भीतर कोई है, जिसका स्वभाव दुख नहीं है। नहीं तो अनुभव न होता। अगर मेरे भीतर जो हो, उसका स्वभाव भी दुख है, तो बाहर का दुख आता और मिट जाता और एक हो जाता। मैं और

धनी हो जाता। मैं और सम्पत्तिशाली हो जाता। पीड़ा न होती, परेशानी न होती, चिन्ता न होती। अँधेरे में थोड़ा अँधेरा और आकर मिल जाता, तो कौन सी खलल पड़ती। जहर मे थोड़ा जहर और आ जाता, तो क्या जहर की मात्रा बढ़ने से कुछ परेशानी होती? नहीं, परेशानी विपरीत के कारण होती है। वह जो हमारे भीतर छिपा है, वह परम आनन्द स्वभाव वाला है। जरा-सा दुख काँटे की तरह छिद जाता है।

वह जो हमारे भीतर छिपा है, वह अमृत है। इसलिए मौत को कितना ही भुलाओ, वह भूलती नहीं। वह चारो तरफ से घेर कर खड़ी हो जाती है और दिखाई पड़ती है। अगर सच में हमारे भीतर भी मौत होती, तो हमें *मौत का कोई भय भी न होता, मौत की कोई चिन्ता भी न होती।* अगर हम मौत ही होते, तो मौत और हमारे बीच एक संगति होती, एक तारतम्य होता, एक हारमोनी होती। लेकिन हमारे भीतर जीवन है, और इसलिए मौत से एक संघर्ष है, एक सतत् संघर्ष है। मजे की बात यह है कि आप रोज लोगों को मरते देखते हैं और साधु-सन्त आपको समझाते फिरते हैं कि देखो, इतने लोग मर रहे हैं, तुम भी मरोगे, अब तुम मौत को स्मरण करो। फिर भी हमारे भीतर न मालूम क्या है कि कितना ही लोगों को मरते देखो, यह खयाल कभी नही आता कि मैं भी मरूँगा। सामने कोई मरा पड़ा है, तो भी हम कहते हैं, *बेचारा मर गया।* *लेकिन ऐसा खयाल नहीं आता कि मैं भी मरूँगा।* हम बहुत समझाने की कोशिश करें अपने को, तो भी समझ में नही आता। कुछ बातें हैं, जो समझ में आ ही नहीं सकती।

मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन काफी हाउस में बैठकर बात कर रहा था और अपने मित्रों को कह रहा था कि कुछ ऐसी बातें हैं, जो मानी ही नही जा सकतीं, जो असंभव हैं। उन मित्रो ने पूछा कि उदाहरण के लिए एकाध बात कहो। तो मुल्ला ने कहा, जैसे कल मैं रास्ते से निकल रहा था। *अँधेरा था,* एक दरवाजे के पास दो व्यक्ति खड़े होकर बात कर रहे थे कि सुना है हमने, मुल्ला नसरुद्दीन मर गया। मैंने भी सुना, लेकिन मुझे भरोसा न आ सका। कैसे भरोसा आ सकता है?

आप जानकर हैरान होंगे कि जो लोग बिना किसी पीड़ा के चुपचाप मर जाते हैं, उन्हें मरने के बाद कई घंटे लग जाते हैं यह भरोसा करने मे, कि वे मर गए। इसलिए हमने इन्तजाम किया है कि जैसे ही कोई मर जाता है, सारा

घर छाती पीटकर रोता है, चिल्लाता है, अर्थी बांधी जाने लगती है। बैण्ड-ढोल बजने लगता है, ले जाने की तैयारी शुरू हो जाती है। ज्यादा देर नहीं करते, जल्दी मरघट पहुंचाते है, जलाते हैं। इसके पीछे कारण है। इसके पीछे कारण है ताकि उस चेतना को पता हो जाए कि उसका शरीर से संबन्ध टूट गया, और जिसे उसने अब तक जाना था कि मैं था, वह मर चुका है।

मृत शरीर को गाड़ने से यह फायदा नही होता। इसलिए जिन्होंने आत्मा और मृत्यु के सम्बन्ध में सर्वाधिक खोज की है, उन्होंने गाड़ने पर जोर नहीं दिया। हां, सिर्फ संन्यासी को गाड़ते हैं, क्योंकि उसको तो पहले ही से पता है। उसे जलाने से कुछ नया पता नही चलेगा। वह जलने के पहले भी जानता है कि जो जलने वाला है, वह जलेगा। इसलिए सिर्फ सन्यासी को हम गाड़ते हैं, या छोटे बच्चों को गाड़ते हैं। बाकी को हम जलाते है। छोटे बच्चों को भी इसीलिए गाड़ते हैं कि वे भी अभी इतने भोले हैं कि शायद अभी जीवन ने उन्हें विकृत नहीं किया होगा। सन्यासी को भी इसीलिए गाड़ते हैं कि वह इतना भोला हो गया है कि जीवन ने जो विकार दिए थे, वे पोंछ दिए गए। लेकिन बाकी को हमें जलाना पड़ता है। असल मे हम इतने जोर से अपने शरीर के साथ बंधे हैं कि जब तक कोई हमारे शरीर को जलाकर राख न कर दे, तब तक हमे यह भरोसा नही होगा कि यह शरीर हमारा था और अब नही है, समाप्त हो गया।

इस अर्थ में हिन्दू इस पृथ्वी पर अद्भुत हैं। उन्होने कुछ गहनतम बातें खोजी हैं। बाप मर जाता है, तो उसके बड़े लड़के से उसका सिर तोड़वाते हैं। यह बडा कठोर और कुरूप मालूम पडता है। बिना सिर फोड़े भी जलना हो सकता है। सिर फोड़ने की क्या जरूरत है? और यह काम नौकर-चाकर से भी लिया जा सकता है। गांव मे बाप के कोई दुश्मन भी होंगे, इसमें उनको आनन्द भी आ सकता था, उनसे यह काम लिया जा सकता था। यह उ के बेटे से ही करवाने का क्या कारण है? हिन्दुस्तान मे बाप इसलिए रोते हैं कि अगर बेटा न हुआ, तो अन्तिम क्रिया कौन करेगा। इसलिए बेटे को पैदा करते हैं कि वह अन्तिम जो क्रिया है 'कपाल क्रिया', सिर तोड़ने की, वह बेटा करेगा। क्यों? इनको सूत्र का पता था। शरीर तो जलेगा ही, इसके साथ एक और तरकीब और साधना का क्रम कि वह बेटा ही बाप के सिर को तोड़ देगा, जिससे जन्म दिया था इस बेटे को। वह उसकी

मृत्यु में सहयोगी होगा। वह मरने की पूरी घटना करवा देगा ताकि आप की जो घूंटती हुई चेतना है, वह सम्बन्धों के आग्रह से भी छूट जाए। अपना-पराया मानने का खयाल भी टूट जाए। कौन मित्र है, कौन शत्रु है, यह भी छूट जाए। कौन बेटा है, कौन बेटा नहीं है, यह भी छूट जाए। सम्बन्ध जो पकड़ लेते हैं, वह राग भी टूट जाए। इस मृत्यु में हमने उसका भी उपयोग किया था। जब बाप ने इतनी कृपा की कि जन्म दिया, तो बेटा अब जन्म तो दे नहीं सकता बापको। उऋण होगा कैसे? मृत्यु दे सकता है। सर्किल पूरी हो जाती है। यह बड़ा कठोर है, लेकिन पीछे कुछ गणित है।

यह जो हमें स्मरण नहीं आता कि हम मर जाएंगे, यह सिर्फ अज्ञान के कारण नहीं है। वस्तुतः इसलिए स्मरण नहीं आता कि भीतर हमारे वह है, जो नहीं मर सकता है। हमारे ऊपर कुछ है, जो मरेगा और हमारे भीतर कुछ है, जो नही मरेगा। जब हम दूसरे को मरते देखते हैं तो उसके ऊपर को ही मरते देखते हैं, भीतर का तो हमें कुछ पता नहीं चलता। वह हमारे भीतर जो अमृत है, वह कैसे माने। वह नहीं मान पाता। लाखो मौत घट जाएं, तो भी भीतर कोई कहे चले जाता है कि आप मर गए होंगे, लेकिन मैं अपवाद हूँ, मैं नही मरूंगा। यह सिर्फ अज्ञान के ही कारण नही है। गहरे मे तो कारण यही है कि भीतर कुछ है, मरना जिसका स्वभाव ही नहीं। कितना ही दुख मिल जाए, तो भी हम सुख की आशा बांधे चलते हैं। उसका भी कारण यही है कि कितना भी दुख मिल जाए, पर जो मेरा स्वभाव नही है, वह मेरी नियत नहीं बन सकता, वह मेरा अल्टीमेट, आखिरी रूप नहीं हो सकता। आज नहीं कल, कल नहीं परसों, इस जन्म में नहीं, अगले जन्म में, कभी-न-कभी मैं उसे तो पा ही लूंगा, जो मेरा स्वभाव है। इसलिए आनन्द की अनन्त खोज चल रही है। ऋषि कहता है, वे जो परमहंस हैं, अमृत की तरंगों से युक्त जैसे कोई सरिता हो, ऐसी उनकी चेतना है।

ध्यान रहे, लेकिन ऋषि कहता है, अमृत की तरंगों से युक्त। यह जो जीवन की भीतरी धारा है, वह डायनेमिक है, स्टैगनेंट नहीं है—गत्यात्मक है, सरिता की तरह है, सरोवर की तरह रुका हुआ नहीं। वह मरे हुए तालाब की तरह नहीं है, जिसमें पानी भरा है। वह एक बहती हुई नदी की तरह है—उफनती, दौड़ती, भागती, जीवन्त। ध्यान रहे, सरोवर अपने में बन्द और कैद होता है, पर सरिता सागर की खोज पर होती है। सागर की तरफ जो

दौड़े, वही तो सरिता का रूप है। उस सागर की तरफ जो खिंचाव हैं, कशिश है, वही तो सरिता का जीवन है। तो ऋषि कहता है, अमृत की तरंगों से भरी हुई सरिता-जैसी जिसकी चेतना है, जो निरन्तर गत्यात्मक है, गतिमान है, वह अगम की खोज में, अनन्त की खोज मे भागी चली जा रही है।

ध्यान रहे, यह मत सोचना कि जब सरिता सागर में गिरती है, तो खोज समाप्त हो जाती है। सरिता सागर में गिरती है, तो हमारे लिए मिट जाती है, लेकिन सरिता तो सागर में और गहरे, और गहरे डूबती ही चली जाती है। तट छूट जाते हैं, सरिता की सीमा मिट जाती है, लेकिन सागर की गहराइयों का कोई अन्त नही है। खोज चलती ही चली जाती है। छोटी लहरें बड़ी लहरें हो जाती हैं। अमृत के तूफान आने लगते हैं, अमृत का सागर हो जाता है; लेकिन खोज चलती ही रहती है।

यह खोज अनन्त है, क्योंकि ईश्वर को कभी चुकता नही किया जा सकता। ऐसा कोई क्षण नही आ सकता कि कोई आदमी कह दे कि (नाउ, आई पजेस) अब मेरी मुट्ठी में है ईश्वर। हाँ, ऐसा एक क्षण जरूर आता है कि खोजी कहता है कि ईश्वर ही बचा, मैं कहाँ गया! मैं कहाँ हूँ अब! वह जो खोजने निकला था, खो गया है अब; जिसे खोजने निकला था वह हो गया है। बड़ी दुर्घटना की बात है कि व्यक्ति का और परमात्मा का कभी मिलन नहीं होता। क्योंकि जब तक व्यक्ति होता है, तब तक परमात्मा प्रकट नहीं होता है; और जब परमात्मा प्रकट होता है, तो व्यक्ति खोजने से मिलता नहीं। उसके साथ एक हो गया होता है। इसलिए अनन्त खोज के प्रति चेतना की धारा होती है, ऐसा ऋषि कहता है।

अक्षय और निर्लेप उसका स्वरूप है। अक्षय और निर्लेप स्वरूप है उस चेतना का। उस अन्तरात्मा का स्वरूप है अक्षय। कितनी भी गति हो, क्षय नहीं होता। कितनी भी यात्रा हो, ऊर्जा समाप्त नही होती। कितना ही चलो—अथक, थकता नही। वह जो भीतर है, जरा भी क्षीण नहीं होता। अनन्त है स्रोत उसका। कितना ही उलीचो, चुकता नहीं है। अक्षय है, क्षय नही होता। उस चेतना का कोई क्षय नहीं है। और जिसका कोई क्षय नहीं है, वह निर्लेप ही हो सकती है, क्योंकि क्षय तो लेप का होता है। इसे थोड़ा समझ लें।

हमारे ऊपर जिन-जिन चीजों की परतें हैं, उनका क्षय होता है। शरीर की परत है, वह क्षय होती है। आज जवान है, कल बूढ़ा होगा। आज युवा है, कल वृद्ध होगा। आज शक्तिशाली है, कल जर्जर होगा। आज चलता है, कल नही चल सकेगा। आज उठता है, कल गिरेगा—मिट्टी से एक हो जाएगा। "डस्ट अन्टु डस्ट", धूलि मे धूलि मिल जाएगी। मन भी एक परत है, उसका भी क्षय होता है। वह भी क्षीण होता चला जाता है। परतें सदा क्षीण हो जाती हैं, क्योंकि जो ऊपर से चढ़ाई हैं, वे अलग हो जाती हैं। जोड़ी गई हैं, टूट जाती हैं, संयुक्त की गई हैं, वियुक्त हो जाती हैं। लेकिन भीतर जो है, जो स्वभाव है, स्वरूप है, जो मैं हूँ, जो सदा से मैं हूँ, जिससे अन्यथा मैं कभी भी नही था और जिससे अन्यथा मैं कभी भी नहीं होऊँगा, उसका क्षय नही होता।

बुद्ध से कोई पूछता है कि मैं मरूँगा तो नही। तो बुद्ध कहते हैं, जो तुम्हारे भीतर मरा ही हुआ है, वह मरेगा। और जो तुम्हारे भीतर कभी जन्मा ही नही है, उसके मरने का सवाल क्या! एक है हमारे भीतर, जो जन्मा है; जो जन्मा है, वह मरेगा। जब एक छोर हो गया, तो दूसरा छोर भी अनिवार्य है। आप एक ऐसा डण्डा नही खोज सकते जिसमे एक ही छोर हो। और अगर किसी दिन खोज लें, तो समझना कि जो जन्मा है, अब नही मरेगा। नहीं, दूसरा छोर होगा ही! जब एक छोर है, तो दूसरा छोर होगा ही। असल में एक छोर हो ही नहीं सकता, दूसरे छोर के साथ ही होता है। जो जन्मा है वह मरेगा, जो मरा है वह जन्मता रहेगा। क्या कुछ ऐसा भी है भीतर, जो जन्मा नही है? अगर उसका पता चल जाए, तो उसका भी पता चल जाता है जो मरता नही। निश्चित ही ऐसा भीतर कुछ है। लेकिन गहरे उतरना पड़ेगा, परतों के पार उतरना पड़ेगा।

हम तो परतों के इतने मतवाले हैं, जिसका कोई हिसाब नही। कोई ध्यान करता है। जरा उसका कपड़ा सरक जाता है, तो वह जल्दी से पहले कपड़ा सँभालता है। ध्यान नहीं सँभालता। कपड़ा सँभालने में ध्यान चूक जाता हूं, उसकी फिक्र नहीं है, वह सस्ती चीज है, वह खोई जा सकती है। कपड़ा जल्दी से सँभाल लेता है, यह बड़ी कीमती चीज है। इसको बचाना जरूरी है। बहुत दीन हूं आदमी। अपने हाथ से दीन हूं। क्षुद्र को बचाता रहता हूं। जो मिटेगा, उसे बचाता रहता है। जिसका कोई भी मूल्य नहीं है, उसको

तिजोरी में ताले लगाकर रखता रहता है, और जो अमूल्य है, वह बाहर पड़ा रहता है सड़क पर। उसको कोई पूछता भी नहीं!

कभी-कभी मैं देखता हूँ कि कितनी छोटी चीजें बाधा बन जाती हैं। कपड़ा बचाता है आदमी, शरीर बचाता है आदमी। किसी का धक्का लग जाता है, तो वह बच कर निकल जाता है; ध्यान के बाहर दूर जाकर बैठ जाता है। धक्का लग गया, इस शरीर को कितने दिन बचाइएगा? और धक्के से बचाने को खोजते हैं, क्या आखिरी धक्का नहीं लगेगा? अच्छा है, छोटे-मोटे धक्के का अभ्यास रखें, तो आखिर जो लगेगा तो बहुत घबराहट नहीं होगी। बिलकुल बचा-बचा कर रखा, तो बहुत मुश्किल पड़ेगी। और धक्का तो लगेगा ही। यह बचाया नहीं जा सकता। धूप तेज हो गई, तो आदमी ध्यान छोड़ देता है क्योंकि धूप तेज है। क्या फर्क पड़ेगा? थोड़ा पसीना बह जाएगा। थोड़ी चमड़ी काली पड़ जाएगी। आज नहीं, कल; कोयला बननेवाली यह चमड़ी है। आप इतना धूप से बचाते हैं और कल उसे आपके ही सगे-सम्बन्धी आग में जला देंगे। पर हम उन परतों को बचाने में लगे हैं, जो नहीं बचाई जा सकतीं, और जो सदा बचा हुआ है, उसकी हमें खबर ही नहीं मिलती। हम इसी में उलझ-उलझ नष्ट हो जाते हैं। कितने जन्म हम गँवाते हैं।

ऋषि कहता है, वह अक्षय है। उसकी खोज करो, जो अक्षय है। जो अक्षय को पा लेता है, वही धनी है; बाकी सब निर्धन हैं। क्योंकि उसने उसे पा लिया, जिसे अब चोर चुरा नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, शस्त्र छेद नहीं सकते, जो मारा नहीं जा सकता, मिटाया नहीं जा सकता। अब कोई भय न रहा। और जब भी कोई अक्षय की धारा में उतर जाता है, तो वह पाता है कि वहाँ सब निर्लेप है! वहाँ कोई विकार नहीं है।

सब विकार परतों के हैं और परतें बिना विकार के नहीं हो सकतीं, इसे समझ लें। अगर मुझे अपने शरीर पर धूलि चिपकानी हो तो पहले मुझे तेल लगाना पड़ेगा, नहीं तो धूलि का चिपकना मुश्किल होगा, क्योंकि धूलि और शरीर के बीच स्निग्धता होनी चाहिए। कुछ राग होना चाहिए, कुछ चिपकने-वाला होना चाहिए, जो जोड़ दे। अगर आपको शरीर के साथ अपने को जोड़े रखना है, तो वासना चाहिए, कामना चाहिए, तृष्णा चाहिए, इच्छा चाहिए। ये बीच की स्निग्धताएँ हैं, जिनसे जोड़ बनेगा। अगर ये बिलकुल सूख जाएँ,

तो शरीर से चेतना मुक्त हो जाए।

इसलिए तो बुद्ध और महावीर निरन्तर कहते हैं कि छोड़ दो तृष्णा, छोड़ दो वासना, छोड़ दो इच्छा। क्यों? क्योंकि ये बीच से छूट जाएँ, तो वह जो चारो तरफ धूल की परत है, उससे जोड़ टूट जाएँ। लेकिन हम परतों को सँभाले रखते हैं। परतो को सँभाले रखने के लिए उस सारे इन्तजाम को भी सँभालना पड़ता है जिनसे परतें हमसे जुड़ी रहती हैं। इसलिए हमें निर्लेप का कोई पता नहीं चलता। परतों के साथ तो विकारों का ही पता चलता है, क्योंकि विकार ही परतो को जोड़ते हैं। अगर विकार सब छूट जाएँ, तो परतें सब छूट जाएँ, उनके साथ ही अलग हो जाएँ। जोड़ने वाला बीच का तत्त्व न रह जाए, तो जो अलग है वह अलग गिर जाए, जो मैं हूँ वही बचे। इसलिए ऋषि कहता है, वह अक्षय है, निर्लेप है।

संशय से जो शून्य है, वही ऋषि है। संशय से शून्य होना ऋषि का सार अंश है। लेकिन संशय तब तक नही मिटता, जब तक इस अक्षय का अनुभव न हो। अनुभव के बिना संशय नहीं मिटता। ध्यान रखें, संशय श्रद्धा से नही मिटता, आस्था से नहीं मिटता, विश्वास से नहीं मिटता। संशय मिटता ही नहीं किसी उपाय से सिवा अनुभव के। कितना ही मैं कहूँ कि आप आग मे जलाए जाएँगे और आप नहीं जलेंगे तो आप कहेंगे, क्या कहते हैं! यदि मान भी लें मेरी बात, फिर भी आग मे कूदने को तैयार नहीं होगे और अगर तैयार होगे, तो कारण मेरी बात न होगी, कारण कुछ और होगा।

मैंने सुना है कि हिटलर से मिलने एक अंग्रेज राजनीतिज्ञ युद्ध के पहले यह देखने गया था कि हिटलर ने क्या तैयारी की है। एडाल्फ हिटलर उसे अपने कमरे में ले गया। उसका कमरा सातवी मंजिल पर था। कोई दस सिपाही पहरा देते थे। एडाल्फ हिटलर ने कहा कि तुम ब्रिटिश, झंझट मे मत पड़ो, क्योंकि मेरे पास ऐसे आदमी हैं, जो मेरी आवाज पर जान दे सकते हैं। उसने नम्बर एक के सिपाही से कहा, कूद जा। वह सातवीं मंजिल से कूद गया। वह ब्रिटिश राजनीतिज्ञ तो घबरा गया। हिटलर ने दूसरे से कहा, कूद जा। तो दूसरा सिपाही भी सात मंजिल से कूद गया। ब्रिटिश राजनीतिज्ञ तो कँप गया। अगर ऐसे सैनिक है इसके पास, तो ब्रिटेन न टिक सकेगा। हिटलर ने तीसरे सैनिक को कूदने की आज्ञा दी। उस राजनीतिज्ञ ने कहा, रुको, यह कर क्या रहे हो? रुको, मैं मान गया, मान गया, काफी है इतना, पर्याप्त

है। पास आकर उसने तीसरे सैनिक से पूछा, इतनी उतावली क्या है ? इतनी जल्दी मरने की तैयारी क्या है ? तो उस सैनिक ने कहा, अगर हम जी रहे होते, तो कौन मानता इस आज्ञा को। लेकिन इस आदमी के साथ जीने से सात मंजिल से कूद कर मर जाना बेहतर है।

कारण दूसरा ही है। अगर आप मेरी आज्ञा मानकर आग मे कूद जाएँ, तो मैं नहीं मानूंगा कि आप मेरी आज्ञा मानकर कूद गए। कारण कुछ और ही होगा। क्योंकि श्रद्धा, आस्था, भरोसा, विश्वास, सब ऊपरी है। जब तक स्वयं ही पता न चले उसका, जो अमृत है, तब तक आग मे कूदते वक्त संशय बना ही रहेगा। पता नहीं इस आदमी ने जो कहा, वह ठीक है ? पता नही उपनिषद् के ऋषि जो कहते हैं, वह ठीक है या नही ? दूसरे का कहा हुआ सदा ही संशय रहेगा। रहेगा ही। कोई उपाय नही है। स्वयं का जाना हुआ ही निस्संशय में ले जाता है।

ऋषि वही है, जो स्वयं जान लेता है। इसलिए कहा है, निस्संशय हो जाना, संशय-रिक्त, संशय शून्य हो जाना ऋषि का लक्षण है। ठीक लक्षण है। यही पहचान है। अगर कभी किसी ऋषि के पास होने का मौका मिले तो पहली बात एक ही खोजना, और वह यह कि उसे कोई संशय तो नही है! वह कभी सवाल तो नही पूछता, वह कभी प्रश्न तो नही उठाता! वह अभी भी तो कहीं यह पता लगाने नही जाता है कि सत्य क्या है ? ऋषि निस्संशय है; जो उसने जाना है, उससे उसके अपने संशय गिर गए। अब कोई प्रश्न नहीं उठता, निष्प्रश्न है। अब भीतर कोई सवाल नहीं है। कोई जवाब की खोज भी नही है।

निर्वाण ही उसका इष्ट है। निःसंशय उसका चित्त है। उसका एक ही लक्ष्य है कि मिट जाएँ, कैसे मिट जाएँ। हम सबका लक्ष्य है कि हम कैसे बच जाएँ—किस तरकीब से। अगर हम धर्म की तरफ भी जाते हैं, तो बचने के लिए। अगर हम शास्त्र भी पढ़ते हैं, तो इसी आशा मे कि शायद कोई रास्ता बचने का मिल जाए। अगर हम यह भी श्रद्धा कर लेते हैं कि आत्मा अमर है, तो इसीलिए ताकि मरना न पड़े। ठीक ही कहते होंगे ये लोग। अगर ये ठीक नही कहते, तो मरना पड़ेगा। इसलिए जितनी कमजोर कौमें हैं, आत्मा की अमरता में उतनी ही जल्दी विश्वास कर लेती हैं। और आत्मा की अमरता मे विश्वास करने वाली कौमें जमीन पर कमजोर सिद्ध हुई हैं।

उनमें हम भी एक हैं। हमसे ज्यादा भयभीत और डरे हुए लोग जमीन पर मिलना मुश्किल है। हमसे ज्यादा आत्मवादी भी खोजना मुश्किल है। इन दोनो मे कोई भी ताल-मेल नही है, क्योंकि आत्मवादी का तो अर्थ ही यही होगा कि अब मृत्यु नही रही। तो भय किसका? लेकिन हमारे मुल्क को हजार साल तक गुलाम रखा जा सकता है। हाथ में हथकड़ियाँ पड़ी रहीं और हम अपना शास्त्र पढते रहे कि आत्मा अमर है।

आत्मा अमर है, ऐसा मानने से कुछ भी नहीं होता, जानना पड़ता है। जानना निश्चित ही दूभर है, कठिन है। एक अर्थ में असंभव-जैसा है। हम एक छलांग लेने की हिम्मत नही जुटा पाते, एक कदम उठाने में डरते हैं। जिस सीढ़ी को पकड़ लिया, उसे ऐसा पकड़ते हैं कि फिर उसे कभी छोड़ना नही चाहते। जहाँ खड़े हैं, उस जमीन से हटना नहीं चाहते। और ऋषि कहता है कि ऋषियो का लक्ष्य — इष्ट — ही निर्वाण है। बुझ जाना है वहाँ। लक्ष्य यही है कि कब मिट जाऊँ।

मिटने के लिए ऐसी आतुरता क्यो है? क्योंकि ऋषि जानता है कि वही मिट सकता है, जो मिटने वाला है। वह तो मिटेगा नहीं, जो मिट नहीं सकता। इसलिए मिट कर देख लूँ कि क्या मेरा है और क्या मेरा नहीं है। वह साफ हो जाए। वह निर्णय हो जाए। मैं मर कर देख लूँ, ताकि निर्णय हो जाए कि क्या था जो मेरा था और क्या था जो मेरा नही था। मृत्यु ही निर्णायक होगी, इसलिए ध्यान मृत्यु का प्रयोग है। समाधि मृत्यु का अनुभव है। इसलिए हम सन्यासी के कब्र को समाधि कहते है। उसकी कब्र को हम समाधि इसीलिए कहते हैं, क्योंकि उस आदमी ने मरने के पहले ही जान लिया था कि क्या मरनेवाला है, और क्या नहीं मरनेवाला है। उसे नहीं मरनेवाले का पता था।

साधक का इष्ट क्या है? आप आए हैं लम्बी यात्रा करके यहाँ, किसलिए? अगर मुझसे पूछें तो मैं कहूँगा, इसीलिए, ताकि लौटते वक्त आप न बचें। आए भले हों, जाते वक्त जाने वाला न बचे। जाएँ जरूर, लेकिन भीतर सब खाली हो जाए। जिसे लेकर आए थे, उसे यहीं दफना जाना, तो ध्यान पूरा हुआ, ध्यान में गति हुई। अगर आप ही लौट गए वापिस, तो ध्यान में कोई प्रवेश न हुआ। इष्ट यही है कि मैं मिट जाऊँ, ताकि परमात्मा

ही शेष रह जाए। और मजा यह है कि जब तक मैं बचा हूं, तभी तक मैं उससे जुड़ा हूँ, जो मिटेगा। और जिस दिन मैं मिट जाता हूँ, उसी दिन उससे जुड़ जाता हूँ, जिसका कि कोई मिटना नही है।

वे सर्व उपाधियों से मुक्त हैं। जब मिट ही गए, तो उपाधियाँ क्या होंगी? क्योंकि सब उपाधियाँ "मैं" के आसपास इकट्ठी होती हैं, वह "मैं" का दरबार है। अहंकार के आसपास सब बीमारियाँ इकट्ठी होती हैं। अहंकार चला गया, तो दरबारी अपने आप चले जाते हैं। उसकी कोई जगह नहीं रह जाती। वे अपदस्थ हो जाते हैं। उपाधि एक है। वह मेरे होने का मुझे जो खयाल है, वही मेरी उपाधि है, वही मेरी बीमारी है। फिर उस बीमारी में लोभ इकट्ठा होता है, क्योंकि मुझे बचाना है अपने को, तो लोभ करना पड़ता है। फिर उस बीमारी में भय आता है, हिंसा आती है। फिर उस बीमारी में काम आता है, वासना आती है, तृष्णा आती है। फिर हजार उपाधियाँ चारों तरफ खड़ी हो जाती हैं। उस "मैं" को बचाने के लिए सुरक्षा का सारा इन्तजाम है। लेकिन जब "मैं" ही मिटने को राजी हो गया, तो इस इंतजाम की कोई जरूरत नही रह जाती। यह इन्तजाम गिर जाता है। वे उपाधियों से मुक्त हैं।

वहाँ ज्ञान मात्र ही शेष रह जाता है—निष्केवल ज्ञानम्। बस केवल ज्ञान ही शेष रह जाता है। यह शब्द महावीर को बहुत प्यारा था—"केवल ज्ञान।" बस मात्र ज्ञान ही शेष रह जाता है। वहाँ न ज्ञाता बचता है—जानने वाला, नोअर, न वहाँ वह बचता है जो जाना जाता है—नोन। वहाँ तो केवल नोइंग बच जाती है, जानना ही बच जाता है। मैं भी मिट जाता हूँ, तू भी मिट जाता है। फिर सिर्फ बीच में जो चेतना की जीवन्त धारा है, ज्योति है, वही बच जाती है। अब भी हम जानते हैं, तो वहाँ तीन होते हैं—मैं होता हूं जानने वाला, आप होते हैं जो जाना जाता है और उन दोनों के बीच का सम्बन्ध होता है, जिसे हम ज्ञान कहते हैं।

ऋषि जो मिट जाते हैं, ईश्वर को उपलब्ध हो जाते हैं, निर्वाण को पा जाते हैं। उपाधियाँ गिर जाती हैं तो वहाँ न जानने वाला बचता है, न जाना जाने वाला बचता है—न ज्ञाता और न ज्ञेय, बस ज्ञान ही शेष रह जाता है। वही बात इस अस्तित्व का परम स्वरूप है। ज्ञान मात्र— जस्ट नोइंग। ध्यान उसी की तरफ एक-एक कदम बढ़ने का उपाय है। ध्यान ज्ञान की सीढ़ी है।

ध्यान दोहरा प्रयोग है। इस तरफ गिराना है "मैं" को, उपाधियों को, तैयारी करनी है मिटने की, खो जाने की; और उस तरफ जैसे-जैसे "मैं" खोऊँगा, मिटूँगा, ज्ञान का आविर्भाव होगा। ज्ञाता नहीं बचेगा, तब ज्ञान बचता है।

और ऊर्ध्वगमन ही उनका पथ है। निरन्तर ऊपर उठते जाना ही उनका मार्ग है। देखा है, दीए की ज्योति भागती रहती है ऊपर की तरफ। देखी है, आग भागती रहती है ऊपर की तरफ। कैसा ही करो, उलटा-सीधा, भागती है ऊपर की तरफ। पानी भागता है नीचे की तरफ। चढ़ाना हो ऊपर, तो बहुत इन्तजाम करना पड़ता है, तब ऊपर चढ़ता है। इन्तजाम छोड़ दें, फिर नीचे उतर जाता है। आग को नीचे की तरफ बहाना हो, तो बहुत इन्तजाम करना पड़ेगा। ऊपर स्वभाव से जाती है।

शरीर का स्वभाव नीचे की तरफ है, पदार्थ का स्वभाव नीचे की तरफ है। चेतना का स्वभाव ऊपर की तरफ है। ऐसा समझ लें कि आदमी एक दीया है, मिट्टी का दीया। उसमें मिट्टी भी है, उसमें एक जलती हुई ज्योति भी है। उसमे तेल भी भरा है, वह मिट्टी का दीया जमीन की कोशिश से चिपका रहता है। वह दीया टूट जाए, तो तेल नीचे की तरफ बह जाता है। लेकिन वह ज्योति सदा ऊपर की तरफ भागती रहती है। ऋषि उसे कहते हैं, जिसने अपने मिट्टी के दीए के साथ तादात्म्य तोड़ लिया, जिसने तेल के साथ संगम छोड़ दिया, जिसने केवल ऊपर भागती हुई ज्योति को ही अपना स्वरूप जाना।

ऊर्ध्वगमन ही उनका पथ है। ऊपर, और ऊपर, और ऊपर वे चलते ही चले जाते हैं।

●

चौथा प्रवचन

साधना-शिविर, माऊन्ट आबू, प्रातः, दिनांक २७ सितम्बर, १९७१

पावन दीक्षा—परमात्मा से जुड़ जाने की

निरालम्ब पीठः ।

संयोगदीक्षा ।

वियोगोपदेश. ।

दीक्षा संतोषपावनम् च ।

द्वादश आदित्यावलोकनम् ।

आश्रय रहित उनका आसन है ।

(परमात्मा के साथ) संयोग ही उनकी दीक्षा ।

संसार से छूटना ही उपदेश है ।

दीक्षा संतोष है और पावन भी ।

बारह सूर्यों का वे दर्शन करते हैं ।

साधक की अन्तर भूमिका के सम्बन्ध में ये सूत्र हैं। वे जो प्रभु को खोजने निकले हैं, उन्हें निरालम्ब हो जाना पड़ता है। उन्हें और सब आश्रय खो देने पड़ते हैं, तभी प्रभु का आसरा मिलता है। उन्हें असहाय—हेल्पलेस हो जाना पड़ता है, तभी सहायता उपलब्ध होती है। जब तक उन्हें लगता है, मैं ही कर लूंगा, जब तक उन्हें लगता है कि मैं ही समर्थ हूं, जब तक उन्हें लगता है कि मेरे पास साधन है, आसरा है, आलम्बन है, तब तक वे प्रभु की अनुकम्पा पाने से वंचित रह जाते हैं। ऐसे ही, जैसे वर्षा होती है—पहाड़ पर भी होती है, पर पहाड़ वंचित रह जाते हैं। वे खुद ही अपने से इतने भरे हैं कि उन्हें और भरने की जगह नहीं, सुविधा नहीं। गड्ढों में भी होती है वर्षा, पर गड्ढे भर जाते हैं, क्योंकि वे खाली हैं। जो खाली है वह भर दिया जाता है; जो भरा है, वह खाली रह जाता है। निरालंब पीठः, आलंबन रहित, आश्रयरहित, यही उनके होने का ढंग है। यही उनका आसन है। कोई सहारा नहीं, कोई आलंबन नहीं, असुरक्षित है। असुरक्षा की इस बात को थोड़ा गहरे में खयाल कर लें।

धन हो, तो आदमी को लगता है कि मेरे पास कुछ है; पद हो, तो लगता है कि मेरे पास कुछ है। ज्ञान हो, तो लगता है कि मेरे पास कुछ है। ये सब साधन हैं। ये सब आलम्बन हैं। ये सब आश्रय हैं। इनके आधार पर आदमी अपने अहंकार को मजबूत करता है। ऋषि कहता है : निरालंब

भी.:। संन्यासी तो वे हैं, जिनके पास कोई साधन नहीं, जिनके पास कुछ भी नहीं है। कुछ भी नही है का यह अर्थ नहीं है कि वे बिना वस्त्रों के नग्न खड़े होंगे, तभी कुछ नहीं होगा। क्योंकि जो नग्न खड़ा है बिना वस्त्रों के, वह भी हो सकता है अपने त्याग को आलम्बन बना ले और कहे, मेरे पास त्याग है, दिगम्बरत्व है, नग्नता है, सन्यास है। मेरे पास कुछ है। तो फिर आलंबन हो गया।

जब आपके पास कुछ है, तो आप परमात्मा के द्वार पर पूर्ण भिक्षु की तरह खड़े नहीं हो पाते। आपकी अकड़ कायम रह जाती है। बुद्ध ने इसलिए जान कर संन्यासियों को स्वामी का नाम नहीं दिया। शब्द बहुत अद्भुत था। भिक्षु नाम दिया—भिखारी, कुछ भी नहीं है जिसके पास। भिक्षा का पात्र है; बस, और कुछ भी नहीं। वह जो भिक्षा का पात्र बुद्ध ने संन्यासियों के हाथ मे दिया, वह सिर्फ भीख माँगने के लिए ही नही था। बुद्ध कहते थे, अपने को भी एक भिक्षा का पात्र ही जानना, उससे ज्यादा नहीं; तभी उस परम सत्य की उपलब्धि हो सकेगी।

निरालंबन हो जाना अति कठिन है। मन कहता है, कोई आलंबन, कोई सहारा, कोई आश्रय—कुछ तो हाथ मे हो। अकेला न रह जाऊं, असुरक्षित न रह जाऊं, खतरे से बचने का कोई तो इन्तजाम हो! हम सब इन्तजाम करते हैं। गृहस्थ का अर्थ है—जो आलंबन की तलाश करता है। गृहस्थ का यह अर्थ नही है कि जो घर मे रहता है। गृहस्थ का अर्थ है, जो सुरक्षा का घर खोजता रहता है, कही भी असुरक्षित नही हो सकता।

एलन वॉट ने एक अद्भुत किताब लिखी है। उस किताब का नाम है "विजडम ऑफ इनसिक्यूरिटी (असुरक्षा की बुद्धिमत्ता)।" संन्यास का अर्थ यह है कि हम जान गए यह बात कि सुरक्षा का उपाय कितना भी करो, सुरक्षा हो नही पाती। कितना ही धन जोड़ो, आदमी निर्धन ही रह जाता है। भीतर गरीब ही रह जाता है। कितनी ही शक्ति का आयोजन करो, भीतर आदमी अशक्त ही रह जाता है। मृत्यु से बचने के लिए कितने ही पहरे लगाओ, मौत न मालूम किस अज्ञात मार्ग से बिना पदचाप किए आ जाती है। सारी सुरक्षा का इन्तजाम पड़ा रह जाता है और आदमी मिट जाता है। संन्यास इस बात की प्रज्ञा, इस बात की समझ है, अण्डर-स्टैंडिंग है कि सुरक्षा करके भी सुरक्षा होती कहाँ है! हो भी जाती, तो भी

ठीक था। होती ही नहीं, हो ही नहीं पाती। सिर्फ धोखा होता है, लगता है कि हम सुरक्षित हैं। हम सुरक्षित कभी हो नहीं पाते।

जिन्दगी असुरक्षा है। सिर्फ मरे हुए लोगों के अतिरिक्त कोई भी सुरक्षित नहीं है, क्योंकि सिर्फ मरे हुए लोग ही नहीं मर सकते। बाकी तो सभी मरते हैं। असुरक्षा चारों तरफ है। हम असुरक्षा के सागर में हैं। किनारे का कोई पता नहीं, गन्तव्य दिखाई नहीं पड़ता, पास में कोई नाव-पतवार नहीं। डूबना निश्चित है। फिर आँखें बन्द करके हम सपनों की नावें बना लेते हैं। आँखें बन्द कर लेते हैं और तिनकों का सहारा बना लेते हैं। तिनकों को पकड़ लेते हैं और सोचते हैं, किनारा मिल गया। यह धोखा, सेल्फ डिसेप्शन, आत्मवंचना है।

सन्यासी का अर्थ है, जिसने इस सत्य को समझा कि सुरक्षा करो कितनी ही, पर सुरक्षा नहीं होती है। मृत्यु से बचो कितना ही, मृत्यु आती ही है। कितना ही चाहो कि मैं न मिटूं, मिटना सुनिश्चित है। और जब सुरक्षा से सुरक्षा नहीं आती, तो संन्यासी कहता है कि हम असुरक्षा में राजी है। अब हम राजी हैं, अब हम कोई झूठी नावें न बनाएँगे। अब हम कागज का सहारा न खोजेंगे। अब हम ताश के महल खड़े न करेंगे। अब हम पहरेदार न लाएँगे। अब हम तिनकों का सहारा न पकड़ेंगे। अब हम जानेंगे कि कोई किनारा नहीं। असुरक्षा का सागर है और डूबना निश्चित है और मरना अनिवार्य है। मिटेंगे ही, हम राजी हैं। अब हम कोई उपाय नहीं खोजेंगे। और जो इतने असुरक्षित होने को राजी हो जाते हैं, अचानक वे पाते हैं, असुरक्षा मिट गई। अचानक वे पाते हैं, सागर खो गया। अचानक वे पाते हैं, किनारे पर खड़े हैं।

क्यों? ऐसा क्यों हो जाता होगा? ऐसा चमत्कार क्यों घटित होता है कि जो सुरक्षा खोजता है, उसे सुरक्षा नहीं मिलती और जो असुरक्षा से राजी हो जाता है, वह सुरक्षित हो जाता है? ऐसा मिरेकल, ऐसा चमत्कार, क्यों घटित होता है? इसका कारण है। जितनी हम सुरक्षा खोजते हैं, उतनी ही हम असुरक्षा का अनुभव करते हैं। असुरक्षा का जो अनुभव है, वह सुरक्षा की खोज से पैदा होता है। जितना हम डरते हैं, जितना हम भयभीत होते हैं, उतना ही हम भय के कारण अपने चारों तरफ खोजकर खड़े करते हैं। यह जो असुरक्षा का सागर मैंने कहा, वह है नहीं, वह हमारी सुरक्षा की खोज के

कारण निर्मित हुआ है; वह एक व्हिसस सर्किल, एक दुष्चक्र है। असुरक्षा से बचने की जो आकांक्षा है, वह असुरक्षा पैदा कर देती है। जब असुरक्षा पैदा हो जाती है, तो हमारे भीतर और बचने की आकाक्षा पैदा होती है। वह और असुरक्षा पैदा कर देती है। सागर बड़ा होता जाता है। भीतर बचने की आकाक्षा प्रगाढ़ होती जाती है। वही आकाक्षा सागर को बड़ा करती है।

संन्यासी का अनुभव यह है कि जो सुरक्षा का ख्याल ही छोड़ देता है, उसकी अब असुरक्षा कैसी? जिसने मरने के लिए तैयारी कर ली, जो राजी हो गया मरने के लिए, उसकी मौत कैसी? अब मौत करेगी भी क्या? वह तो उसी पर कुछ कर पाती है जो बचता था, भागता था, सुरक्षा का इन्तजाम करता था कि मौत आ न जाए। मौत उसी के लिए है, जो मौत से भयभीत है। जो भयभीत ही नही, जो मौत को आलिंगन करने को तैयार है, उसके लिए कैसी मौत। मौत, मौत मे नही, मौत के भय में है। उस भय के कारण हमें रोज मरना पड़ता है। रोज मरने में ही जीना पड़ता है, हम जी ही नही पाते, हम मरते ही रहते हैं।

निरालंब पीठ :—संन्यासी निरालम्ब होने को ही अपनी स्थिति मानते हैं। वही स्थिति है। वे और कुछ की माँग ही नही करते। वे कहते ही नही कि हमे बचाओ। वे कहते हैं, हम तैयार हैं, जो भी हो। वे सूखे पत्तों की तरह हो जाते हैं, हवाएँ जहाँ ले जाती हैं, वही चले जाते हैं। वे नहीं कहते कि पश्चिम जाएँगे, कि पश्चिम हमारा किनारा है, कि पूरब जाएँगे, कि पूरब हमारी मंजिल है। वे नही कहते कि हवाएँ हमे आकाश में उठाएँ और बादलों के सिंहासन पर बिठा दें। हवा नीचे गिरा देती है, तो वे विश्राम करते हैं वृक्षों के तले, हवा ऊपर उठा देती है, तो वे बादलों में परिभ्रमण करते हैं। हवा पूरब ले जाती है, तो वे पूरब चले जाते हैं, हवा पश्चिम ले जाती है, तो वे पश्चिम चले जाते हैं। उनका कोई आग्रह नही है कि हमें कहीं जाना है।

जिनका कोई आग्रह नहीं है, जो किसी विशेष स्थिति के लिए आतुर नहीं हैं कि ऐसा ही हो। जो भी होता है, उसके लिए राजी हैं। उनके जीवन मे कष्ट समाप्त हो जाता है। इसलिए एलन वॉट ने कहा है, "विजडम ऑफ इनसिक्यूरिटी"। जो बुद्धिमान हैं, वे असुरक्षा के लिए राजी हो जाते हैं और सुरक्षित हो जाते हैं। संन्यासी से ज्यादा सुरक्षित कोई भी नहीं है और गृहस्थ

से ज्यादा असुरक्षित कोई भी नहीं है। गृहस्थ से ज्यादा सुरक्षा का इन्तजाम कोई नहीं करता। संन्यासी से कम सुरक्षा का इन्तजाम कौन करता है ?

निरालंब पीठः — ये दो बहुत अद्‌भुत छोटे-से शब्द हैं। उनकी बैठक, उनका आसन, निरालंब होना है। जब कोई व्यक्ति इतना साहस जुटा लेता है, तो उसे परमात्मा का आलंबन तत्क्षण उपलब्ध हो जाता है। परमात्मा केवल उनके ही काम आ सकता है, जिनका यह भ्रम छूट गया है कि हम अपने काम आ सकते हैं। हम कुछ कर लेंगे, ऐसी जिनकी भ्रांति टूट गई, जिनके कर्त्ता का भाव टूट गया, परमात्मा की सहायता केवल उन्हीं को उपलब्ध होती है, क्षण की भी देर नहीं लगती। परमात्मा की ऊर्जा दौड़ पड़ती है, आपके रोएँ-रोएँ मे समा जाती है। लेकिन हम अपने पर ही भरोसा करते चलते हैं। सोचते हैं, अपने को बचा लेंगे।

जहाँ आप बैठे हैं — एक-एक आदमी जहाँ बैठा है, वहाँ कम-से-कम दस-दस आदमियों की कब्र बन चुकी होगी। जमीन का एक भी टुकड़ा नहीं है, जहाँ दस कब्रें न बन चुकी हो। आदमियों की बात कह रहा हूँ, और प्राणियो की तो बात अलग है। वे भी यही सोचते थे, जो आप सोच रहे हैं उन्ही की जगह पर बैठकर, जहाँ दस आदमी गड़े हैं, जले हैं। यहाँ दस आदमियो की राख आपके नीचे है। वह भी यही सोच रहे थे, आप भी बैठ-कर यही सोच रहे हैं। आपके बाद भी इस जगह बैठकर और लोग यही सोचते रहेंगे। लेकिन आप एक बात नही देखते कि हमारे उपाय से तो कुछ भी नहीं होता। तो फिर हम निरुपाय होने का उपाय क्यों कर लें ? निरालंब पीठ का अर्थ है, निरुपाय जो हो गए। जो कहते हैं, हम कुछ भी न कर पाएँगे। तेरी मर्जी, उसके लिए हम राजी हैं। तू डुबा दे यहीं, तो यही हमारा किनारा है।

सयोग ही उनकी दीक्षा है। ये सूत्र ऐसे हैं जैसे केमिस्ट्री के, रसायन शास्त्र के, सूत्र होते हैं। इसलिए मैंने कहा कि टेलीग्रैफिक है उपनिषद्। संयोग दीक्षा, बस इतना कहा है दीक्षा के लिए कि संयोग ही उनकी दीक्षा है। "टु बी इन कम्यूनियन इज द इनीसियेशन। परमात्मा के साथ जुड़ जाना ही उनकी दीक्षा है।" परमात्मा के साथ सेतु खोज लेना, ब्रिज बना लेना; परमात्मा और अपने बीच आवागमन की एक जगह बना लेना ही उनकी दीक्षा है। दीक्षित का अर्थ ही यही होता है। दीक्षा का अर्थ यही होता है

है कि मैं अब अपने तक नहीं जीऊँगा। वह जो विराट् है, जिससे मैं आया और जिसमें वापस लौट जाऊँगा, अब मैं उसके साथ संयुक्त होकर जीऊँगा। अब मैं अपने को पृथक् मान कर न जीऊँगा। अब मैं बूँद की तरह नहीं, सागर के साथ एक होकर जीऊँगा। निश्चित ही सागर के साथ एक होना खतरनाक है, क्योंकि बूँद मिट जाती है। लेकिन यह खतरा बहुत ऊपरी है। क्योंकि सागर के साथ बूँद तो मिट जाती है, लेकिन मिट जाती है इस अर्थ में कि सागर हो जाती है। क्षुद्रता टूट जाती है, विराट् के साथ मिलन हो जाता है। लेकिन विराट् के साथ हिम्मत तो जुटानी पड़ती है अपनी क्षुद्र सीमाओं को तोड़ देने की।

अगर अपने घर के आँगन को आकाश के साथ एक करना हो, तो घर के आँगन की दीवालें तो तोड़ ही देनी पड़ेंगी। अगर आप दीवालों को आँगन समझते थे, तो आपको लगेगा कि भारी नुकसान हुआ, और अगर दीवालो के बीच घिरे हुए आकाश को आँगन समझते थे, तो समझेंगे कि लाभ ही लाभ है। वह आपकी समझ पर निर्भर करेगा। अगर आपने अपने अहंकार की सीमा को समझा था, कि यही मैं हूँ, तो आप समझेंगे मिटे। अगर आपने अहकार के भीतर घेरे हुए शून्य को, चैतन्य को समझा था कि यही मैं हूँ, तो दीवालें गिर जाने के साथ अनंत के साथ आप एक हो गए। फिर विराट् की उपलब्धि है। खोना जरा भी नही है, पाना ही पाना है।

संयोग दीक्षा। ऐसे संयोग का नाम दीक्षा है, जहाँ आपके आँगन की दीवालें गिर जाती हैं और विराट् आकाश से मिलन हो जाता है। जहाँ बूँद अपनी सीमाएँ छोड़ देगी। साहस का कदम है यह—बहुत बड़े साहस का, कहें दुस्साहस का। क्योंकि हम सबकी मनोदशा यही है कि हम अपनी सीमा को ही अपना अस्तित्व समझते हैं। सीमा मे जो घिरा है, उसे नही, सीमा को ही अपना अस्तित्व समझते हैं। तो बड़े दुस्साहस की जरूरत पड़ेगी, अपने को छोड़ने, खोने और मिटाने के लिए। जीसस कहते थे, जो अपने को बचाएगा, वह मिट जाएगा; और जो अपने को मिटा देगा, उसके मिटने का कोई भी उपाय नहीं।

एक रात निकोडेमस नामक एक युवक जीसस के पास आया और कहा कि मैं सब छोड़ने को तैयार हूँ, मुझे स्वीकार कर लें, मुझे अंगीकार कर लें। जीसस ने कहा, तू स्वयं को छोड़ने को तैयार है? उसने कहा, नहीं, लेकिन

और सब छोड़ने को तैयार हूं। जीसस ने कहा, लौट जा वापस। जिस दिन स्वयं को छोड़ने को तैयार हाेगे, उस दिन आ जाना। क्योंकि हमें प्रयोजन नहीं कि तू कुछ और छोड़; हमें इतना ही प्रयोजन है कि तू अपने को छोड़। और अपने को कोई न छोड़े, तो संयोग नहीं होगा, दीक्षा नहीं होगी।

यह तो प्रतीक है कि संन्यासी का हम नाम बदल देते हैं, सिर्फ इसी ख्याल से कि उसकी पुरानी आइडेन्टिटी, उसका पुराना तादात्म्य छूट जाए। कल तक जिन सीमाओं से, जिस नाम से समझा था कि मैं हूं, वह टूट जाए। उसके वस्त्र बदल देते हैं, ताकि उसकी इमेज बदल जाए, उसकी जो प्रतिमा थी कल तक कि लगता था कि यह मैं हूं, यह कपड़ा, यह ढंग, सब टूट जाए। बाहर से शुरू करते हैं क्योंकि बाहर हम जीते हैं। बाहर से ही बदलाहट की जिसकी हिम्मत नहीं है, वह भीतर से बदलने की तैयारी कर पाएगा, यह जरा कठिन है।

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं, कपड़े तो बाहर हैं, बदलाहट तो भीतर की चाहिए। मैं उनसे पूछता हूं, कपड़े बदलने तक की हिम्मत तुम्हारी नहीं है, तुम भीतर की बदलाहट कर पाओगे? कपड़े बदलने में कुछ भी तो नहीं बदल रहा है, यह तो मुझे भी पता है। लेकिन तुम कपड़ा बदलने तक का साहस नहीं जुटा पाते और तुम कहते हो हम आत्मा को बदल देंगे। आत्मा को बदलने की बात में शायद अपने को धोखा देना आसान होगा, क्योंकि किसी को पता नहीं चलेगा कि बदल रहे हो कि नहीं बदल रहे हो। खुद को भी पता नहीं चलेगा, ये कपड़े बता देंगे। लेकिन जो बदलने के लिए तैयार है, वह कहीं से भी शुरू कर सकता है। भीतर से शुरू करना कठिन है, क्योंकि भीतर का हमें कोई पता ही नहीं है। भोजन करते वक्त हम नहीं कहते कि यह तो बाहरी चीज है, क्यों भोजन करें। पानी पीते वक्त नहीं कहते कि यह तो बाहरी चीज है, इसके पीने से क्या प्यास मिटेगी। प्यास तो भीतर है।

नहीं, यह हम नहीं कहते; लेकिन संन्यास लेना हो तो हम सोचते हैं, कपड़े बदलने से क्या होगा, यह तो बाहर है। और आप जो हैं, वह बाहर का ही जोड़ हैं कुल जमा, फिलहाल। भीतर का तो कोई पता ही नहीं। उस भीतर का पता मिल जाए, इसी की तो खोज है। इमेज तोड़नी पड़ती है, प्रतिमा

विसर्जित करनी पड़ती है। वह जो हम हैं अब तक, उसमें कहीं से तोड़ देना करनी पड़ती है। अच्छा है कि सीमाओं से ही तोड़ शुरू करें, क्योंकि सीमाओं पर ही हम जीते हैं, अंतस मे हम नहीं जीते। लेकिन वस्तुतः दीक्षा तो फलित तभी होती है, जब भीतर का तार अनन्त से जुड़ जाता है।

जब आप बैठे हो सागर के किनारे, मौन हो जाएँ। थोडी देर में सागर कौन है और आप कौन हैं, यह फासला गिर जाएगा। आकाश के नीचे लेटे हों, मौन हो जाएँ। कौन तारा है, और कौन देखने वाला है, थोड़ी देर में फासला गिर जाएगा। सब फासला विचार का है। वियोग विचार का है, संयोग निर्विचार का है। जहाँ भी निर्विचार हो जाएँगे, वहीं संयोग हो जाएगा। एक वृक्ष के पास बैठ जाएँ और निर्विचार हो जाएँ, तो वृक्ष और वृक्ष को देखने वाला दो नही रह जाएँगे। द आब्जर्व्ड ऐण्ड द आब्जर्वर विल बी वन। जो देखता है वह, और वह जो देखा जा रहा है, एक हो जाएगा। एक क्षण को भी ऐसा अनुभव हो जाए कि वह जो धूप मुझे घेरे हुए हैं, वह और मैं एक हूँ; वह जो वृक्ष मुझ पर छाया किए हुए है, वह और मैं एक हूँ; बदलियाँ जो आकाश मे तैर रही हैं, वह और मैं एक हूँ। यह विचार से नही लाना है। यह आप सोच सकते हैं।

आप वृक्ष के पास बैठ कर सोच सकते हैं कि मैं और वृक्ष एक हूँ। तब संयोग नहीं होगा, क्योंकि अभी सोचनेवाला मौजूद है। यह जो कह रहा है, मैं एक हूँ, यह अपने को समझा रहा है कि मैं एक हूँ। समझाने की तभी तक जरूरत है, जब तक अनुभव नहीं होता कि एक हूँ। वृक्ष के पास निर्विचार हो जाएँ, तो अचानक उद्घाटन होगा कि एक हूँ। यह विचार तब नहीं होगा, यह रोएँ-रोएँ प्रतीत होगा।

वृक्ष के पत्ते हिलेंगे, तो लगेगा मैं हिल रहा हूँ। वृक्ष में फूल खिलेंगे, तो लगेगा मैं खिल रहा हूँ। वृक्ष से सुगन्ध फैलने लगेगी, तो लगेगा मेरी सुगन्ध है। यह विचार नहीं होगा, यह प्रतीति होगी, यह आत्मिक अनुभव होगा। ऐसा जिस दिन समस्त अस्तित्व के साथ लगने लगता है, उस दिन दीक्षा है—संयोग दीक्षा है। उठते, बैठते, चलते—श्वास-श्वास में, कण-कण में, रोएँ-रोएँ में ऐसी प्रतीति होने लगती है। एक—एक ही है। वह जो आपकी छाती में छुरा भोंक दे, वह शत्रु भी एक ही है। वह हाथ, जो छाती में छुरा भोंक गया है, मेरा ही है। तब दीक्षा है। तब संयोग है।

ऋषि कहता है, संयोग दीक्षा है। वियोग उपदेश है। एक ही उपदेश है—वियोग। किससे वियोग और किससे संयोग? जो हम नहीं हैं, उससे वियोग और जो हम हैं, उससे संयोग। जो स्वप्न-जैसा है, उससे वियोग और जो सत्य है उससे संयोग। जो हमने ही प्रोजेक्ट किया है, हमने ही प्रक्षेप किया है, उस विचार के जगत् से वियोग, और जो है हमसे पहले और हम नहीं होंगे तब भी जो होगा, उस अस्तित्व के जगत् से संयोग।

हम सब एक अपनी दुनिया बनाकर जीते हैं—ए वर्ल्ड ऑफ आवर ओन। पर्ल बक ने एक किताब लिखी है अपने जीवन संस्मरणों की "माइ सेवरल वर्ल्ड्स" (मेरे अनेक जगत्)। ठीक है नाम, क्योंकि प्रत्येक आदमी अलग-अलग जगत् मे जीता है। एक ही घर में अगर सात आदमी होते हैं, तो वहाँ सेवन वर्ल्ड्स, सात दुनियाएँ होती हैं। बेटे की दुनिया वही नही हो सकती, जो बाप की है, और इसलिए तो घर में कलह होती है। सात दुनिया एक घर में रहें, तो कलह होने ही वाली है। सात बर्तन मे हो जाती है, तो सात जगत् बड़ी चीजें हैं। घर बहुत छोटा है। उपद्रव सुनिश्चित है। ट्रेसपासिंग होगी ही। बाप की दुनिया बेटे की दुनिया पर चढ़ना चाहेगी, बेटे की दुनिया बाप की दुनिया पर चढ़ना चाहेगी। पत्नी पति की दुनिया पर कब्जा करना चाहेगी। इस जमीन पर इस समय कोई चार अरब आदमी हैं, तो चार अरब जगत् है। जगत् वह नहीं है, जो हमारे बाहर है; जगत् वह है, जो हम निर्मित करते हैं। वह हमारा कंस्ट्रक्शन है।

कल्पना करें कि एक वृक्ष के पास आप बैठे हुए हैं। आप बढ़ई हैं। एक चित्रकार बैठा हुआ है, एक कवि बैठा हुआ है, एक प्रेमी बैठा हुआ है, जिसे उसकी प्रेमिका नही मिली, और एक ऐसा प्रेमी बैठा हुआ है जिसे उसकी प्रेमिका मिल गई है। तो बढ़ई के लिए वृक्ष में सिवा फर्नीचर के कुछ भी दिखाई नही पड़ता। वह वृक्ष एक ही है, लेकिन बढ़ई फर्नीचर की दुनिया में वहाँ बैठा होगा। चमार को आपके जूते के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। वह आपको आपके जूते के नम्बर से पहचानता है। दर्जी की आपसे जो पहचान है, वह आपके कपड़े के नाप से है। चमार को चेहरा भी देखना नहीं पड़ता, सड़क पर गुजरते हुए लोगों के जूतों की हालत देख कर वह जानता है कि इस आदमी की माली हालत क्या होगी। चेहरा देखने की जरूरत नहीं और बैंक बैलेंस देखने की भी जरूरत नहीं। जूते की हालत ही बता देती है कि यह

आदमी किस हालत में होगा। उसकी अपनी दुनिया है।

वह बढ़ई अगर बैठा है वृक्ष के नीचे, तो वह वृक्ष उसके लिए संभावी फर्नीचर है, इससे ज्यादा कुछ भी नहीं है। उस वृक्ष में फूल नहीं खिलते, कुर्सियाँ-मेजें लगती हैं। उसकी अपनी दुनिया है। उसके बगल मे एक चित्रकार बैठा है, उसके लिए वृक्ष सिर्फ रंगों का एक खेल है। इधर इतने वृक्ष लगे हैं। साधारण आदमी को वृक्ष हरे दिखाई पड़ते हैं और हरा लगता है कि एक रंग है, लेकिन चित्रकार के लिए हजार हरे रंग हैं—हजार शेड हैं हरे रंग के। वह चित्रकार को हो दिखाई पड़ता है, आम आदमी को दिखाई नहीं पड़ता। हरा, यानी हरा—उसमें कोई और मतलब नहीं होता। लेकिन चित्रकार जानता है कि हर वृक्ष अपने ढंग से हरा है। दो वृक्ष एक-से हरे नहीं हैं। हरे में भी हजार हरे हैं। पत्ता-पत्ता अपने ढंग से हरा है। तो जब चित्रकार देखता है वृक्ष को, तो उसे जो दिखाई पड़ता है वह हमें कभी नहीं दिखाई पड़ता। उसे पत्ते-पत्ते का व्यक्तित्व दिखाई पड़ रहा है।

वहीं उसके पास एक कवि बैठा है। वृक्ष उसके लिए काव्य बन जाता है। थोड़ी ही देर में वृक्ष खो जाता है और वह काव्य के लोक में प्रवेश कर जाता है। यह हमें कभी खयाल में नहीं आएगा कि कवि किस यात्रा पर निकल गया। उसका अपना जगत् है। उसी खिले हुए फूलों से लदे हुए वृक्ष के नीचे, जहाँ वर्षा की तरह फूल गिर रहे हों, एक प्रेमी भी बैठा है, जिसे उसकी प्रेयसी नहीं मिल सकी है। वहाँ उसे फूल काँटे-जैसे दिखाई पड़ेंगे। फूल उदास मालूम होंगे, वृक्ष रोता हुआ और मरता हुआ मालूम होगा। इससे वृक्ष का कोई सम्बन्ध नहीं है। यह उसके अपने भीतर के जगत् का विस्तार है, जो वह वृक्ष पर फैला देता है। पूर्णिमा भी उदास प्रेमी को उदास मालूम पड़ती है। प्रफुल्ल प्रेमी को अमावस की रात भी काफी चाँदनी से भरी हुई मालूम पड़ती है, काफी उजाली होती है। हम अपने जगत् को अपने भीतर से फैलाते हैं। अपने चारों तरफ यह एक प्रोजेक्शन, एक प्रक्षेप है। हर आदमी अपने भीतर बीज लिये है अपने जगत् का, जिसे वह अपनी चारों तरफ फैला लेता है।

ऋषि कहता है—इस जगत् से वियोग। निरन्तर हम सुनते रहे हैं कि संन्यासी संसार को छोड़ देता है, लेकिन हमें पता ही नहीं कि संसार का मतलब क्या होता है। यह जो प्रत्येक व्यक्ति अपने बाहर एक जगत् का

फैलाव करता है, वह सपने का जगत् है, वह बिलकुल झूठा है। वह मेरा फैलाव है, मेरे मरने के साथ मिट जाएगा वह जगत्। हर आदमी के मरने के साथ एक दुनिया मरती है। जो थी, वह तो बनी रहती है, लेकिन जो हमने फैलाई थी, बनाई थी, जो हमारा सपना था, वह खो जाता है।

संसार के त्याग का यह मतलब नहीं कि ये जो चट्टानें हैं उनको छोड़ देना, ये जो वृक्ष हैं उनको छोड़ देना या जो लोग हैं उनको छोड़ देना। संसार के त्याग का अर्थ है, वह जो प्रोजेक्शन है, प्रक्षेप है हमारा, उसे छोड़ देना। जो है उसे वैसा ही देखना, उस पर कुछ भी आरोपित न करना। अगर उसी वृक्ष के नीचे, जिसकी मैंने बात की, एक संन्यासी खड़ा हो, तो उसका कोई प्रक्षेपित जगत् नहीं है। संन्यासी का अर्थ है, जिसका कोई प्रक्षेपित जगत् नहीं है। चीजों को देखता है, जैसी वे हैं। अपनी तरफ से आरोपित नहीं करता, इम्पोज नहीं करता, उन पर कुछ थोपता नहीं। असल में किसी पर भी कुछ थोपना बड़ी हिंसा है। एक वृक्ष को मैं अपनी उदासी थोप दूं और कहूं कि वृक्ष बड़ा उदास मालूम पड़ता है, तो मैं हिंसा कर रहा हूं। चांद पर मैं अपनी प्रफुल्लता थोप दूं और कहूं कि चांद बड़ा आनन्दित मालूम पड़ रहा है क्योंकि मैं आज आनन्दित हूं, क्योंकि लाटरी मुझे मिल गई है, तो मैं बड़ी हिंसा कर रहा हूं और मैं एक झूठ का विस्तार कर रहा हूं।

वियोग उपदेश है। उपनिषदों का, ऋषियों का इतना ही उपदेश है कि इस संसार में जो हम फैला लेते हैं, उससे वियोग; उससे अलग हो जाओ। एक संसार है, जो परमात्मा का फैलाव है और एक संसार है जो हमारा फैलाव है। हमारा फैलाव गिर जाए, तो हम परमात्मा के संसार से सम्बन्धित हो जाते हैं। जब तक मेरा अपना फैलाव है, तब तक संयोग कैसे होगा उससे, जो परमात्मा का है।

मेरे एक मित्र थे। युनिवर्सिटी में प्रोफेसर थे। काफी नाम था। अर्थशास्त्र के विद्वान् थे। ऑक्सफोर्ड में भी प्रोफेसर थे, फिर यहां भारत के अनेक विश्वविद्यालयों में भी प्रोफेसर रहे थे। जब पहली दफे मेरी उनसे मुलाकात हुई तो बड़ी अजीब हुई। रास्ते से मैं निकल रहा था। सांझ का अंधेरा था, सूरज ढल रहा था, करीब-करीब ढल गया था। अंधेरा उतर रहा था। जैसे ही मैं उनके पास पहुंचा, उन्होंने जेब से निकाल कर जोर से सीटी बजाई। फिर दूसरी जेब से निकाल कर एक छुरा बाहर किया। मैंने पूछा, आप यह

क्या कर रहे हैं ? उन्होंने कहा कि दूर रहिए। मैंने पूछा, बात क्या है ? फिर उनसे सम्बन्ध बना, मित्रता बनी, तो पता चला कि दो साल से वे भयभीत हैं और हर आदमी के सम्बन्ध में उन्हें लगता है कि वह हत्या करने आ रहा है। अकेले में किसी आदमी को देखकर वे दो इन्तजाम अपने साथ रखते हैं—एक जेब में सीटी रखते हैं जोर से बजाने के लिए, ताकि आसपास के लोगों को पता चल जाए। दूसरी जेब में छुरा रखते हैं।

यह आदमी एक दुनिया मे रह रहा है—हत्यारों की, जो इसका ही फैलाव है। किसी को प्रयोजन नहीं है, किसी को मतलब नहीं है। प्रोफेसर को मारेगा भी कौन, और किसलिए मारेगा ! मारने के लिए भी कोई कारण होना चाहिए और मरने की भी तो कोई योग्यता होनी चाहिए। निरीह प्रोफेसर को मारने कौन जाएगा और किसलिए ? इस बेचारे से कुछ भी तो बनता-बिगड़ता नहीं है। जिस दिन लोग मास्टरों की हत्या करने लगेंगे, उस दिन तो बड़ी मुश्किल हो जाएगी। इनसे ज्यादा निरीह तो प्राणी होता ही नहीं।

मैंने उन्हें बहुत समझाया कि आपको मारने का कोई कारण भी नहीं है। कौन परेशानी में पड़ेगा आपको मार कर ? पर उनको खयाल है कि सारी दुनिया उनकी हत्या कर देगी। कारण वे भी खोज लेते हैं। वे देखते हैं कि आदमी आ रहा है, किस तरह की चाल चल रहा है। उसकी आँख किस ढंग की है, कुछ संदिग्ध, ससपीसस तो नहीं है। उनको देख कर तथा उनके देखने और खड़े होने के ढग को देखकर बेचारा दूसरा आदमी भी सशपीसश हो जाता है। उनका जो ढग है, वह ऐसा है कि दूसरा आदमी उनके साथ सहज नहीं रह सकता। उसकी बेचैनी उनको और भयभीत कर देती है, फिर वीसस सर्किल (दुष्चक्र) शुरू हो जाता है—थोड़ी देर में ही वे दुश्मन की हालत में उस आदमी को खड़ा कर देते हैं।

हम सब ऐसे ही जी रहे हैं। हमने एक-एक दुनिया बना रखी है। वियोग उपदेश है। इस दुनिया से वियोग होना पड़े, इसे छोड़ देना पड़े, तोड़ देना पड़े। यह गोरखधन्धा है। यह बिलकुल मानसिक है, यह बिलकुल विक्षिप्तता है, यह बिलकुल पागलपन है। इस वियोग को ही ऋषियों का उपदेश कहा गया है। इस वियोग के बाद ही संयोग हो सकता है परमात्मा से। जब हमारे सब प्रोजेक्टेड ड्रीम्स, हमारे सब प्रक्षेपित

स्वप्न गिर जाएं, हमारी सारी कल्पनाएं गिर जाएं, तो परमात्मा का जो अस्तित्व है, उससे सयोग हो सकता है।

दीक्षा संतोष है और पावन भी ("दीक्षा संतोष पावनम् च")। दो बातें हैं। एक कि दीक्षा संतोष है। यह कभी खयाल में भी न आया होगा कि परमात्मा से मिल जाने के अतिरिक्त इस जगत् में और कोई संतोष नहीं है। वियोग असंतोष है। जैसे किसी मां से उसका छोटा-सा बेटा बिछुड़ गया हो और मां असंतुष्ट हो, ठीक वैसे ही हम अस्तित्व से बिछड़ जाते हैं और असंतुष्ट रहते हैं। उस असंतोष में हम संतोष के बहुत उपाय करते हैं, लेकिन सब असफल होते हैं, सब फ्रस्ट्रेड हो जाते हैं।

एक ही सतोष है, वह मिलन, संयोग, उससे, जिससे हम छूट गए हैं—वापस उस मूल स्रोत से एक हो जाना। इसलिए सन्यासी के अतिरिक्त और कोई आदमी सतुष्ट होता ही नहीं। हो ही नहीं सकता। बाकी सब आदमी असंतुष्ट होंगे ही। वे कुछ भी करें, असतोष उनका पीछा न छोड़ेगा। वे कुछ भी पा लें या खो दें, असंतोष से उनका सम्बन्ध बना ही रहेगा। वे धनी हों कि निर्धन, दरिद्र हों कि सम्राट्, असतोष उनका पीछा करेगा। असंतोष छाया की तरह पीछे लगा ही रहेगा, कहीं भी जाएं। सिर्फ एक जगह असतोष नही जाता। वह परमात्मा से जो मिलन है, वहां असतोष नहीं जाता।

उसके कई कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि हमने कभी पूछा ही नहीं अपने से कि हम असतुष्ट क्यों हैं। रास्ते पर एक कार गुजरती दिखाई पड़ जाती है, तो हम सोचते हैं यह कार मिल जाए, तो सतोष मिल जायगा। एक महल दिखाई पड़ जाता है, तो सोचते हैं यह महल मिल जाए तो संतोष मिल जाएगा। एक सम्राट् दिखाई पड़ जाता है, तो सोचते हैं यह सिंहासन अपना हो तो सतोष मिल जाएगा। आपने कभी अपने से पूछा नहीं कि मेरे असंतोष का कारण क्या है। क्या कार न होने से मैं असंतुष्ट हूं? क्या महल न होने से मैं असंतुष्ट हूं? पद न होने से मैं असंतुष्ट हूं? तो फिर थोड़ा अपने मन में सोचें। समझ लें कि मिल गई कार, मिल गया महल, मिल गया सम्राट् का पद। पूछें अपने से, मिल गया? संतोष आएगा? और तत्काल लगेगा कोई संतोष आ नहीं सकता; लेकिन हो सकता है, यह सिर्फ हम सोच रहे हैं इसलिए न मालूम पडे। तो वह जो कार मे बैठा है, उसकी शकल को देखें; वह जो महल में विराजमान है, उसके आसपास परिभ्रमण करें; वह जो पद

पर बैठा हुआ है. उससे जाकर पूछें कि संतुष्ट हो ? उसे भी ऐसा ही लगा था एक दिन। वह भी हमारे-जैसा ही आदमी है। उसे भी लगा था कि इस पद पर होकर सतोष हो जाएगा। फिर पद पर आए तो बहुत दिन हो गए, संतोष तो जरा भी नही आया। हाँ, उसे लग रहा है कि किसी और बड़े पद हों, तो संतोष हो जाए। इस प्रकार जीवन क्षीण होता है, रिक्त होता है, मिटता है, टूटता है। रेत में खो जाती है जैसे कोई सरिता, वैसे ही हम खो जाते हैं और बिखर जाते हैं।

हमने कभी ठीक से पूछा ही नहीं कि हम असतुष्ट क्यों हैं। हमारे असंतोष का कुल कारण इतना है कि हम अपनी जड़ों से टूट गए हैं, अपरूटेड हो गए हैं। हमे कोई पता ही नहीं कि हमारी जड़ें कहाँ हैं। हम किससे जुड़े हैं और किससे हम जीवन पाते हैं, उस मूल स्रोत से हमारा कोई सबन्ध मालूम नही पड़ता। हम अपनी खोपड़ी में कंद हो गए हैं। जड़ो से हमारा सम्बन्ध टूट गया है। हम सिर्फ विचार करते रहते हैं। अस्तित्वगत सत्ता से हमारा कही कोई मिलन नही होता। हम सिर्फ विचार करते रहते हैं, विचार मे ही रहे हैं। विचार का कोई भी मूल्य नहीं है, अस्तित्व का मूल्य है। होना पड़ेगा कहीं, सिर्फ सोचने से कुछ भी नहीं होगा। ऋषि कहता है, दीक्षा संतोष है, क्योंकि जैसे ही मिलन होता है परमात्मा से, जरा सा क्षण भर के लिए भी सपर्क जुड़ जाता है, वैसे ही संतोष की वर्षा हो जाती है। कही कोई असतोष नही रह जाता। खोजे भी नहीं मिलता।

दूसरी बात ऋषि कहता है, दीक्षा पावन भी है। पावन बहुत कीमती शब्द है, उसे थोड़ा समझ लेना पड़ेगा। पावन का अर्थ केवल पवित्र नहीं होता। भाषा-कोश में पावन का अर्थ है पवित्र। लेकिन भाषा-कोश की अपनी मजबूरियाँ हैं। पावन का अर्थ पवित्र होता है लेकन एक भेद के साथ (विथ ए डिफरेंस)। पवित्र अपवित्र हो सकता है। पर पावन उसे कहते हैं, जिसके अपवित्र होने की कोई संभावना नहीं है। पवित्र उसे कहते हैं, जिसमें विकल्प है कि अपवित्र भी हो सकता है। पावन उसे कहते हैं, जिसका पवित्रता स्वभाव है। जैसे सोना है, वह अशुद्ध भी हो सकता है, मिट्टी उसमे मिल सकती है। पवित्र सोना हो सकता है, अपवित्र सोना हो सकता है। लेकिन आकाश पावन है। उसको अपवित्र करने का कोई उपाय

नहीं, उसमें अशुद्धि मिलाने का कोई उपाय नहीं।

तो दीक्षा संतोष भी है और पावन भी। दीक्षा के बाद अपवित्र होने का कोई उपाय नहीं है। यह असंभावना है। संन्यासी अपवित्र नहीं हो सकता, वह पावन है। प्रभु से थोड़ी भी धारा जुड़ गई, तो फिर अपवित्रता का कोई उपाय नहीं।

भिक्षुओं में से एक भिक्षु ने एक दिन आकर बुद्ध को कहा कि गाँव में एक वेश्या है, उसने मुझे निमंत्रण दे दिया है कि मैं उसके घर इस वर्षा काल में रुकूँ। बुद्ध ने कहा, जाओ क्योंकि तुम पावन हो गए हो। भिक्षुओं में बड़ी बेचैनी फैल गई। वेश्या बहुत सुन्दरी थी। सम्राटों को भी उसके द्वार पर प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। एक भिक्षु ने खड़ा होकर कहा कि यह तो आप उचित नही कर रहे हैं। चार महीना वेश्या के घर में यह भिक्षु रहे, कहीं अपवित्र न हो जाए। तो बुद्ध ने कहा, इसीलिए मैंने जाने को कहा है। अगर पवित्र होता, तो रोकता। वह पावन है। चार महीने बाद बात होगी। उस भिक्षु ने कहा, तो कल मैं भी अगर कहूँ कि किसी वेश्या का मुझे निमंत्रण मिला है, तो मुझे आज्ञा मिलेगी? बुद्ध ने कहा, तुम पवित्र भी नहीं हो, और वेश्या तुम्हें निमंत्रण देगी, ऐसा भी नहीं है। तुम निमंत्रण माँग रहे हो। तुम वेश्या को निमंत्रण दे रहे हो। नहीं, तुम्हें आज्ञा नहीं मिलेगी।

स्वभावतः बेचैनी रही। चार महीने भिक्षुओं ने बहुत पता लगाने की कोशिश की कि वह भिक्षु, जो वेश्या के घर में ठहरा है, क्या कर रहा है, क्या हो रहा है, क्या नहीं हो रहा है। खिड़की, द्वार-दरवाजों से झाँका होगा, पता लगाया होगा, अफवाहें उड़ीं। बुद्ध के पास रोज खबरें आने लगीं कि भिक्षु भ्रष्ट हो गया, बर्बाद हो गया। यह आपने क्या किया? बुद्ध सुनते रहे। चार महीने बाद भिक्षु आया तो वह अकेला नहीं आया। वेश्या भी भिक्षुणी हो कर आ गई। पवित्र अगर अपवित्र के सम्पर्क में आए, तो अपवित्र हो सकता है। पावन अगर अपवित्र के सम्पर्क में आए, तो अपवित्र भी पवित्र हो जाता है। वह पारस है, वह लोहे को भी सोना कर देता है।

दीक्षा संतोष है और पावन है। पावन के लिए अंग्रेजी में एक शब्द है प्यूर, एक शब्द है होली। तो पावन का अर्थ है "होली"—दिव्य, पारस-जैसी। कोई उपाय नहीं है उसे छूने का। उसे स्पर्श नहीं किया जा सकता। जैसे आग है। आग को अपवित्र नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें कुछ भी डालो, वह

जल जाएगा और राख हो जाएगा और आग पावन ही बनी रहेगी। इसलिए अपवित्र आग नहीं होती। मुर्दा जब जलता है चिता पर, तब भी वे लपटें अपवित्र नहीं होतीं। वे लपटें पावन ही होती हैं। असल में अपवित्र को डालो, तो वह जल जाता है, राख हो जाता है, आग को नहीं छू पाता। अस्पर्शित आग दूर खड़ी रह जाती है। उसके पास पहुंचने की कोई गति नहीं है। तो ऋषि कहते हैं, दीक्षा पावन भी है, संतोष भी है और ऐसी दीक्षा को जो उपलब्ध है, वे बारह सूर्यों के दर्शन करते हैं।

बारह सूर्यों का क्या अर्थ है? एक सूर्य को तो हम जानते हैं। बारह सूर्य केवल कहने का ढंग है। वे इतने प्रकाश का भीतर अनुभव करते हैं जैसे कि उनके भीतर बाहर सूर्य निकल गए हों। एक सूर्य नहीं, बारह। जैसे सारा उनका अन्तर-आकाश सूर्यों से भर गया हो। वे इतने प्रकाशोज्वल चेतना की अवस्था को उपलब्ध होते हैं जैसे भीतर-बाहर सूर्य हों। लेकिन इस क्रम से प्रवेश हो: आश्रयरहित हो उनका आसन, निरालंब पीठ; संयोग हो उनकी दीक्षा—संयोग दीक्षा, संसार से छूटना ही उनका उपदेश। दीक्षा सतोष हो और पावन हो, तो वे बारह सूर्यों के, अनंत सूर्यों के दर्शन को उपलब्ध होते हैं। वे उस परम सूर्य को जान लेने में समर्थ हो जाते हैं, जो जीवन और चेतना का उद्गम, आधार, आश्रय, सब कुछ है। इन सूर्यों को कहीं बाहर खोजने नहीं जाना पड़ता है। ये सूर्य भीतर ही छिपे हैं। लेकिन हम भीतर जाते ही नहीं। बाहर है अंधकार, भीतर है प्रकाश; बाहर कितने ही सूर्य हों तो भी अंधकार मिटता नहीं, वह शाश्वत है।

खयाल किया आपने कि बाहर कितने ही सूर्य कितने अनंत वर्षों से प्रकाश देते हैं, लेकिन अंधकार शाश्वत है। सूर्य आते हैं, जाते हैं, जलते हैं, बुझते हैं। यह आप मत समझें कि सूर्य सदा जलते रहते हैं। उनका भी जन्म है और मरण है। कितने ही सूर्य जन्मे और मिट गए। यह हमारा सूर्य बहुत नया है। इससे बुजुर्ग सूर्य भी आकाश में हैं। वैज्ञानिक कहते हैं कि अब तक कोई तीन अरब सूर्यों की गणना वे कर पाए हैं। यह भी अन्त नहीं है, यहाँ तक अभी हमारी पहुंच है। उसके आगे भी सूर्यों का विस्तार है। इक तीन अरब सूर्यों में रोज कोई एकाध सूर्य मरता है, कोई नया सूर्य पैदा होता रहता है। अस्तित्व के किसी कोने में कोई सूर्य मरता है, बुझ जाता है, राख हो जाता है, बिखर जाता है। अस्तित्व के किसी दूसरे कोने में नया सूर्य पैदा हो जाता है।

अनंत-अनंत वर्षों से सूर्य जलते हैं, लेकिन अंधेरा शाश्वत है। सूर्य आते हैं और चले जाते हैं, अंधेरे का कुछ बिगड़ता नहीं। सुबह सूर्य निकलता है, हमें लगता है कि अंधेरा खो गया। अंधेरा सिर्फ छिप जाता है। हमें दिखाई नहीं पड़ता, यही कहना चाहिए। या हमारी आँखें इतनी आवृत हो जाती हैं सूर्य के प्रकाश से कि अंधेरे को देख नहीं पाती। सांझ सूरज थक जाता है, ढल जाता है। अंधेरा अपनी जगह है। अंधेरे को आना नहीं पड़ता। वह अपनी ही जगह है। खयाल किया आपने, प्रकाश को आना पड़ता है। अंधेरा अपनी जगह है, शाश्वत ठहरा हुआ है। कल सूर्य हमारा बुझ जाएगा, अंधेरा शाश्वत रहेगा। सूर्यों का जीवन है, अंधेरा शाश्वत मालूम होता है। अंधेरा कभी नहीं मिटता। वह सदा है। दीया जल जाता है, तो लगता है कि अंधकार मिट गया। दीया बुझ जाता है, तो पता चलता है कि अंधकार है। अंधकार जरा भी कंपित नहीं होता, प्रकाश तो कँपता भी है। अंधेरा कंपता भी नहीं, अकंप है। बाहर ऐसा है। अंधेरा शाश्वत है। प्रकाश क्षण भर को है। चाहे दीए का हो और चाहे सूर्यों का हो, उसका भी एक क्षण है, एक मूवमेंट है और फिर वह खो जाता है।

भीतर इससे उलटी स्थिति है। प्रकाश शाश्वत है, अंधेरा क्षण भर का है। कितना ही हम अज्ञान में भटकें और अंधेरे में जाएँ और कितने ही पापों में उतरें और नर्कों की यात्रा करें, भीतर के प्रकाश मे कोई अन्तर नहीं पड़ता, वह अकंप है। पाप आते हैं, चले जाते हैं। नर्कों की यात्रा होती है और समाप्त हो जाती है। जिस दिन हम लौट कर भीतर पहुंचते हैं, हम पाते हैं वहाँ शाश्वत प्रकाश है। भीतर शाश्वत प्रकाश है, बाहर शाश्वत अंधेरा है। बाहर क्षणिक प्रकाश होता है, भीतर क्षणिक अंधेरा होता है। जो ऐसी चित्त-दशा को उपलब्ध होता है, ऋषि कहते हैं, वह अनंत सूर्यों का अनुभव करता है। बारह तो केवल दर्शन की सीमा है। इसलिए बारह हैं। बारह का मतलब ? ज्यादा से ज्यादा सूर्य उसके भीतर भर जाते हैं।

यह प्रकाश बहुत भिन्न है। क्योंकि बाहर जो प्रकाश क्षण भर के लिए होता है या युग भर के लिए—उसका स्रोत है। वह सूरज से आता है, दीए से आता है। जो भी चीज किसी स्रोत से आती है, वह स्रोत के चुक जाने से नष्ट हो जाती है। जैसे दीए का तेल चुक जाता है, ज्योति बुझ जाती है। सूरज की ऊर्जा नष्ट हो जाती है, सूरज चुक जाता है। वैज्ञानिक कहते हैं कि चार हजार साल तक यह सूरज और चलेगा। चार हजार साल बाद यह बुझ

जाएगा। इसके बुझने के साथ ही ये हमारे वृक्ष, यह हमारा जीवन, ये पौधे-पत्ते, ये हम सब बुझ जाएंगे, क्योंकि सूर्य की किरणों के बिना हम नहीं हो सकते। जहां स्रोत है और सीमा है, वहां तो सभी चीजें क्षणिक होंगी। भीतर जो सूर्य है, अगर ठीक से कहें तो वहां कोई सोर्स नहीं है, सोर्सलेस लाइट है। वहां कोई स्रोत नहीं है, वहां है स्रोतरहित प्रकाश। इसलिए वह कभी चुकता नहीं। इसलिए अंधेरा बाहर नहीं चुकता, क्योंकि अंधेरे का कोई स्रोत नहीं है।

अंधेरा कहां से आता है? आपको पता है? कहीं से नहीं आता। बस, अंधेरा है। उसका कोई स्रोत नहीं है, इसलिए वह तेल चुकता नहीं जिससे कि अंधेरा आता हो। इसलिए दीया मिटता नहीं जिससे अंधेरा आता हो। इसलिए सूरज समाप्त नहीं होता, जिससे अंधेरा आता हो। अंधेरा है। ठीक ऐसे ही जैसे बाहर अंधेरा है, भीतर प्रकाश है—बिना स्रोत के, स्रोतरहित। जो स्रोतरहित है, वही शाश्वत हो सकता है। जो स्रोतरहित है, वही नित्य हो सकता है। जो स्रोतरहित है, वही सदा हो सकता है। बाकी सब चुक जाता है। निरालंब होकर जो संयोग को उपलब्ध होते हैं—संयोग के संतोष को, संयोग की पावनता को, वे उस स्रोतरहित प्रकाश को पा लेते हैं।

●

पांचवां प्रवचन

साधना-शिविर, माऊण्ट आबू, रात्रि, दिनांक २७ सितम्बर, १९७१

संन्यासी अर्थात् जो जाग्रत है, आत्मरत है, आनन्दमय है, परमात्म-आश्रित है

विवेक रक्षा ।

करुणैव केलि. ।

आनंद माला ।

एकासन गुहायाम् मुक्तासन सुख गोष्ठी ।

अकल्पित भिक्षाशी ।

हंसाचार :

सर्वभूतान्तर्वर्तीम् हंस इति प्रतिपादनम् ।

विवेक ही उनकी रक्षा है ।

करुणा ही उनकी क्रीडा है ।

गुह्य एकान्त ही उनका आसन और मुक्त आनंद ही उनकी गोष्ठी है ।

अपने लिए नहीं बनाई गई भिक्षा उनका भोजन है ।

हंस-जैसा उनका आचार होता है ।

सर्व प्राणियों के भीतर रहने वाला एक आत्मा ही हंस है—इसी को वे प्रतिपादित करते हैं ।

मैंने सुना है कि एक अंधे आदमी ने किसी फकीर को कहा कि मुझे इस गाँव के रास्ते बता दें ताकि मैं भटक न जाऊँ। मुझे ऐसी विधि बता दें ताकि मैं किसी से टकरा न जाऊँ। मुझे ऐसे उपाय सुझा दें जिससे आँखवाले लोगों की दुनिया मे मैं अंधा भी जीने मे सफल हो सकूँ। उस फकीर ने कहा, न हम कोई विधि बताएँगे, न कोई उपाय बताएँगे और न हम कोई मार्ग बताएँगे।

स्वभावतः अंधा दुखी और पीड़ित हुआ। उसने सोचा भी नहीं था कि फकीर—करुणा जिनका स्वभाव है—ऐसा व्यवहार करेगा। उसने कहा कि मुझ पर कोई करुणा नही आती? फकीर ने कहा, करुणा आती है, इसीलिए न तो मार्ग बताऊँगा, न उपाय बताऊँगा, न ऐसी विधि बताऊँगा जिससे तू अंधा रह कर आँखवाले लोगों की दुनिया में जी सके। मैं तुझे आँख खोलने का उपाय ही बता देता हूँ। तब तुम सीख लोगे इस गाँव के रास्ते, लेकिन गाँव रोज बदल जाते हैं। सीख लोगे इन आँखवालों के बीच रहना, लेकिन कल दूसरी आँखवालों के बीच रहना पड़ेगा। सीख लोगे विधियाँ, लेकिन विधियाँ सदा सीमित परिस्थितियों में काम करती हैं। मैं तुझे आँख ही खोलने का उपाय बता देता हूँ।

उपनिषद् का यह ऋषि कहता है : विवेक रक्षा। संन्यासी के पास और कुछ भी नहीं है सिवा उसके विवेक के। वही उसकी रक्षा है। न कोई नीति है, न कोई नियम है, न कोई मर्यादा है, न कोई भय है, न नर्क के दण्ड का कारण

है, न स्वर्ग के प्रलोभन की आकांक्षा है। बस, एक ही रक्षा है संन्यासी की—उसका विवेक, उसकी अवेयरनेस, उसकी आँखें।

इसे समझें। विवेक रक्षा, इन दो छोटे शब्दों में बहुत-कुछ छिपा है। सब साधना का सार छिपा है। एक ढंग तो है व्यवस्था से जीने का। क्या करना है, यह हम पहले ही तय कर लेते हैं। कहाँ से जाना है, कैसे गुजरना है, यह हम पहले ही तय कर लेते हैं। क्योंकि हमारा अपनी ही चेतना पर कोई भरोसा नहीं। इसलिए हम सदा ही भविष्य का चिन्तन करते रहते हैं और अतीत की पुनरुक्ति करते रहते हैं। जो हमने कल किया था, उसी को आज करना सुगम मालूम पड़ता है क्योंकि उसे हम जानते हैं। वह परिचित है, पहचाना हुआ है। लेकिन संन्यासी जीता है क्षण में—अभी और यहीं। अतीत को दोहराता नहीं, क्योंकि अतीत को केवल मुर्दे दोहराते हैं। भविष्य की योजना नहीं करता, क्योंकि भविष्य की योजना केवल अंधे करते हैं। इस क्षण में उसकी चेतना जो उसे कहती है, वही उसका कृत्य बन जाता है। इस क्षण के साथ ही वह सहज जीता है।

खतरनाक है यह। इसलिए उपनिषद् कहता है, विवेक ही उसकी रक्षा है। होशपूर्वक जीता है, बस इतनी ही उसकी रक्षा है। उसके पास और कोई उपाय ही नहीं है। पहले से वह तय नहीं करता कि कसम खाता हूँ, क्रोध नहीं करूँगा। जो आदमी ऐसी कसम खाता है, वह पक्का क्रोधी है। एक तो तय है बात कि वह क्रोधी है। यह भी तय है कि वह जानता है कि मैं क्रोध कर सकता हूँ। यह भी वह जानता है कि अगर कसमों का कोई आवरण खड़ा न किया जाए, तो क्रोध की धारा कभी भी फूट सकती है। इसलिए अपने ही खिलाफ इन्तजाम करता है। कसम खाता है कि क्रोध नहीं करूँगा। फिर कल कोई गाली देता है और क्रोध फूट पड़ता है। फिर और गहरी कसमें खाता है। नियम बाँधता है, संयम के उपाय करता है, लेकिन क्रोध से छुटकारा नहीं होता। क्योंकि जिस मन ने नियम लिया था और मर्यादा बाँधी थी और जिस मन ने कसम खाई थी, उतना ही मन नहीं है, मन और बड़ा है। बहुत बड़ा है। जो मन तय करता है कि क्रोध नहीं करेंगे, गाली दी जाती है तो मन के दूसरे हिस्से क्रोध करने के लिए बाहर आ जाते हैं। वह छोटा हिस्सा जिसने कसम खाई थी, पीछे फेंक दिया जाता है। थोड़ी देर बाद जब क्रोध जा चुका होगा, तो वह हिस्सा, जिसने कसम खाई थी, फिर मन के दरवाजे पर आ

जाएगा। वह पछताएगा, पश्चाताप करेगा; कहेगा, बहुत बुरा हुआ। कसम खाई थी, फिर कैसे क्रोध किया। लेकिन क्रोध के क्षण में इस हिस्से का कोई भी पता नहीं था।

मन का बहुत छोटा-सा हिस्सा हमारा जागा हुआ है। शेष सोया हुआ है। क्रोध आता है सोए हुए हिस्से से और कसम ली जाती है जागे हुए हिस्से से। जागे हुए मन की कोई खबर सोए हुए मन को नहीं होती। साँझ आप तय कर लेते हैं, सुबह चार बजे उठ जाना है और चार बजे आप ही करवट लेते हैं और कहते हैं, आज न उठें तो हर्ज क्या है। कल से शुरू कर देंगे। छह बजे उठकर आप ही पछताते हैं कि मैंने तो तय किया था चार बजे उठने का, उठा क्यों नहीं। निश्चित ही आपके भीतर एक मन होता, तो ऐसी दुविधा पैदा न होती।

लगता है, बहुत मन हैं। आदमी मल्टी साइकिक है, ऐसा भी कह सकते हैं। एक आदमी एक आदमी नहीं, बहुत आदमी है, एक साथ भीड़ है, क्राउड है। उसमें एक आदमी भीतर कसम खा लेता है सुबह चार बजे उठने की, बाकी पूरी भीड़ को पता ही नहीं चलता। सुबह उस भीड़ में से जो भी निकट होता है, वह कह देता है, सो जाओ, कहाँ की बातों में पड़े हो। इस प्रकार हमारी जिन्दगी नष्ट होती है।

नियम से बँध कर जीने वाला व्यक्ति कभी भी परम सत्य के जीवन की तरफ कदम नहीं उठा पाता है। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि नियम तोड़ कर दिए। मैं यह भी नहीं कह रहा हूँ कि मर्यादाएँ छोड़ दें। उस फकीर ने भी उस अंधे को नहीं कहा था कि आँख ठीक न हो जाए, तब भी अपनी लकड़ी फेंक दे। मैं भी नहीं कहता हूँ। लकड़ी रखनी ही पड़ेगी, जब तक आँख फूटी है; लेकिन लकड़ी को ही आँख समझ लेना नासमझी है। और यह जिद करना कि आँख खुल जाएगी, तब भी हम लकड़ी को सँभालकर ही चलेंगे, पागलपन है।

संन्यासी वह है, जो अपने को जगाने में लगा है। वह इतना जगा लेता है अपने भीतर सारे सोए हुए अंगों को कि अपने सारे खंडों को जगाकर एक कर लेता है। उस अखंड चेतना (इन्टीग्रेटेड कांससनेस) का नाम विवेक है। जब मन टुकड़े-टुकड़े नहीं रह जाता, इकट्ठा हो जाता है और एक ही व्यक्ति भीतर हो जाता है, तो 'हाँ' का मतलब 'हाँ' और 'न' का मतलब 'न' होने

जगता है। उस एक सुर से बँध गई चेतना का नाम विवेक है। जागी हुई चेतना का नाम विवेक है। होश से भर गई चेतना का नाम विवेक है। ऋषि कहता है, विवेक ही रक्षा है, और कोई रक्षा नही है। अद्भुत है यह रक्षा। क्योंकि विवेक जगा हो, तो भूल नहीं होती। ऐसा नहीं कि भूल नहीं करनी पड़ती। ऐसा नहीं कि भूल को रोकना पडता है। ऐसा भी नही कि भूल से लड़ना पड़ता है, बस ऐसा कि भूल नहीं होती। जैसे आँखें खुली हों, तो आदमी दीवाल से नही टकराता और दरवाजे से निकल जाता है। ऐसे ही भीतर विवेक की आग जगी हो, तो आदमी गलत को नहीं चुनता और उसका मार्ग ठीक बन जाता है।

विवेक रक्षा। जागा हुआ होना ही इस जगत् में एक मात्र रक्षा है। सोया हुआ होना इस जगत् में हजार तरह की विक्षिप्ताओं को, हजार तरह की रुग्णताओं को निमंत्रण देना है। हजार तरह के शत्रु प्रवेश कर जाएँगे और जीवन को नष्ट कर देंगे, छिद्र-छिद्र कर देंगे और खंड-खंड कर देंगे। तो जागना ही सूत्र है।

संन्यासी का अर्थ है, जो निरन्तर जागा हुआ जी रहा है, होशपूर्वक जी रहा है। कदम भी उठाता है, तो जानते हुए कि कदम उठाया जा रहा है। स्वाँस भी लेता है, तो जानते हुए कि स्वाँस ली जा रही है। स्वाँस बाहर जाती है, तो जानता है कि बाहर गई; स्वाँस भीतर जाती है, तो जानता है कि भीतर गई। एक विचार मन मे उठता है, तो जानता है कि उठा, गिरता है, तो जानता है कि गिरा। मन खाली होता है, तो जानता है कि मन खाली है। मन भरा होता है, तो जानता है कि मन भरा है। एक बात पक्की है कि जानने की सतत धारा भीतर चलती रहती है। कुछ भी हो, जानने का सूत्र भीतर चलता रहता है। यही रक्षा है, क्योंकि जानकर कोई गलत नही कर सकता। सब गलती अज्ञान है या सब गलती मूर्च्छा है।

अभी तो कभी-कभी कोई व्यक्ति जागता है—कभी कोई बुद्ध, कभी कोई महावीर, कभी कोई क्राइस्ट। कभी-कभी एकाध व्यक्ति जागता है इस सोए हुए लोगों की दुनिया में। हम उससे बहुत नाराज भी होते हैं। क्योंकि जहाँ बहुत लोग सोए हों, वहाँ एक आदमी का जागना दूसरों की नीद में बाधा बनता है (और वह जागा हुआ उत्सुक हो जाता है कि सोए हुओं को भी जगावें।) सोए हुए नाराज होते हैं, बहुत नाराज होते हैं। उनकी

नींद में बाधा होती है। और यह जागा हुआ इस तरह की बातें करने लगता है कि उनके सपनों का खंडन होता है। इसलिए हम सोए हुए लोग जागे हुए आदमी को समाप्त कर देते हैं। जब वह समाप्त हो जाता है, तब हम उसकी पूजा करते हैं। पूजा नींद में चल सकती है। जागे हुए आदमी की दोस्ती नहीं चल सकती।

जागे हुए आदमी के साथ जीना हो, तो दो ही उपाय हैं—या तो वह आपकी माने और सो जाए, या आप उसकी मानें और जग जाएं। पहले का तो उपाय है नहीं। जो जाग गया, वह सोने को राजी नहीं हो सकता है। जिसके हाथ में हीरे आ गए, वह कंकड़-पत्थर रखने को राजी नहीं हो सकता। जिसको अमृत दिखाई पड़ गया, उसको आप डबरे का पानी पीने को कहें, मुश्किल है, असंभव है। आपको ही जगना पड़ेगा उसके साथ।

सत्संग का यही अर्थ था। किसी जागे हुए पुरुष के पास होना, अर्थ था। उस जागे हुए के पास होने से शायद आपकी नींद भी टूट जाए। चाहे तो नींद का एकाध कण भी टूटे, करवट बदलते वक्त जरा-सी आंख भी खुले और जागे हुए व्यक्तित्व का दर्शन हो जाए, तो शायद आकांक्षा, प्यास जगे, अभीप्सा पैदा हो और आप भी जागने की यात्रा पर निकल जाएं। यदि कभी ऐसा हुआ कि बहुत लोग जाग सकें और जागे लोगों का समाज बन सका, तो निश्चित ही यह बात हम उस दिन कहेंगे कि पूरे इतिहास में हमने जिन लोगों को जुल्मी ठहराया, अपराधी ठहराया, वह गलती हो गई। सोए हुए लोग थे। सोए हुए लोग अपराध करेंगे ही।

अदालतें माफ कर देती हैं, अगर नाबालिग व्यक्ति अपराध करे। क्योंकि अदालत कहती है, अभी समझ कहाँ। लेकिन बालिग के पास समझ है। अदालतें क्षमा कर देती हैं अपराधों को या कम कर देती हैं, न्यून कर देती हैं, अगर आदमी ने नशे में किया हो, क्योंकि वे कहते हैं कि जो होश में नहीं था, उसके ऊपर जिम्मेवारी क्या! लेकिन हम तो होश में हैं।

सच तो यह है कि हमारा पूरा इतिहास सोए हुए आदमियों के कृत्यों का इतिहास है। इसीलिए तो तीन हजार वर्षों में सिवा युद्धों के और कुछ नहीं मिलता। तीन हजार वर्ष में जमीन पर चौदह हजार सात सौ युद्ध हुए। और ये तो बड़े युद्ध हैं, जिनका इतिहास उल्लेख करता है। दिन भर छोटी-मोटी लड़ाइयां जो हम लड़ते हैं, परायों से और अपनों से, उनका तो

कोई हिसाब नहीं, लेखा-जोखा नहीं। हमारी पूरी जिन्दगी कलह के अतिरिक्त और क्या है! पूरी जिन्दगी हम सिवा दुख के और क्या अर्जित कर पाते हैं! यह सोए हुए होने की अनिवार्य परिणति है।

ऋषि कहता है, संन्यासी के लिए तो विवेक ही रक्षा है। हिम्मतवर लोग थे, बड़े साहसी लोग थे, जिन्होंने यह कहा। यह नहीं कहा कि नीति में रक्षा है, नियम में रक्षा है। यह नहीं कहा कि मर्यादा में रक्षा है, शास्त्र में रक्षा है, गुरु में रक्षा है। उन्होंने कहा कि विवेक में रक्षा है, होश में रक्षा है। होश के अतिरिक्त कोई रक्षा नहीं हो सकती।

करुणा ही उनकी क्रीड़ा है। करुणैव केलिः। एक ही खेल है जागे हुओं का—करुणा। एक ही उनका रस बाकी रह गया है, बस एक ही बात उन्हें और करने योग्य रह गई है—करुणा।

बुद्ध को ज्ञान हुआ। फिर वे चालीस वर्ष जीवित रहे। हम पूछ सकते हैं कि जब ज्ञान हो गया, तब चालीस वर्ष जीवित रहने का कारण क्या है?—करुणा। महावीर को ज्ञान हुआ, उसके बाद भी वे इतने ही समय जीवित रहे। जब ज्ञान हो ही गया और परम अनुभूति हो गई, तो अब इस शरीर को ढोने की और क्या जरूरत है?—करुणा। जो भी जान लेता है, तो जानने के साथ ही उसके भीतर वासना तिरोहित हो जाती है और करुणा का जन्म होता है। वासना में जो शक्ति काम आती है, वही रूपांतरित होकर करुणा बन जाती है।

हम वासना में जीते हैं। वासना ही हमारा जीवन है। वासना का अर्थ है, हम कुछ पाने को जीते हैं। जब वासना रूपांतरित होकर करुणा बनती है, तो उलटी हो जाती है। करुणा का अर्थ है, हम कुछ देने को जीते हैं। लेकिन उलटी है यह हमारी दुनिया, बड़े कण्ट्राडिक्शंस, बड़े विरोधाभासों से भरी। वासना से जो भरे हैं, उन्हें हम सम्राट् कहते हैं; करुणा से जो भरे हैं, उन्हें हम भिक्षु कहते हैं। जो दे रहे हैं सिर्फ, वे भिखारी हैं; जो ले रहे हैं सिर्फ, वे सम्राट् हैं।

गहरा व्यंग्य है बुद्ध का इसमें। बुद्ध अपने को भिक्षु, भिखारी कहते हैं। और हम सब भी राजी हो जाते हैं कि ठीक है, दो रोटी तो बुद्ध हमसे मांगते ही हैं, तो भिखारी हो ही गए। बुद्ध हमें क्या देते हैं, उसकी कोई कीमत आंकी जा सकती है? लेकिन हमें यह भी पता न चले कि वे हमें दे रहे हैं,

उसकी भी वे चेष्टा करते हैं। इसलिए दो रोटी हमसे लेकर भिखारी बन जाते हैं, कहीं हमें ऐसा न लगे कि वे हमें कुछ देकर हम पर कोई एहसान कर रहे हैं। करुणा इतना भी नहीं चाहती है।

हम ऐसे नासमझ हैं कि अगर हमें यह पता चल जाए कि बुद्ध हमें कुछ दे रहे हैं, तो हमारे अहंकार को चोट लगे। शायद हम लेने का दरवाजा ही बन्द कर दें। बुद्ध हमसे दो रोटी ले लेते है। हमारे अहंकार को बडा रस आता है। लेकिन हमें पता नहीं कि हम एक बहुत हारती हुई बाजी लड रहे हैं। बुद्ध दो रोटी लेते हैं, पर वे जो देते हैं उसका हमें पता भी नहीं चलता। दो रोटी में बुद्ध को कुछ भी नहीं मिलेगा, लेकिन वह जो हमें दे रहे हैं वह हमारे अहंकार को पूरी तरह भस्मीभूत कर देगा, राख कर देगा। हमारे भीतर वह जो अस्मिता है, उसे मिटा देगा।

करुणा का अर्थ है, देने के लिए जीना। वासना का अर्थ है लेने के लिए जीना। वासना भिखारी है, करुणा सम्राट है। लेकिन दे कौन सकता है ? दे वही सकता है, जिसके पास हो और वही दिया जा सकता है, जो हमारे पास हो। वह तो नहीं दिया जा सकता है, जो हमारे पास न हो। हम तो माँगकर ही पूरे जीवन में जीते है। हमारे पास कुछ भी नही है। प्रेम भी हम माँगते हैं कि कोई दे। धन भी हम माँगते हैं कि कोई दे। यश भी हम माँगते हैं कि कोई दे। बड़े से बड़ा राजनेता भी भिखारी ही होता है, क्योंकि वह सबसे माँग कर जीता है। आप यश देते हैं, तो उसे मिलता है, आप खींच लेते हैं तो खो जाता है। दो दिन अखबार मे उसका नाम नहीं छपता, तो बात खत्म हो गई। लोग भूल जाते हैं कि कहाँ गया। कौन था, था भी या नहीं था।

१९१७ में लेनिन जब सत्ता में आया तो उसके पहले जो रूस का प्रधानमंत्री था करेंस्की, वह १९६० तक जिन्दा था। जब वह मरा, तभी लोगों को पता चला कि वह अब तक जिन्दा था। वह अमरीका में एक किराने की दुकान कर रहा था। लोग भूल ही चुके थे, बात ही खत्म हो चकी थी। वह मरा, तब पता चला कि यह आदमी जिन्दा था। कभी वह रूस का सर्वाधिक शक्तिशाली आदमी था। पर अपने पद से हटते ही उसकी कोई पूछ नहीं रही।

राजनेता भी हमसे यश माँगकर जीता है। जो भी हमसे माँगकर जीता है, वह संन्यासी नहीं है। संन्यासी तो वह है, जो हमें देकर जीता है। वह

देने की बात भी नहीं करता कभी कि आपको कुछ दिया है। ऐसा उपाय करता है कि आपको लगे कि आपने ही उसे कुछ दिया।

करुणा की उसकी क्रीड़ा है। करुणा भी क्रीडा है, यह बहुत मजेदार बात है। यह नहीं कहा कि करुणा ही उसका काम है। इट इज नॉट ए वर्क, बट ए प्ले। काम नहीं है करुणा; वह खेल है, क्रीड़ा है। क्रीड़ा और काम में क्या फर्क है ? कुछ बुनियादी फर्क है। एक तो यह कि काम अपने आप में मूल्यवान नहीं होता, क्रीड़ा अपने आप में मूल्यवान होती है।

अगर आप सुबह घूमने निकले हैं और कोई पूछे कि किसलिए घूमने निकले हैं; तो आप कहेंगे कि घूमने में आनन्द है। कहीं पहुँचने के लिए नहीं निकले हैं। कोई मंजिल नहीं है, कोई गन्तव्य नहीं है। फिर उसी रास्ते से आप अपने दफ्तर जाते हैं। कोई आदमी पूछता है, बडे आनन्द से टहल रहे हैं आप। तो आप कहते हैं, टहल नहीं रहा हूँ। दफ्तर जा रहा हूँ। कभी आपने खयाल किया है कि रास्ता वही होता है, आप वही होते हैं। सुबह जब टहलने निकलते हैं, तब पैरों का आनन्द और है, और जब उसी रास्ते से दफ्तर की तरफ जाते हैं, तो छाती पर पत्थर और है। रास्ता वही, पैर वही, चलना वही, आप वही, सब वही। सिर्फ एक बात बदल गई कि अब चलना काम है, और तब चलना खेल था। जो बुद्धिहीन हैं, वे अपने खेल को भी काम बना लेते हैं और जो बुद्धिमान हैं, वे अपने काम को भी खेल बना लेते हैं।

ऋषि कहता है, करुणा उनकी क्रीडा है, वह काम नहीं है। वह कोई बोझ नहीं है। वह भी कुछ ऐसा नहीं है कि बुद्ध ने तय ही कर रखा है कि इतने लोगों का निर्वाण करवा कर रहेंगे। अगर न हुआ, तो बड़े दुखी होंगे, बड़े पीड़ित होंगे, बडे पछताएंगे। बुद्ध ने कुछ तय नहीं कर रखा है कि आपका अज्ञान तोड़कर ही रहेंगे, नहीं टूटा तो छाती पीटकर रोएंगे। खेल है, आनन्द है कि आप जग जाएं। न जगें, आपकी मर्जी, बात समाप्त हो गई। खेल पूरा हो गया। एक व्यक्ति भी बुद्ध के प्रयासों से न जगे तो भी बुद्ध उसी आनन्द से परिभ्रमण करने विदा हो जाएंगे। उस आनन्द में कोई फर्क न पड़ेगा।

बुद्ध का आनन्द था कि वे बाँट दें। आपने नहीं लिया, वह जिम्मा आपका है। उसके लिए उन्हें पीड़ित होने का कोई भी कारण नहीं। इसलिए

कहा कि यदि करुणा क्रीड़ा, खेल बन जाए तो आनन्द है और काम बन जाए तो बोझ है। तो फिर बुद्ध मरते वक्त हिसाब रखेंगे कि इतने लोगों से कहा, किसी ने लिया? नहीं लिया। इतने लोगों को समझाया, कोई समझा? नहीं समझा, तो मेरा श्रम व्यर्थ गया। ध्यान रखिए, काम अगर पूरा न हो, फल न लाए, तो श्रम व्यर्थ चला जाता है। लेकिन क्रीडा का श्रम कभी व्यर्थ नहीं जाता। वह क्रीडा मे ही पूर्ण हो गया। कोई फल का सवाल नही। और इसलिए भी क्रीड़ा कहा कि सिर्फ क्रीड़ा ही फलाकांक्षा से मुक्त हो सकती है। काम कभी भी फलाकाक्षा से मुक्त नहीं हो सकता।

कृष्ण ने गीता में फलाकाक्षारहित कर्म की बात कही है। यह उपनिषद् का ऋषि ज्यादा ठीक शब्द का प्रयोग कर रहा है, कृष्ण से भी ज्यादा ठीक शब्द का, क्योंकि फलाकांक्षारहित कर्म यदि कर्म होगा तो उसमें फलाकांक्षा हो जाएगी, या फिर कर्म का अर्थ क्रीडा करना पड़ेगा। इसलिए ऋषि ने यह नहीं कहा कि करुणा उनका कर्म है। कहा, करुणा उनकी केलि, उनका खेल है। कहीं कोई आकाक्षा उससे तृप्त होने की नही। कही कोई इच्छा भविष्य में पूरा होने के लिए यात्रा पर नहीं निकले हैं। किसी वासना का तीर प्रत्यंचा पर नही चढा है। कोई लक्ष्य नही है, जिसे वेध डालना है। नही, बस यह मौज है।

भीतर आनन्द भर गया है, वह बाहर बिखरना चाहता है, लुटना चाहता है। जैसे फूल खिल गए हैं वृक्ष पर और उनकी सुगन्ध रास्ते पर गिरती है, यह क्रीड़ा है। वृक्ष इसकी चिन्ता में नहीं है कि कौन निकलता है नीचे से और जो निकलता है वह 'व्ही आई पी' है या नहीं, कोई प्रतिष्ठित आदमी निकलता है, कि कोई गरीब मजदूर निकलता है, कि आदमी निकलता है, कि गधा निकलता है। वृक्ष को कोई मतलब नहीं है। गधे को भी वृक्ष अपने फूलों की सुगन्ध वैसे ही दे देता है, जैसे एक राजनैतिक नेता को देता है। फूल कोई भेद नहीं करता। यदि कोई नहीं निकलता, रास्ता निर्जन, हो जाता है, तो भी फूल की सुगन्ध गिरती रहती है, क्योंकि यह फूल का अंतर-आनन्द है। यह किसी के प्रति प्रेरित नहीं है। यह जो सुगन्ध है, इस पर किसी का पता नहीं लिखा है कि इसके पास पहुंचे—अन ऐड्रेस्ड है वह। यह किसी के प्रति नहीं है। यह तो फूल का अन्तर आविर्भाव है। यह तो भीतर उसके प्राणों में जो सुगन्ध

बढ़ गई है, उसे वह लुटा दे रहा हूं। हवाएं ले जाएंगी। खाली खेतों में पड़ जाएगी, निर्जन रास्तों पर लुट जाएगी। उसे लुटा देने मे आनन्द है।

एक बहुत अद्‌भुत घटना मैंने सुनी है। एक बहुत बड़ा मनोचिकित्सक विल्हेम रेक, अभी पश्चिम में जो थोड़े से कीमती आदमी इस आधी सदी में हुए, उनमे से एक था। और जो होता है कीमती आदमियों के साथ, वही उसके साथ भी हुआ। विल्हेम रेक को आखीर में दो साल जेलखाने में रहना पड़ा। जो आदमी कम से कम पागल था, उसे अमरीका के कानून और समाज ने पागल करार देकर पागलखाने में डाल दिया। हमारे ढंग नहीं बदलते। हजारों साल बीत जाएं, हम वही करते हैं। उसमें कोई फर्क नहीं होता।

विल्हेम रेक एक मरीज का इलाज कर रहा था--एक मानसिक बीमारी थी। उसका मनोविश्लेषण कर रहा था। तीन बजे का उसे वक्त दिया था, तीन बजे मरीज नही आया। सवा तीन बज गए, घड़ी देखी। ठीक सवा तीन बजे मरीज भागा हुआ अन्दर आया। उसने कहा, क्षमा करना, मुझे थोड़ी देर हो गई। विल्हेम रेक ने कहा,—"यू केम जस्ट इन टाइम, अदर-वाइज, आई वाज टु बिगिन माई वर्क।" तुम ठीक वक्त पर आ गए, समय के भीतर आ गए, नही तो मैं अपना काम शुरू करने वाला था। उस मरीज ने कहा, लेकिन जब मैं आता ही नही, तो आप काम कैसे शुरू करते। मेरा ही तो मनोविश्लेषण होना है। फूल निर्जन मे सुगंध डाले तो हमारी समझ मे आ सकता है, लेकिन विल्हेम रेक अगर बिना मरीज के विश्लेषण शुरू कर दे, तो हम भी कहेंगे पागल है। विलियम रेक ने कहा कि तुम तो सिर्फ निमित्त हो। तू नहीं भी आता, तो हम काम शुरू कर ही देते। वह हमारा आनन्द है।

यह समझना कठिन होगा। फूल को समझ लेना आसान है, क्योंकि फूल को हम पागल नही सोच सकते। आदमी को समझना कठिन है। ऐसा हो सकता है, ऐसा हुआ है कि फूल की तरह निर्जन में भी जागे हुए पुरुषों की वाणी गूंजी है।

लाओत्से के बाबत मैंने सुना है कि कई बार ऐसा हुआ कि वह किसी वृक्ष के नीचे बैठा है और बोल रहा है। राहगीर कोई निकला, ठिठक कर खड़ा हो गया। चौंक कर उसने देखा, सुनने वाला कोई भी नहीं। पास आकर

राहगीरों ने पूछा कि यहाँ कोई सुनने वाला दिखाई नहीं पड़ता। आप किससे बोल रहे हैं, ? लाओत्से कहता, यह अन्तर्भाव है। कोई चीज भीतर जनम गई है, उसे बाहर डाले दे रहा हूं। अभी सुनने वाला नहीं हैं, शायद कभी कोई सुन ले। आज मौजूद नहीं है सुनने वाला, लेकिन आज बोलने की बात पैदा हो गई है। कहीं ऐसा न हो कि कल सुनने वाला हो और कहने वाला न रहे, तो मैं बात छोड़े जा रहा हूँ। हवाएँ इसे सँभाले रखेंगी, आकाश इसका स्मरण रखेगा और कभी कोई जब सुनने को तैयार होगा तो सुन लेगा। यह समझना हमें कठिन होगा। लेकिन बात यही है। ऐसे लोग काम से नहीं जीते, ऐसे लोग क्रीड़ा से जीते हैं। इन्हें जीवन एक बोझ नहीं, एक नृत्य है।

ऋषि कहता है, आनन्द ही उनकी माला है। वे और कुछ नहीं पहनते, आनन्द की ही माला पहने रहते हैं। उसमें आनन्द के ही गुरिए हैं, उसमें आनन्द का ही धागा पिरोया हुआ है। वे प्रतिक्षण अहोभाव में जीते हैं—प्रतिपल। कोई ऐसी परिस्थिति नहीं है, जो उन्हें दुख में डाल सके। हम परिस्थिति से दुखी होते हैं, परिस्थिति से सुखी होते हैं। कारण होता है हमारे दुख का और कारण होता है हमारे सुख का। ध्यान रहे, जब तक कारण होता है हमारे सुख का और दुख का, तब तक हमें आनन्द का कोई भी पता नहीं, क्योंकि आनन्द अकारण है। कारण सब बाहर होते हैं, इसलिए सुख भी बाहर होता है और दुख भी बाहर होता है। अकारण जो अवस्था है, वह भीतर होती है। इसलिए आनन्द भीतर होता है।

और ध्यान रहे, जो परिस्थिति पर निर्भर होकर जीता है, वह गुलाम है, वह गुलाम होगा ही। गुलाम इसलिए होगा कि परिस्थिति कभी भी बदल सकती है और उसका सुख-दुख हो सकता है। परिस्थिति उसके हाथ में नहीं, परिस्थिति मेरे हाथ में नहीं।

आनन्द ही उनकी माला है। सम्यास में जो गहरे गए, वे परिस्थिति पर निर्भर होकर नहीं जीते। उनके सुख-दुख का कोई कारण बाहर नहीं होता। बस, वे अकारण आनंदित होते हैं। तब फिर परिस्थिति कुछ भी नहीं कर सकती। आग लगा दें उनमें, तो भी वे उसी आनन्द में होते हैं। फूल बरसा दें उनके ऊपर, तो भी वे उसी आनन्द में होते हैं। उनके भीतर कोई रंच मात्र भी फर्क नहीं पड़ता। और जब भीतर रंच मात्र परिस्थिति से फर्क नहीं पड़ता, तभी हम बाहर से, पदार्थ से, मुक्त हुए, ऐसा समझें। उसके पहले नहीं।

इसका यह मतलब नहीं कि बुद्ध की छाती में आप छुरा मारेंगे, तो बुद्ध के प्राण न निकल जाएंगे। यह भी मतलब नहीं कि बुद्ध के पैरों में कांटा गड़ेगा और खून न बहेगा। जरूर बहेगा, शायद आपसे ज्यादा ही बहेगा, क्योंकि बुद्ध कांटे पर भी कठोर नही हो सकते। और छुरा भी छाती में आएगा तो बुद्ध उसके साथ भी कोआपरेट करेंगे, सहयोग करेंगे। वह और भीतर चला जाएगा। बुद्ध को जहर देंगे, तो बुद्ध भी मर जाएंगे। लेकिन फिर भी भीतर कोई अन्तर नही पड़ेगा। बुद्ध जहर से ही मरे। भूल से दिया था जहर, जान कर नहीं डाला था।

एक गरीब आदमी ने बुद्ध को भोजन के लिए निमंत्रण दिया था। बिहार में लोग कुकुरमुत्ते को इकट्ठा कर लेते हैं। वह जो बरसात में, गीली जगह में लकड़ी पर कहीं भी पैदा हो जाता है, बरसा की छतरी, उसे कुकुर-मुत्ता कहते है। उसे इकट्ठा कर लेते हैं। सुखा लेते हैं, तो वह वर्ष भर सब्जी का काम देता है, लेकिन वह कभी-कभी पायजनस (जहरीला) हो जाता है। गलत जगह में पैदा हो, तो उसमे कभी-कभी जहर हो जाता है। एक गरीब आदमी ने बुद्ध को निमंत्रण दिया। बहुत रोका लोगो ने। वहाँ का सम्राट् भी निमंत्रण देने आया, लेकिन थोडी देर हो गई थी। बुद्ध ने कहा, थोड़ी देर हो गई, निमत्रण तो मैं स्वीकार कर चुका हूँ। उसने कुकुरमुत्ते की सब्जी बनाई थी। और तो उसके पास कुछ था नही — रोटी थी, नमक था, कुकुर-मुत्ते की सब्जी थी। वह जहरीली थी। कडवा जहर था। लेकिन बुद्ध उसे खाते चले गए और उसकी सब्जी का गुणगान करते रहे। उससे कहते रहे, तूने कितने प्रेम और आनन्द से बनाई है। मैंने भोजन तो बहुत जगह किए, आहार बहुत सम्राटों के यहाँ किए, लेकिन तेरा-जैसा प्रेम कही भी नहीं मिला। लेकिन घर आते ही, जहाँ ठहरे थे, पता चला कि जहर फैलना शुरू हो गया। चिकित्सक बुलाए गए, लेकिन देर हो गई। बुद्ध की मृत्यु उसी जहर से हुई।

मरने के पहले बुद्ध ने आनन्द को पास बुलाकर उसके कान में कहा — आनन्द, गाँव में जाकर डुण्डी पीट देना कि जिस व्यक्ति के घर मैंने अंतिम भोजन किया है, वह महाभाग्यवान् है, क्योंकि एक तो भाग्यवान् वह माँ थी मेरी, जिसके साथ मैंने अपना पहला भोजन लिया था, और उसी माँ की कीमत का यह आदमी है, जिसके साथ मैंने अंतिम भोजन लिया।

आनन्द ने कहा, यह आप क्या कहते हैं, हमारे प्राण उस आदमी के

खिलाफ बोल रहे हैं। बुद्ध ने कहा, इसीलिए कहता हूँ, डुण्डी पीट देना। नहीं तो मेरे मरने के बाद वह गरीब मुसीबत में न पड़ जाएगा। लोग कहीं उस पर टूट न पड़ें कि तेरे भोजन से मृत्यु हो गई। मृत्यु तो जहर से हो जाएगी, लेकिन भीतर वही करुणा कि वह आदमी मुसीबत मे न पड़ जाए। मरते हुए बुद्ध को यही फिक्र है। कही उसके नाम के साथ निन्दा का स्वर न जुड़ जाए। कहीं इतिहास ऐसा न लिख दे कि उस गरीब आदमी पर ही पाप चला जाए कि उसी ने हत्या करवा दी। बुद्ध के भीतर अन्तर नहीं पड़ता। आनन्द ही उनकी माला है। आनन्द ही उनका अस्तित्व है।

गुहा एकांत ही उनका आसन है—एकासन गुहायाम्। इसमें दो शब्द समझ लेने-जैसे हैं। गुहा और एकात खोजना है, तो स्वयं के भीतर खोजे बिना नही मिलेगा। कही भी चले जाएँ, पहाड़ पर जाएँ, कैलाश पर जाएँ, जंगलों मे जाएँ, गुफाओं में जाएँ, कहीं भी जाएँ एकांत नही मिलेगा। जो बाहर एकात को खोजता है, वह एकांत को पा ही नहीं सकेगा। जाएँ कही भी, दूसरा सदा मौजूद होगा। आदमी न होंगे, पशु-पक्षी होंगे। पशु-पक्षी न होंगे, पौधे, वृक्ष, पत्थर की चट्टान होगी। लेकिन दूसरा मौजूद होगा। दूसरे से बचने का कोई उपाय नही। एक ही जगह है, अन्तर गुहा। भीतर एक गुहा स्थान है, जहाँ स्वयं के अतिरिक्त और कोई भी नही है। वही एकान्त है।

ऋषि कहता है, एकासन गुहायाम्। वह जो अन्तर की गुहा है, उस एकात मे ही प्रवेश कर जाना उनका आसन है। वे इसी आसन को खोजते हैं। हम सब आसन जानते हैं, हम योगासन जानते हैं। कोई सिर के बल खड़ा है, कोई शीर्षासन कर रहा है, कोई सिद्धासन कर रहा है, लेकिन ऋषि कहता है, ये आसन उनके आसन नहीं हैं। ये भी बाहर की क्रियाएँ हैं। उपयोगी हैं, हितकर हैं, उनमे लाभ ही होता है, लेकिन यह उनका आसन नही है। जो परम गति में प्रवेश करना चाहते हैं, उनका आसन तो एक हैं, स्वयं की ही गुहा में अकेले बच रहना। वही एकासन है, वही एक काम है। जहाँ मेरे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

यह बहुत मजे की बात है कि जहाँ मेरे अतिरिक्त कोई भी नही है, वहाँ मैं भी नहीं बचता हूँ। मेरे बचने के लिए दूसरे का होना जरूरी है। क्योंकि मैं दूसरे का ही छोर हूँ। अगर "तू" न बचे तो "मैं" के बचने के कोई उपाय नहीं हैं। तू को देखकर ही मैं जन्मता है। इसीलिए तो आप भीड़ को

खोजते हैं। हर आदमी भीड़ को खोजता है, क्योंकि भीड़ मे जितना मैं मालूम पड़ता है उतना अकेले में बिखर जाता है। बड़ी भीड़ आपके ऊपर नजर रखे तो आपका "मैं" बहुत संगठित हो जाता है, बहुत क्रिस्टलाइज्ड, मजबूत हो जाता है। नेतृत्व का रस यही है कि लाखों लोगों की आंखें मुझ पर हैं। मेरा 'मैं' मजबूत हो जाता है। कोई देखने वाला नहीं, कोई "तू" नही, तो 'मैं" के बचने का कोई उपाय नहीं।

"मैं" एक रिऐक्शन है, एक प्रतिक्रिया है, 'तू" के सामने। एक प्रतिध्वनि है। तो जहां मेरे भीतर मैं पहुंचूं अकेले मे, नितात एकांत मे, जहां कोई भी न बचे, दूसरा रहे ही न, द्वैत का पता ही न चले, दूसरा मिट ही जाए, भूल ही जाए तो ध्यान रखना, वहां मैं भी न बचूंगा।

दूसरे के गिरते ही मे भी गिर जाता हूं। तब सिर्फ गुह्य एकान्त रह जाता है। वहां न तू होता है, न मैं होता है। वहां न कोई अपना होता है, न पराया होता है। स्वयं का भी होना नहीं होता। अहंकार भी वहां नही है। ऐसे गुह्य एकान्त को ऋषि आसन कहता है। यही है आसन लगाने-जैसा, यही है जिसमें बैठें और जिसमें डूबें और जिसमें जिएं और जिसके साथ एक हो जाएं।

मुक्तासन सुख गोष्ठी—मुक्त आनन्द में उनकी गोष्ठी हूं। मुक्त आनन्द उनकी चर्चा हूं, मुक्त आनन्द ही उनका उपदेश हूं। मुक्त आनन्द तभी संभव है, जब मैं इतना अकेला हो जाऊं कि मैं भी न बचूं। अगर दूसरा मौजूद है, तो बंधन जारी रहेगा। अगर मैं भी मौजूद हूं, तो भी बंधन जारी रहेगा। न तू बचे, न मैं बचूं, तो वहां चेतना मुक्त हो जाती है, सब बंधन से बाहर हो जाती है। उस मुक्त आनन्द को ऋषि ने कहा है, वही उनकी गोष्ठी है। वही उनका सत्संग है। उस आनन्द के साथ ही उनकी चर्चा है, उस आनन्द के साथ विहरना ही उनकी चर्या है, उस आनन्द में जीना ही उनका जीवन है। इतना अकेला हो जाना कि जहां मैं भी न बचूं।

अपना भी साथ होता है। कभी आपने खयाल किया कि जब और कोई बात करने को नहीं मिलता है तब आप अपने से ही बात करते हैं? कभी आपने खयाल किया कि लोग ताश के पत्तों का ऐसा खेल तक खेलते हैं, जिसमें दोनों तरफ से चालें वे ही चलते हैं? कोई खेलने वाला न मिले, तो क्या

कीजिएगा ? ताश के पत्ते बिछाकर आदमी दोनो तरफ की चालें चलता है—अकेला, खुद ही। आप भी चौबीस घंटे इस तरह की चाल चलते हैं। आपके भीतर निरन्तर डायलॉग चलता है। दो नही हैं वहां, इसलिए डायलॉग होना नही चाहिए। दूसरा हो, तो बातचीत चलनी चाहिए; आप अपने ही से बातचीत चलाते हैं। आप ही चोर बन जाते हैं, आप ही मजिस्ट्रेट भी बन जाते हैं। भीतर बड़ा नाटक चलता है। करीद-करीब आप सभी का अभिनय भीतर कर लेते हैं। आप वह भी कह लेते हैं, जो आप कहना चाहते हैं। जिससे आप कहना चाहते हैं, उसकी तरफ से जवाब भी आप ही दे देते हैं।

मुल्ला नसरुद्दीन एक ट्रेन में यात्रा कर रहा है। बीच-बीच में अकारण खिलखिला कर हँस पड़ता है। फिर चुप हो जाता है। आसपास के लोग चौकन्ने हो गए हैं कि आदमी कुछ अजीब है। कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता। खाली बैठा है, आँखें बन्द किए है। फिर एकदम से खिलखिला कर हंसता है। फिर चुप हो जाता है। सँभलकर फिर बैठ जाता है। आखिर नहीं रहा गया। जिज्ञासा बढ़ी। एक आदमी ने हिम्मत कर उसे हिलाया और कहा, महानुभाव ! मामला क्या है, आप अचानक खिलखिला पड़ते हैं ? नसरुद्दीन ने कहा, "बाधा मत डालो। आई एम टेलिंग जोक्स टु माइ सेल्फ। (मैं अपने आपसे जरा मजाक की कुछ बातें कर रहा हूं)।" फिर उसने आँख बन्द कर ली। फिर वह बीच-बीच मे खिलखिलाकर हंसता रहा। फिर कभी-कभी ऐसा भी होता कि हंसता तो नहीं, लेकिन ऐसा झिड़कता—हिः, हिः। आखिर फिर उनकी जिज्ञासा बढ़ी कि बात क्या है ! फिर उससे पूछा बगल के आदमी ने कि महानुभाव, हंसते थे, ठीक था; अब कभी झिड़क देते हैं बीच-बीच में। तो उसने कहा, सम ओल्ड, टोल्ड जोक्स सुन चुके। कई दफा कह चुके, कई दफा वह मजाक बीच में आ जाती है।

पूरे समय हमारे भीतर भी यही चल रहा है। अकेले होकर भी हम अकेले नही हैं। अपने को बांट लेते हैं। बड़ा मजा है, बांट-बांट कर बातचीत चलती रहती है। जरा इस भीतर की चर्चा पर खयाल करना। ऋषि कहता है कि वह इतना अकेला हो जाता है, इतना अकेला कि अपने से भी अब बात नहीं हो सकती। अब तो आनन्द ही चर्चा है। अब तो आनन्द ही भीतर स्पन्दित होता रहता है। कोई नहीं बचा। आनन्द अकेला बच गया। वही नृत्य करता है, वही नाचता है। बस वही गोष्ठी है।

अकल्पित भिक्षाशी। यह बहुत जरूरी बात है, समझने-जैसी। संन्यासी परमात्मा पर छोड़कर जीता है। योजना करके नहीं जीता। अनप्लेंड, अनायोजित उसका जीवन है। सुबह उठता है, भूख लगती है तो भिक्षा माँगने निकल जाता है। यह भी पता नहीं कि भिक्षा मिलेगी, यह भी पता नहीं कि भिक्षा में क्या मिलेगा, यह भी पता नहीं, कौन देगा! अकल्पित है सब उसकी, कोई कल्पना भी नहीं करता। अगर कल्पना भी करे, तो वह संन्यासी की भिक्षा न रही। अगर वह सुबह से यह भी सोच ले कि आज फलाँ चीज खाने में मिल जाए, तो वह भिक्षा न रही संन्यासी की। वह भिखारी की भिक्षा हो गई।

सन्यासी के लिए सब अकल्पित है। भूख लगती है, निकल पड़ता है। किसी के द्वार पर खड़ा हो जाता है। कोई दे देता है ठीक, अन्यथा आगे बढ़ जाता है। जो दे देता है, ठीक। जो मिल जाता है, ले लेता है, स्वीकार कर लेता है। न कोई कल्पना है, न कोई योजना। नहीं, पहले से खबर भी नहीं देता कि कल आपके घर भोजन करने आऊँगा, क्योंकि अगर ऐसी खबर दे तो वह आयोजित हो जाएगी। वह अनायोजित जीता है। मानना यह है कि यदि अस्तित्व को जिलाना है, तो जिलाएगा। हम अपनी तरफ से मौन हैं।

सांझ को जो भी मिलता था, मुहम्मद उसे बँटवा देते थे। दिन भर लोग चढ़ा जाते, भेंट दे जाते। उन्हें वह सांझ तक बाँट देते। फिर भिखारी हो जाते। रात भिखारी ही सोते। सुबह फिर कोई दे जाता। एक बार मुहम्मद बीमार थे, तो उनकी पत्नी ने सोचा कि रात दवा की जरूरत पड़ सकती है, वैद्य बुलाना पड़ सकता है, तो उनसे पाँच दीनार, पाँच रुपए, छिपा कर रख लिये। आधी रात मुहम्मद करवट बदलने लगे। उन्होंने अपनी पत्नी से कहा, मुझे ऐसा लगता है कि इस मरते क्षण में मैं भिखारी नहीं हूँ।

पत्नी तो बहुत घबरा गई। उसने कहा, आपको कैसे पता चला? मुहम्मद ने कहा, जिन्दगी भर का भिखारी, रात बिना कुछ रखे सदा सोया हूँ। आदत बिगड़ गई। लगता है, घर में आज कुछ बचा हुआ है। तू निकाल ला, उसे बाँट दे। अन्यथा मैं परमात्मा के सामने क्या जवाब दूँगा कि आखिरी दिन भरोसा खो दिया। और क्या जिसने जिन्दगी भर बचाया, वह रात को वैद्य नहीं भेज सकता था और जिसने जिन्दगी भर भोजन दिया, वह रात को दवा नहीं दे सकता था? आखिरी वक्त मुझे परेशानी में मत डाल। अब मरने

के वक्त जब मैं उसके सामने जाऊँगा तो क्या मुँह लेकर जाऊँगा ? वह मुझसे पूछेगा, मुझे छोड़कर पाँच रुपए पर भरोसा किया, तो मैं तुझे कमजोर और पाँच रुपए ज्यादा ताकतवर मालूम पड़े ? जब जरूरत न थी, तब मैं तुझे सहयोगी लगता था और जब जरूरत पड़ी, तो रुपया सहयोगी हुआ ! वह निकाल ले।' पत्नी घबड़ा कर रुपए बाहर निकाल लाई। मुहम्मद ने कहा, जा बाहर किसी को दे आ।

पत्नी यह देखकर बड़ी हैरान हुई कि सामने एक भिखारी खड़ा है। उस भिखारी ने कहा, मैं बड़ी विपत्ति में पड़ गया हूँ। साथी मेरा बीमार पड़ा है और दवा की जरूरत है। मैं सोचता था, आधी रात में कौन देगा ? अपने आप दरवाजा खुल गया और ये पाँच रुपए तू दे रही है ! मुहम्मद ने अपनी पत्नी को कहा, देख, उसके रास्ते अनूठे हैं। जिसको जरूरत थी, उसको रुपए मिल गए और जिसने बचाया था, उसके हाथ से चले गए। और जैसे ही वे रुपए दे दिए गए, मुहम्मद ने चादर ओढ़ ली और अपनी पत्नी से कहा, अब मैं निश्चिंत मर सकता हूँ। तत्क्षण उनकी श्वाँस निकल गई। जो जानते हैं, वे कहते हैं, वह श्वाँस इसलिए अटकी थी। वे पाँच रुपए बहुत भारी पड़े। वे बहुत वजनी थे।

अकल्पित भिक्षाशी। संन्यासी कल्पना नहीं करता है—भिक्षा की ही नहीं, किसी चीज की कल्पना नहीं करता। किसी चीज की योजना नहीं बनाकर चलता। कुछ मिल जाए, ऐसा कोई सवाल नहीं है। जो मिल जाए, उसके लिए धन्यवाद और जो न मिले, उसके लिए भी उतना ही धन्यवाद। इसका अर्थ है कि वह अपने पर नहीं जीता, परमात्मा पर छोड़ कर जीता है। परमात्मा जहाँ ले जाएँ, वहीं चला जाता है। दुख में तो दुख में, सुख में तो सुख में। महलों में तो महलों में सही और झोंपड़ों में तो झोंपड़ों में सही। परमात्मा जहाँ ले जाए, उसके हाथ में अपने को छोड़ देता है।

छोटे बच्चे को देखा है कभी ? बाप का हाथ पकड़ कर रास्ते पर चलता होता है, तो वह बिलकुल फिक्र नहीं करता। कहाँ जा रहा है, कहाँ ले जाया जा रहा है ? जब बाप के हाथ में हाथ है, तो बात खत्म हो गई। अकल्पित भिक्षाशी। जब परमात्मा के हाथ में छोड़ दिया सब, तो अब बात खत्म हो गई। वह जो करवाए, वही ठीक है। उसी के लिए मन राजी है, उसकी स्वीकृति है।

हंस-जैसा उसका आचार है। हंस जैसा उसका आचरण है। हंस के आचरण की दो खूबियाँ हैं, वह खयाल में ले लें। संन्यासी के आचरण की खूबियाँ भी वे ही हैं।

एक तो मैंने आपसे पीछे कहा कि हंस की यह कल्पित क्षमता है, वैज्ञानिक न भी हो, काव्य-क्षमता है कि वह पानी और दूध को अलग कर लेता है। असार और सार को अलग कर लेता है। वह जो संन्यासी का जागा हुआ विवेक है, वह तलवार की तरह असार को और सार को काट कर अलग कर देता है। जस्ट लाइक ए सोर्ड—तलवार की तरह दो टुकड़े मे कर देता है।

हंस की एक दूसरी क्षमता है, वह भी काव्य-क्षमता है। वह है कि हंस मोती के अतिरिक्त और कुछ आहार नहीं लेता। मर जाए, पर मोती ही चुनता है। तो संन्यासी भी मर जाए, पदार्थ नहीं चुनता, परमात्मा ही चुनता है। हर हालत में चुनाव उसका मोतियों का है, ककड़-पत्थरो का नही। मौत के लिए राजी हो जाएगा, लेकिन कंकड़-पत्थरों के लिए राजी नहीं होगा। उसका चुनाव श्रेष्ठ का ही है। शुभ का, सुन्दर का, सत्य का ही उसका चुनाव है। यह जो हंस की क्षमता है, यह संन्यासी का आचरण है।

सर्व प्राणियों के भीतर रहने वाला एक आत्मा ही हंस है, इसको ही वे प्रतिपादित करते हैं। जीवन से, शब्दों से, वाणी से, आचरण से एक ही बात वे प्रतिपादित करते हैं कि सब के भीतर जो बसा है, वह ऐसा ही परमहंस है। सबके भीतर ऐसी ही आत्मा का आवास है। सबके भीतर ऐसी ही चेतना की धारा प्रवाहित हो रही है। जो जानते है, उनके भीतर भी और जो नही जानते हैं उनके भीतर भी। जो अपने आप आँख बन्द किए खड़े हैं, उनके भीतर भी वही परमात्मा है। जो द्वार बन्द किए हैं, उनके भीतर भी; जो आँख खोलकर देखते हैं, उनके भीतर भी। फर्क भीतर के परमात्मा का नही है, फर्क भीतर के परमात्मा से परिचित या अपरिचित होने का है। परम ज्ञानी में और परम अज्ञानी में जो फर्क है, वह स्वभाव का नहीं है; वह फर्क केवल बोध का है, अवेयरनेस का है।

मैं हूँ, जेब में हीरे पडे हैं, और मुझे पता नही। आपकी जेब में हीरे पड़े हैं और आपको पता है। जहाँ तक सम्पदा का सम्बन्ध है, हम दोनों में कोई भी भेद नहीं है। लेकिन फिर भी मैं निर्धन रहूँगा, क्योंकि मुझे अपनी सम्पदा

का कोई पता ही नहीं है। आप धनवान रहेंगे, क्योंकि आपको अपनी सम्पदा का पता है। सम्पदा मेरे पास उतनी ही है, जितनी आपके पास है; लेकिन उस सम्पदा का क्या मूल्य, जिसका हमे पता ही न हो। उस तिजोरी का क्या मूल्य जो हमें मालूम ही न हो कि वह है। उस हीरे का क्या कीजिएगा, जिसको हम पत्थर समझ कर घर के एक कोने में डाल रखे हैं। पर इससे फर्क नही पड़ता। वह सम्पदा हमारी है।

यही ऋषि उपदेश करते हैं। यही वे समझाते रहते हैं—अहर्निश, सब रूपों में, सब भांति। वे सब प्रकार से एक ही बात समझाते रहते हैं कि जो उनके भीतर है, वही तुम्हारे भीतर है। और सबके भीतर वही है। यह भरोसा एक बार आ जाए, यह ट्रस्ट एक बार आ जाए कि मेरे भीतर भी वही है, तो शायद मैं छलांग लगाने के लिए तैयार हो जाऊँ।

शायद यह स्मरण एक बार आ जाए कि वही मेरे भीतर भी है, तो शायद मैं खोज पर निकल जाऊँ। खोजने के लिए तैयार हो जाऊँ। कोई कह दे कि वह खजाना मेरे घर के नीचे भी गडा है, तो शायद मैं कुदाली उठा लूँ। आलसी आदमी हूँ, सोया पडा रहता हूँ, लेकिन खजाने की याददाश्त कोई दिला दे तो शायद मै आलस्य मे पडा रहने वाला, सोने वाला भी उठ जाऊँ। दो-चार हाथ चलाऊँ, तो शायद नीचे के घडों की आवाज आने लगे। और थोड़ा आगे बढ़ूँ, तो शायद घडे मिल जाएँ। घड़ो को फोड़ूँ, तो शायद खजाना मिल जाए।

तो ऋषि निरन्तर कहते रहते हैं। उनकी स्वांस-स्वांस एक ही बात बन जाती है कि वह लोगों को याद दिलाते रहें कि वह परमहंस सबके भीतर छिपा हुआ है।

●

छठा प्रवचन

साधना-शिविर, माऊण्ट आबू, प्रातः, दिनांक २८ सितम्बर, १९७१

अनन्त धैर्य, अचुनाव जीवन और परात्पर की अभीप्सा

धैर्यं कन्था ।

उदासीन कौपीनम् ।

विचार दण्डः ।

ब्रह्मभावलोक योग पट्टः ।

श्रिया पादुका ।

परेच्छाचरणम् ।

कुण्डलिनी बन्धः ।

परापवाद मुक्तो जीवनमुक्तः ।

धैर्य उनकी कन्था (सन्यासियो की गुदड़ी, झोली) है ।

उदासीन वृत्ति लँगोटी है ।

विचार दण्ड है ।

ब्रह्मदर्शन योग-पट्ट है ।

सम्पत्ति उनकी पादुका है ।

परात्पर की अभीप्सा ही उनका आचरण है ।

कुण्डलिनी उनकी बन्ध है ।

जो दूसरों की निन्दा से रहित है, वह जीवनमुक्त है ।

धैर्य उनकी कन्था- गुदड़ी— है। धैर्य को कई दिशाओं से समझना चाहिए। शायद धैर्य से बड़ी कोई क्षमता नहीं है। और जो सत्य की खोज पर निकले हों, उनके लिए तो धैर्य के अतिरिक्त और कोई सहारा भी नहीं है। धैर्य का अर्थ है अनन्त प्रतीक्षा की क्षमता— टु वेट इनफिनिटली। आज ही मिल जाए सत्य, अभी मिल जाए सत्य, ऐसी मन की वासना हो तो सत्य कभी नहीं मिलता। मैं प्रतीक्षा करूंगा, कभी भी मिल जाए सत्य। मैं मार्ग देखता रहूंगा, राह देखता रहूंगा, बाट देखता रहूंगा। अनन्त-अनन्त जन्मो मे, कभी भी जब उसकी कृपा होगी मिल जाए, ऐसी मनोदशा हो तो सत्य अभी और यहीं मिल सकता है। जितना बड़ा धैर्य, उतनी ही जल्दी घटना होती है; जितना ओछा धैर्य, उतनी ही देर लगती है।

प्रभु की तरफ पहुंचने के लिए प्यास तो गहरी चाहिए, लेकिन अधैर्य नहीं। अभीप्सा तो पूर्ण चाहिए, लेकिन जल्दबाजी नहीं। जितनी बड़ी चीज को हम खोजने निकले हैं उतनी ही मार्ग देखने की तैयारी चाहिए। और कभी भी घटे, घटता जल्दी ही है, क्योंकि जो मिलता है उसे समय से नहीं तौला जा सकता। अनन्त-अनन्त जन्मों के बाद भी प्रभु का मिलन हो, तो बहुत जल्दी हो गया। कभी भी देर नहीं है। क्योंकि जो मिलता है, उस पर अगर ध्यान दें, तो अनन्त-अनन्त जन्मों की यात्रा भी कुछ नहीं है। जो मंजिल मिलती है, उस पर पहुंचने के लिए कितना भी भटकाव कुछ नहीं है।

हूँ। उसी का उसी को देकर सौदा करेंगे ?

क्या है हमारे पास ? शरीर हमारा है ? जमीन हमारी है ? और हो सकता है, धन भी हमारा हो, जमीन भी हमारी हो, लेकिन एक बात पक्की है कि भीतर गहरे में वह जो हमारे भीतर छिपा है, वह हमारा बिलकुल नहीं है। क्योंकि न तो हमने उसे बनाया है, न हमने उसे खोजा है, न हमने उसे पाया है। तो धन तो हो भी सकता है आपका हो, लेकिन आप अपने बिलकुल नहीं हैं। क्योंकि कह सकते हैं कि धन मैंने कमाया लेकिन यह जो भीतर दीया जल रहा है चेतना का, यह तो प्रभु का ही दिया हुआ है। आपका इसमे कुछ भी नही है। आप अपने बिलकुल नही हैं, इसलिए देंगे क्या !

मारपा तिब्बत का एक बहुत अद्‌भुत कवि है। वह अपने गुरु के पास पहुँचा, तो उसके गुरु ने कहा कि तू सब दान कर दे। मारपा ने कहा, लेकिन मेरा अपना कुछ है कहाँ ? गुरु ने कहा कि कम से कम तू अपने को समर्पित कर दे। तो मारपा ने कहा, मैं ! मैं तो उसका ही हूँ। समर्पण करके, उसकी चीज उसी को लौटा कर, कौन सा गौरव होगा ! तो उसके गुरु ने कहा, भाग जा, अब दुबारा इस तरफ मत आना। क्योंकि जो मैं तुझे दे सकता था, वह तो तुझे मिल ही गया है। वह तेरे पास है। मारपा ने कहा, मैं फिर कोई जानने वाला पहचान ले, इसलिए आपके चरणों में आया हूँ। अनजान हूँ, जो मिल गया है, उसे भी पहचान नही पाता, क्योंकि पहले वह कभी मिला नही था। आपने कह दिया, मुहर लगा दी। असल में गुरु की अन्तिम जरूरत साधना के शुरू के चरणो मे नहीं पड़ती, अन्तिम जरूरत तो उस दिन पड़ती है, जिस दिन घटना घटती है। उस दिन कोई चाहिए, जो कह दे कि हाँ, हो गया। क्योंकि पहले तो कभी जाना हुआ नहीं है, उस लोक में प्रवेश हो जाता है, रिकगनीशन नहीं होता, पहचान नही होती कि जो हो गया है, वह क्या है। गुरु की जो जरूरत प्राथमिक चरणों में पड़ती है, वह बहुत साधारण है। अन्तिम क्षण में गुरु की जरूरत बहुत असाधारण है कि वह कह दे कि हाँ, वह बात हो गई जिसकी तलाश थी। वह गवाह बन जाए, वह साक्षी बन जाए।

धैर्य का अर्थ है, हमारे पास न दाँव पर लगाने को कुछ है, न परमात्मा को प्रत्युत्तर देने को कुछ है, न सौदा करने के लिए कुछ है। हमारे पास कुछ

तो ऋषि कहता है, धैर्य कन्था। संन्यासी के कन्धे पर जो झोली टँगी होती है, उसका नाम है कन्था। ऋषि कहता है, वस्तुतः संन्यासी की जो गुदड़ी है, झोली है, वह है धैर्य। और धीरज की इस गुदड़ी में बड़े हीरे आ जाते हैं। धैर्य तो हमारे भीतर जरा भी नहीं है। क्षुद्र के लिए तो हम प्रतीक्षा भी कर लें, विराट् के लिए हम जरा भी प्रतीक्षा नहीं करना चाहते। एक व्यक्ति साधारण-सी शिक्षा पाने विश्वविद्यालय की यात्रा पर निकलता है, तो कोई सोलह-सत्रह वर्ष स्नातक होने के लिए लग जाते हैं। पाता कुछ नहीं। कचरा लेकर घर लौट आता है, लेकिन अगर कोई व्यक्ति ध्यान की यात्रा पर निकलता है, तो वह पहले दिन ही आकर मुझे कहता है कि एक दिन बीत गया, अभी तो कुछ नहीं हुआ।

क्षुद्र के लिए हम कितनी प्रतीक्षा करने को तैयार हैं, विराट् के लिए कोई प्रतीक्षा नहीं। इससे एक ही बात का पता चलता है कि शायद हमें खयाल ही नहीं है कि विराट् क्या है। और शायद हमारी चाह इतनी कम है कि हम प्रतीक्षा करने को तैयार नहीं। क्षुद्र की हमारी चाह बहुत है, इसलिए हम प्रतीक्षा करने को राजी हैं। एक आदमी थोड़े-से रुपए कमाने के लिए पूरा जीवन दाँव पर लगाता है और प्रतीक्षा करता है कि आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों रुपए मिलेंगे ही। चाह गहरी है, इसलिए धन पाने की प्रतीक्षा करता है। परमात्मा के लिए वह सोचता है कि एकाध बैठक में ही उपलब्ध हो जाए और वह बैठक भी तब हो जब उसके पास अतिरिक्त समय हो, जो धन की खोज से बच जाता हो। छुट्टी का दिन हो, अवकाश का समय हो तभी। और फिर वह चाहता है कि जल्दी निपट जाए।

यह जल्दी निपटा देने की बात बताती है कि ऐसी कोई चाह नहीं है कि हम पूरा जीवन दाँव पर लगा दें। और ध्यान रहे, विराट् तब तक उपलब्ध नहीं होता, जबतक कोई अपना सब कुछ समर्पित करने को तैयार न हो। सब कुछ समर्पित करना भी कोई बारगेन नहीं है, कोई सौदा नहीं है। नहीं तो आप कहें कि मैंने सब कुछ समर्पित कर दिया, अभी नहीं मिला। अगर इतना भी सौदा मन में है कि मैंने सब समर्पित कर दिया, तो मुझे प्रभु मिलना चाहिए, तो भी नहीं मिल सकेगा। क्योंकि हमारे पास क्या है, जिससे हम प्रभु को खरीद सकें। क्या छोड़ेंगे आप? छोड़ने को है क्या आपके पास? आपका कुछ है ही नहीं, जिसे आप छोड़ें। सभी कुछ उसी का

भी नहीं है। माँग हमारी है कि परमात्मा मिले। प्रतीक्षा तो करनी पड़ेगी। धैर्य तो रखना पड़ेगा और अनन्त रखना पड़ेगा। ऐसा नही कि चूक जाए कि दो-चार दिन बाद फिर हम पूछने लगें। तो उसमें वैसा ही नुकसान होता है, जैसे छोटे बच्चे कभी आम की गुठली को गाड़ देते हैं जमीन में और दिन में चार दफे उखाड़कर देख लेते हैं, कि अभी तक अंकुर नही निकला ? अधैर्य है तो अंकुर कभी नहीं निकलेगा। इस चार दफे उखाड़ने में अंकुर कभी नहीं निकलेगा। अंकुर निकलने का मौका भी तो नहीं मिल पा रहा है, अवसर भी नहीं मिल पा रहा है।

जमीन मे बीज को बोकर भूल जाना चाहिए, प्रतीक्षा करनी चाहिए। हाँ, पानी डाले जरूर, पर अब बीज को उखाड़-उखाड़ कर मत देखते रहें कि अभी तक बीज फूटा, नही फूटा। तो फिर कभी नही फूटेगा, और ऐसे बीज खराब भी हो जाते हैं। तो ध्यान करके हर बार न पूछें कि अभी पहुँचे, कि नही पहुँचे। बोते जाएँ, सींचते जाएँ। जब अंकुर निकलेगा, तो पता चल जाएगा। जल्दी न करें, बार-बार उखाड़ कर मत देखें।

एक सूफी फकीर हुआ बायजीद। वह अपने गुरु के घर बारह वर्षों तक था। बारह वर्षों तक उसने यह भी न पूछा कि मैं क्या करूँ। बारह वर्ष बाद एक दिन गुरु ने कहा, बायजीद, किसलिए आया है, कुछ पूछता भी नही। तो बायजीद ने कहा, प्रतीक्षा करता हूँ। जब आप पाएँगे कि मैं योग्य हूँ, तो आप खुद ही कह देंगे। यह सन्यासी का लक्षण है। बारह वर्ष ! सांझ आकर पैर दाब जाता है, सुबह कमरा साफ कर देता है, चुपचाप बैठ जाता है, दिन भर बैठा रहता है। रात जब गुरु कहता है कि अब मैं सो जाता हूँ, तब चला जाता है। बारह वर्ष बाद गुरु पूछता है बायजीद, बहुत दिन हो गए तुझे आए, कुछ पूछता नही। बायजीद ने कहा, जब मेरी पात्रता होगी, जब आप समझेंगे कि क्षण आ गया कुछ कहने का, तो आप ही कहेंगे। मैं राह देखता हूँ। जो मैं पूछता उससे मुझे जो मिलता, वह इस राह देखने में अनायास मिल गया। अब मैं बिलकुल शान्त हो गया हूँ। बारह वर्ष कुछ किया नहीं, बैठकर आतुर परीक्षा की। मै एकदम शांत हो गया। भीतर कोई विचार नहीं रह गया।

आतुरता विचार ला देती है। जल्दबाजी विचार पैदा करवा देती है। अगर प्रतीक्षा हो, तो विचार शांत हो जाते हैं। जल्दी कुछ हो जाए, इसी से

मन में तूफान उठते हैं। कभी भी हो जाए, जब होना हो। और न भी हो, तो भी परमात्मा पर छोड़ देने का नाम प्रतीक्षा है। कोई शिकायत नहीं। धैर्य उनकी गुदड़ी है अर्थात् कोई शिकायत नहीं। वह जो दिखाए ठीक, वह जो न दिखाए ठीक। अन्तहीन प्रतीक्षा—इसका यह अर्थ नहीं है कि बात अन्तहीन हो जाती है। इतनी तैयारी हो, तो इसी क्षण बात घट जाती है; क्योंकि इतनी तैयारी वाले व्यक्ति के लिए अब और रोकने का कोई कारण नहीं। जिसके पास धैर्य की गुदड़ी है, उसके पास सत्य का धन तत्क्षण उपलब्ध हो जाता है।

उदासीन वृत्ति उनकी लँगोटी है। उदासीन वृत्ति को थोड़ा समझ लें। साधारणतः जो हम उदासीन से समझते हैं, वह अर्थ नहीं है! उदासीन से हम समझते हैं कि जो व्यक्ति, जहाँ-जहाँ वासनाएँ रस लेती हैं, वहाँ-वहाँ अपने को उदास रखता है, दूर रखता है। रस नहीं लेता। विराग रखता है, विरस रहता है। जहाँ-जहाँ इन्द्रियाँ माँग करती है, वहाँ-वहाँ अपने को रोक लेता है। नहीं, उदासीन का यह अर्थ नहीं है। अगर व्यक्ति अपने को पोजिटिवली, विधायक रूप से रोकता है, तो फिर उदासीन नहीं रहा। चुनाव शुरू हो गया।

मेरे मन ने कहा, यह बड़ा भवन मुझे मिल जाए, पर मैंने कहा कि नहीं लूँगा। मैं उदासीन हूँ, मैं इस महल की तरफ देखूँगा ही नहीं। मैं सिर नीचा करके, आँख बन्द करके गुजर जाऊँगा। मैं उदासीन नहीं रहा, मैंने पक्ष ले लिया। मेरे भीतर दो पक्ष हो गए। एक, जो माँग करता था कि यह महल मिल जाए, और एक जो कहता था कि नहीं, महल से क्या होगा? इन दो पक्षों में मैंने एक पक्ष ले लिया, तो मैं उदासीन न रहा। उदासीन का अर्थ है कि मन का एक कोना कहता है महल मिल जाए, मन का एक कोना कहता है कि नहीं लेंगे, क्या रखा है महल में! तो इन दोनों के प्रति जो दूर खड़ा रहे, तटस्थ रह जाए, न्यूट्रल रह जाय, चुनाव न करे, च्वायसलेस हो। मन की ये दोनों बात चलती रहें, लेकिन द्वन्द्व में से कुछ भी न चुने।

उदासीनता अचुनाव है। उदासीनता का अर्थ है कि हम द्वन्द्व में कोई भी चुनाव नहीं करते। मन का एक हिस्सा कहता है, क्रोध करो; मन का दूसरा हिस्सा कहता है, क्रोध जहर है। न हम मन के पहले हिस्से की सुनते हैं, न हम मन के दूसरे हिस्से की सुनते हैं। हम दूर खड़े होकर दोनों ही हिस्सों

को देखते हैं। न हम यह किनारा चुनते हैं, न वह किनारा चुनते हैं। हम कुछ चुनते ही नहीं। अचुनाव उदासीनता है। और प्रतिपल मन द्वन्द्व खड़े करता है क्योंकि मन का स्वभाव द्वन्द्व है — टु बी डुअल। मन एक-सा जी नही सकता। मन दो होकर ही जीता है।

आपने मन मे कभी कोई ऐसी लहर न पाई होगी जिसकी विपरीत लहर मन तत्काल पैदा नहीं कर देता। जहाँ आकर्षण होता है, तत्काल वहाँ विकर्षण पैदा हो जाता है। मन का एक हिस्सा कहता है, बाएँ चलो; दूसरा हिस्सा फौरन कहता है, दाएँ चलो। मन सदा ही द्वन्द्व खड़ा करता है। मन का स्वभाव द्वन्द्व है। अगर मन निर्द्वन्द्व हो जाए, तो मर जाए; अगर द्वन्द्व खो जाए, तो मन समाप्त हो जाए। अगर इस द्वन्द्व मे से आपने कुछ भी चुना, तो आप मन के साथ ही हैं। और जिसको आप चुनेंगे, उसके विपरीत जो है वह मौजूद रहेगा, वह मिटेगा नही। वह प्रतीक्षा करेगा आपकी कि ठहरो, थोड़े दिन मे ऊब जाओगे उस चुनाव से, फिर मुझे चुन लोगे। यही तो हो रहा है पूरे वक्त।

एक स्त्री को आप प्रेम करते हैं या एक पुरुष को आप प्रेम करते हैं, मन उस वक्त भी द्वन्द्व मे होता है। मन का एक हिस्सा कहता है कि ठीक है, बहुत प्रीतिकर है, साथ रहें। मन का एक कोने का हिस्सा कहता है कि कहाँ फँस रहे हो, किस उपद्रव मे जा रहे हो, मुसीबत मे पड़ोगे। फिर इसमें जो मेजर पार्ट होता है, जो हिस्सा वजनी मालूम पड़ता है, उस क्षण वासना का आप चुनाव कर लेते हैं। दूसरा पड़ा रह जाता है। थोड़े ही दिन में उस स्त्री या उस पुरुष के साथ रहकर दुख शुरू होते हैं, क्योंकि दूरी मे सब आकर्षण है। पास आते ही डिस-इल्यूजनमेंट शुरू हो जाता है, सारे आकर्षण गिरने शुरू हो जाते हैं। वह स्त्री, जो अप्सरा मालूम पड़ती थी, चार दिन साथ रहने के बाद साधारण स्त्री हो जाती है। बीच का सम्मोहन गिर जाता है। जिसके शरीर से सुगन्ध मालूम होती थी, अब उसके शरीर से पसीने की दुर्गन्ध आने लगती है। जो हाथ ऐसे मालूम पड़ते थे कि छू लेंगे तो शायद फूलों का स्पर्श होगा, अब ऐसा होता है कि ये हाथ भी ठीक हड्डी और मांस के हाथ हैं, और सब बात साधारण हो जाती है।

फ्रांस के एक बहुत विचारशील व्यक्ति आस्कर वाइल्ड ने एक बात अपनी डायरी मे जीवन भर के अनुभवों के बाद लिखी है। लिखा है, "देयर

आर टू मिसफ रच्यून्स इन मेनस् लाइफ, वन इज नाट टू गेट द वन, वन लव्ज, ऐण्ड द अदर इज टु गेट हिम ऑर हर, ऐण्ड द सेकेन्ड वन इज द वर्स ।"
दो ही दुर्भाग्य है मनुष्य के जीवन में। एक, जिसे प्रेम करते हैं, उसे न पा सकें। दूसरा, जिसे प्रेम करते है, उसे पा सकें। और दूसरा पहले से बदतर है। क्योंकि जिसे हम प्रेम करते हैं, उसे अगर हम न पा सकें, तो सम्मोहन सदा के लिए बना रह जाता है।

मजनू को पता नहीं है असली दुर्भाग्य का। असली दुर्भाग्य तब होता जब लैला मिल जाती। बच गए, असली दुर्भाग्य से बच गए। नहीं मिली, सपना कायम रहा, आशा जगती रही, वासना प्रज्वलित रही। मिल जाती तो जैसे आग पर पानी पड़ जाए, ऐसी लैला-मजनू पर पड़ जाती। आस्कर वाइल्ड कहता है कि दूसरा पहले से बदतर है। दुर्भाग्य तो दोनों हैं, क्योंकि पहले में भी परेशानी है और दूसरे मे भी परेशानी है; लेकिन फिर भी पहला बेहतर है, क्योंकि परेशानी मे भी एक रस है, दूसरी परेशानी में रस भी नहीं है। लेकिन मन दोनों ही बातें पैदा करता है। पहले कहता है, पाओ। पा लेने पर कहता है, क्या रखा है। यह जो क्या रखा है, यह पहले भी मौजूद था, सिर्फ यह माइनर पार्ट था। इसलिए दबा पड़ा रहा। यह प्रतीक्षा करेगा कि मेरा भी अवसर तो आएगा। तब मैं ऊपर उठ आऊँगा और कहूँगा, देखो, पहले ही कहा था। सुना नहीं, अब मुसीबत मे पड़ गए हो।

मन द्वन्द्व में जीता है। आप ऐसी कोई चीज नहीं चाह सकते, जिसके प्रति एक दिन अचाह पैदा न हो। आप ऐसा कोई प्रेम नहीं कर सकते, जिसमें आपको किसी दिन घृणा न जनम जाए। आप ऐसा कोई मित्र नहीं बना सकते, जो किसी दिन शत्रु न हो जाए। जो भी चाहा जाएगा, उसका भ्रम टूटेगा। आप ऐसी कोई चीज नहीं पा सकते, जो एक दिन ऐसा न लगे कि गले में फाँसी लग गई। इतनी मेहनत करके जो हम पाते हैं, अपनी ही फाँसी बनाते हैं।

वोल्तेयर ने लिखा है कि एक वक्त था, जब मुझे कोई भी नहीं जानता था। रास्ते से जब मैं गुजरता था, तब बहुत पीड़ित होता था कि कोई नमस्कार भी नहीं करता। मन में एक ही आकांक्षा थी कि कब वह दिन आएगा कि लोग मुझे भी जानेंगे और जहाँ से गुजर जाऊँगा, आँखें मेरी तरफ फिर जाएँगी। वह दिन आ गया—दूसरे नम्बर का दुर्भाग्य। वोल्तेयर की

हालत यह हो गई कि पुलिस को उसे चोरी से छिपाकर उसके घर पहुँचाना पड़ता था। क्योंकि इतने लोग उसको जानने लगे और इतना मानने लगे कि वह कपड़े पहने हुए घर नहीं पहुँच सकता था। फ्रांस में ऐसा रिवाज है कि जिसे हम आदर करते हैं, उसके कपड़े के टुकड़े का ताबीज बनता है। तो घर पहुँचने तक उसके कपड़े फट जाते थे। वोल्तेयर ने कहा, हे भगवन्, किसी तरह इनसे बचाओ। इससे तो पहली वाली हालत अच्छी थी। कम से कम सुरक्षित घर तो आ जाते थे। अब तो कभी भीड़ में वह लुट भी जाता, हाथ में चोट लग जाती, क्योंकि लोग कपड़े फाड़ते। वह दिन फिर आ गया। वक्त बदलने मे देर नहीं लगती, जैसा मौसम बदलने में देर नहीं लगती। लोगों के मन का क्या भरोसा है, क्षण-क्षण मे बदल जाते हैं। वह वक्त फिर आ गया, वोल्तेयर बदनाम हो गया। मरते वक्त वोल्तेयर को मरघट पहुँचाने चार प्राणी गए थे, तीन उसके मित्र और एक कुत्ता। लोग भूल चुके थे। मरते वक्त फिर वही पीड़ा थी। वह उतर आता है स्टेशन पर, कोई लेने नहीं आता। रास्ते से गुजरता है, कोई खयाल नहीं करता। जब उसके मरने की खबर सुनी, तभी अनेक लोगों ने कहा, अरे, वोल्तेयर अभी जिन्दा था! हम तो समझते थे कि कभी का मर चुका होगा। बहुत दिनों से उसका नाम नहीं देखा, सुना नहीं।

जो भी हो जाए, उसीसे मन दूसरे पहलू पर लौटने लगता है। यश मिल जाए, तो यश से परेशानी हो जाती है। यश न मिले, तो न मिलने से परेशानी होती है। धन मिल जाए, तो परेशानी देता है; धन न मिले, तो परेशानी होती है। इस संसार में ऐसी कोई भी चीज नहीं है, जो दोनों हालत में परेशानी न दे और उसका कारण है कि मन सदा द्वन्द्व मे जीता है। एक को चुना कि दूसरा भी तैयार हो गया। जब यह थक आएगा, तो दूसरा ऊपर आ जाता है।

उदासीन का अर्थ है जो चुनाव ही नहीं करता। इसलिए उदासीन धन्यभागी है, क्योंकि उदासीन दुखी नहीं हो सकता। वह जो आस्कर वाइल्ड ने दो विकल्प कहे, वह दोनों ही विकल्प नहीं चुनता। वह कहता है, हम मन का कोई भी विकल्प नहीं चुनते। हम मन में चुनाव ही नहीं करते। हम कहते हैं, मन, तुझे जो करना है, कर। हम दूर ही खड़े हैं। हम तुझे न चुनेंगे। न यह, न वह। न पक्ष, न विपक्ष। हम तटस्थ हैं।

उदासीनता बड़ी अद्भुत शांति है। क्योंकि जब आप मन का चुनाव ही नहीं करते, तो धीरे-धीरे दोनों द्वन्द्व मर जाते हैं। वे चुनाव से ही जीते हैं, आपके सहयोग से ही जीते हैं। दोनों धीरे-धीरे सूख जाते हैं, उनको जल मिलना बन्द हो जाता है। और जिस दिन मन का द्वन्द्व सूख जाता है, उसी दिन मन भी सूख जाता है। इसलिए ऋषि ने कहा, उदासीनता उनकी लँगोटी है। वे प्रतीक की तरह बात कर रहे हैं, ताकि खयाल में आ जाए कि क्या है संन्यासी का रूप।

विचार उनका दण्ड है – विचार दण्डः। उनके हाथ की जो लकड़ी है, वह है विचार। लेकिन यहाँ विचार से क्या अर्थ है, वह थोड़ा समझ लें। विचार एक बात है और विचारों की भीड़ बिलकुल दूसरी बात है। अगर एक विचार हो, तो हाथ की लकड़ी बन सकता है और अगर बहुत विचार हों, तो हाथ की लकड़ी नहीं बनता है। फिर सिर पर लकड़ी का गट्ठर बन जाता है। वह सहारा नहीं रहता, बोझ हो जाता है। विचारों में नहीं है संन्यासी, वह विचार में है। एक तो फर्क यह समझ लें कि हम सदा विचारों में होते हैं, विचार में नहीं। हमारे भीतर एक भीड़ होती है विचारों की। निर्जन, एकांत, अकेला विचार हमारे भीतर कभी नहीं होता। असंगत विचारों की भीड़ होती है। हम एक से दूसरे पर छलांग लगाते रहते हैं। विपरीत भीड़ होती है। एक विचार यह और उसका उल्टा भी वहीं मौजूद होता है। उसके पीछे ही खड़ा होता है। अनेक विचार साथ ही खड़े रहते हैं। वही तो हमारी विक्षिप्तता है, पागलपन है, इनसेनिटी है।

विचारों के बीच हम सिर्फ दब जाते हैं। और जब विचार का आधिक्य हो जाता है, तो विवेक क्षीण हो जाता है। जैसे आकाश बदलियों में दब जाए, या किसी झील पर पत्ते ही पत्ते फैल जाएँ और झील का जल दिखाई पड़ना बन्द हो जाए, ऐसे ही हमारे भीतर जो विवेक है, चेतना है, वह विचारों के पत्तों में दब जाता है। उसका फिर हमें पता ही नहीं चलता।

विचार दण्ड है अर्थात् संन्यासी अपनी चेतना के समक्ष एक विचार से ज्यादा को एक साथ नहीं आने देता। क्योंकि एक आवे, तभी उसकी परीक्षा हो सकती है, एक आवे, तभी उसकी चेतना जाँच और परख सकती है। एक आवे, तो चेतना निर्णय कर सकती है। एक आवे, तो तत्काल दिखाई पड़ जाता है कि ठीक है या गलत। सोचना नहीं पड़ता। लेकिन एक फर्क

और समझ लें।

यहाँ विचार से थॉट अर्थ का भी नहीं है, थिंकिंग का है। एक तो विचार का अर्थ होता है विचार—ऑबजेक्टिव। जैसे आपके भीतर एक विचार आया कि भूख लगी है, खाना खाना चाहिए। नींद आ रही है, सो जाना चाहिए। एक विचार आपके भीतर आया। इस विचार के आने से जरूरी नहीं है कि आप विचारवान हों या आपके भीतर थिंकिंग की, विचारणा की क्षमता हो। क्योंकि जब आपको खयाल आया कि भूख लगी, तब विचारवान जो है, वह इसी विचार से नहीं जिएगा। वह इस विचार पर भी विचार करेगा। एक दूसरी परत पर खड़े होकर विचार करेगा। क्या सच में भूख लगी है ?

बहुत बार तो सच में भूख नही लगती। सिर्फ आदत से लगती है। अगर एक बजे खाना खाते हैं और घड़ी ने एक का घण्टा बजा दिया, तो बस विचार आ जाता है कि भूख लगी। वह भूख सच्ची नहीं है। अगर घडी ने गलती से, बारह ही बजे हों और एक का घण्टा बजा दिया हो, तो भी भूख लग जाती है। वह भूख सच में नहीं लगती। अगर आप घण्टे भर रुक जाएँ, तो वह भूख, चूँकि सच्ची नही थी, सिर्फ हैबीच्युअल थी, आदतन थी—तो घण्टे भर बाद आप पाएँगे कि भूख मर गई। अगर भूख सच्ची हो, तो घण्टे भर बाद और बढ जानी चाहिए। लेकिन झूठी भूख घण्टे भर बाद मर जाएगी, क्योंकि मन तो सिर्फ यंत्रवत् चल रहा है।

आपके भीतर जो विचार चलते हैं, वे आदतन हैं। वह आपकी चिन्तना का परिणाम नहीं है। वह आपके होश से नहीं जन्मे हैं, वे आपकी पुरानी जड आदतो, आपके अतीत और आपकी स्मृति की पैदाइश हैं— मेमोरी प्रोडक्ट हैं। एक आदत का समूह बना हुआ है, वह रोज काम करता रहता है। आप घर आते हैं, तो आपको सोचना थोडे ही पडता है, विचार थोड़े ही करना पडता है कि अब बाएँ घूमें, अब दाएँ घूमें, अब अपने घर मे जाएँ, अब घर आ गया तो साइकिल का ब्रेक लगाएँ। ऐसा कुछ नही करना पड़ता। आपकी खोपडी में हजार चीजें चलती रह सकती हैं। हाथ वक्त पर ब्रेक लगाता है, हाथ साइकिल को मोड देता है। बाएँ घूम जाते हैं, दाएँ घूम जाते हैं, घर के पास पहुँच जाते हैं। कभी आपने खयाल किया है कि आपको साइकिल चलाते वक्त सोचना नहीं पड़ता कि अब

कहाँ, अब किस तरफ; आदतन सब हो जाता है। जरूरी भी है, क्योंकि जिन्दगी में अगर सभी चीजें सोचनी पड़े, तो बहुत मुश्किल हो जाए जिन्दगी चलानी। अगर रोज-रोज सोचना पड़े कि क्या यह अपना ही घर है! बाहर खड़े होकर अगर यह विचार करें, तो मुश्किल हो जाए। ऐसे लोग भी हैं जिनको रोज सोचना पड़ता है कि अपना ही घर है!

मुल्ला नसरुद्दीन की जब शादी हुई तो पत्नी पहले ही दिन बहुत परेशान हो गई। अपने पड़ोसी से उसने कहा कि मैं तो बहुत दुखी हो गई हूँ। पड़ोसी ने कहा, क्या हो गया पहले ही दिन। उसने कहा, जब खाना खाकर मुल्ला उठा तो उसने मेरे हाथ में टिप रख दी। तो उसके पड़ोसी ने कहा, इसमें कोई ऐसी चिन्ता की बात नहीं। यह आदतन हुआ है। बेचारा कुँवारा आदमी, अब तक होटल में ही खाता था। उसकी पत्नी ने कहा, नहीं, इससे भी मुझे चिन्ता न हुई। चिन्ता तो तब हुई, जब टिप रखने के बाद उसने मुझे चूम भी लिया। अगर टिप भी आदतन है और यह भी आदतन है, तो बहुत खतरनाक मामला है।

हम जीते हैं ऐसे ही। सब जड़ हो जाता है। सब बँध जाता है, एक लीक हो जाती है। उस पर ही हम चलते हैं। बाहर की जिन्दगी में ठीक भी है। काम करना मुश्किल होगा, लेकिन भीतर की जिन्दगी में बहुत खतरनाक है, क्योंकि विचारणा कम होती चली जाती है। इसलिए बच्चे जितने विचारशील होते हैं, बूढ़े उतने विचारशील नहीं होते; यद्यपि बच्चों के पास विचार कम होते हैं और बूढ़ों के पास बहुत होते हैं। इसलिए फर्क को खयाल मे ले लें। बूढ़े के पास विचार तो बहुत होते हैं, विचारशीलता कम हो गई होती है। क्योंकि सब विचार उसकी आदत बन गए होते हैं, अब उसे विचार करना नहीं पड़ता। विचार आ जाते हैं। वे नियमित हो गए हैं।

बच्चे के पास विचार बहुत कम होते हैं, इसलिए विचारशीलता बहुत होती है। फिर धीरे-धीरे विचारों की परतें जमती जाएँगी। वह भी कल बूढ़ा हो जाएगा, तब विचार करने की जरूरत न पड़ेगी। विचार रहेंगे उसके पास। जब जिस विचार की जरूरत होगी, वह अपनी स्मृति के खाने से निकाल कर सामने रख देगा। ध्यान रहे, बूढ़े के पास अनुभव होता है, विचार होते हैं, लेकिन विचारशीलता कम होती चली जाती है। क्योंकि बहुत पत्ते झील पर इकट्ठे हो जाते हैं। बच्चा खाली झील की तरह है, जिस पर पत्ते अभी नहीं

है। इसलिए अगर बच्चों को ध्यान सिखाया जा सके, तो इस जगत् में क्रान्ति हो सकती है अन्यथा क्रान्ति नहीं हो सकती; क्योंकि बूढ़े के साथ उलटी मेहनत करनी पड़ती है। जिन्दगी भर उसने कचरा इकट्ठा किया है। इकट्ठा करने के पहले ही अगर उसको यह बोध आ जाता कि व्यर्थ इकट्ठा नहीं करना है, या इकट्ठा भी कर लेना है, तो उससे तादात्म्य नहीं करना है; और कितने ही विचार इकट्ठे हो जाएँ, विचारशीलता को मरने नहीं देना है।

अपने विचार के प्रति भी तटस्थता का नाम विचारशीलता है। दूसरे के विचार के प्रति तो हम तटस्थ होते ही हैं। अपने विचार के प्रति भी तटस्थता का नाम विचारशीलता है। अपने विचार पर भी पुनर्विचार करने की क्षमता का नाम विचारणा है—और प्रतिदिन, आदतवश नहीं, होशपूर्वक; क्योंकि कल का कोई विचार आज काम नहीं पड़ सकता है। सब बदल गया होता है, विचार थिर हो जाता है, जड़ हो जाता है। वह पत्थर की तरह भीतर बैठ जाता है और जिन्दगी तो तरल है, लिक्विड है, वह बदलती जाती है और कंकर-पत्थर भीतर इकट्ठे करते चले जाते हैं।

रमजान का महीना था और मुल्ला नसरुद्दीन ने भी तय किया कि वह भी उपवास करेगा। सोचा, रोज-रोज हिसाब रखना पड़ेगा कि कितने दिन हो गए। उपवास में रखना ही पड़ता है। नहीं तो आदमी मर जाए, आशा लगाए रखता है कि चलो, एक दिन चुका। अब पन्द्रह दिन बचे, अब चौदह दिन बचे–गुजर ही जाएगा, इतनी तकलीफ कौन उठाए, कौन हिसाब रखे; तो उसने एक मटकी रख दी और रोज उसमें एक कंकड़ डालता गया। जब भी जरूरत होगी, कंकड़ गिन लेगा। कोई पन्द्रह दिन बीते होंगे उपवास के दिनों के और कोई यात्री राह से गुजरता हुआ, तीर्थयात्रा पर जाता हुआ नसरुद्दीन के द्वार पर रुका। नसरुद्दीन से उसने पूछा कि मैं जरा भूल गया हूँ, रमजान के कितने दिन निकल गए। नसरुद्दीन अपनी मटकी लाया। थोड़ा डरा भी। मटकी उसने उलटायी। यात्री से कहा कि तुम जरा बाहर बैठो, मैं गिन कर आता हूँ। गिने, बड़ा हैरान हुआ। हुआ ऐसा कि उसके लड़के को भी यह देखकर कि बाप रोज कंकड़ डालता है मटकी में, लड़का भी कंकड़ ला लाकर डालता चला गया। बाहर जाकर उसने कहा कि माफ करना भाई, ४५ दिन हो गए हैं। उस आदमी ने कहा, पैंतालिस! महीने में पैंतालिस दिन होते हैं?

नसरुद्दीन ने कहा, यह तो बहुत कम करके बता रहा हूं। पत्थर तो डेढ़ सौ हैं। यह मैंने काफी कम करके बताया।

विचार भी ऐसे ही पत्थरों की तरह भीतर इकट्ठे होते चले जाते हैं। जिन्दगी बहुत तरल है, विचार बहुत ठोस हैं। फिर आखीर में उन्हीं कंकड़-पत्थरों को गिनकर हम जिन्दगी का हिसाब रखते हैं। और जैसा नसरुद्दीन के लड़के ने बहुत पत्थर डाल दिए, विचार सब आपके नहीं होते, आपके तो थोड़े ही होते हैं, बाकी तो दूसरे आपमें डाल देते हैं। आखिर में जब आपके घड़े में पत्थर निकलते हैं, तो वे सब आपके नहीं होते हैं। सब डाल रहे हैं आपके घड़े मे पत्थर। आखिर मे गिनती आप करेंगे, समझेंगे अपने हैं। बाप बेटे में डाल रहा है, पत्नी पति की खोपड़ी में डाल रही है, शिक्षक विद्यार्थी के, गुरु शिष्यों के। वे सब कंकड़-पत्थर इकट्ठे हो जाएंगे। उनका नाम विचार नही है। विचारो के संग्रह का नाम विचार नहीं है। विचार एक शक्ति है—सोचने की, देखने की, निष्पक्ष होने की, अपने ही विचार के प्रति तटस्थ होने की। वह जो कल का विचार था, वह भी पराया हो गया, उसके प्रति भी पुर्नविचार की जो योग्यता है—संन्यासी का वह दण्ड है। विचार दण्डः, वह सोचकर चलता है। सोचकर चलने का अर्थ है कि वह जड़ता से और आदत से नही जीता।

मुल्ला नसरुद्दीन पर एक मुकदमा था। मजिस्ट्रेट ने पूछा कि आपकी उम्र क्या है? उसने कहा, चालीस वर्ष। मजिस्ट्रेट थोड़ा चौंका। उसने कहा चार साल पहले भी तुम आए थे, तब भी तुम्हारी उम्र चालीस ही वर्ष थी? मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा कि मैं वचन का पक्का आदमी हूं, जो एक दफे कह दिया, कह दिया। असंगत मैं कभी नहीं होता—नेवर इनकंसिस्टेंट। जब अदालत के सामने कह दिया चालीस साल, तो अब तो बात खत्म हो गई। अब तुम कभी भी पूछ लो—सोते से जगाकर—मैं चालीस सालका ही हूं, और तुम्ही ने तो कसम दिलाई थी। बोथ पर रखा था मुझे कि सत्य ही बोलना। जब बोल चुके सत्य, तो बोल चुके। ऐसी ही जड़ता हमारे भीतर पैदा होती है। वह सख्त हो जाती है। वह जो पाँच साल की उम्र में सोचा था, वह पचास साल की उम्र में भी हमारे काम पड़ता है। आपको खयाल नहीं है कि आप पचास साल की उम्र में भी कभी-कभी पाँच साल के बच्चे-जैसा व्यवहार करते हैं।

एक आदमी के मकान में मैंने आग लगी देखी। उस गाँव मे मैं मेहमान था। सामने के मकान में आग लग गई है। वह आदमी तो होगा कम से कम पचास-पचपन का, लेकिन आग लगी देखकर वह छोटे बच्चे-जैसा कूदने लगा, चिल्लाने लगा और रोने लगा और छाती पीटने लगा। इसको मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि वह रिग्रेस कर गया। असल मे छोटे बच्चे चिल्ला सकते हैं, कूद सकते हैं, अपने को मार सकते हैं, रो सकते हैं, और तो कुछ नही कर सकते। अब आग लग गई, तो पचपन साल के आदमी के लिए यह व्यवहार ठीक नहीं है, अगर वह विचारपूर्ण हो। विचार तो इस आदमी के पास बहुत होगे। यह अपने बेटे को काफी ज्ञान दे रहा होगा, जो भी मिल जाता होगा उसको सलाह देता होगा। इसलिए हमारे पास दूसरों को देने के लिए बहुत सलाहें होती हैं। खुद पर मुसीबत आवे, तब पता चलता है कि सलाह काम आएगी या नहीं, क्योंकि हम रिग्रेस कर जाते हैं फौरन। हम उस अवस्था में पहुँच जाते हैं, जिसका हमे पता ही नही।

अब यह आदमी पाँच साल के बच्चे का व्यवहार कर रहा है। इस वक्त इसकी उम्र पांच साल से ज्यादा नहीं है, इस वक्त इसके भीतर वही हो रहा है, जो पाँच साल में सीखा होगा कि जब कोई मुसीबत की बात आ जाए और कुछ करते न बने, तो हाथ-पैर पटककर रोना-चिल्लाना चाहिए। बच्चे के लिए तो ठीक है, क्योंकि पाँच साल का बच्चा जब हाथ-पैर पटक कर रोता-चिल्लाता है, तो वह परिणामकारी है, क्योंकि उसकी माँ झुक जाती है, बाप राजी हो जाता है कि खोपडी मत खाओ, जो चाहिए वह ले लो। लेकिन अभी इसका कोई बाप नही है, कोई माँ नही है। मकान में आग लगी है। असहाय जरूर है यह आदमी, वैसा ही जैसा पाँच साल का बच्चा होता है। उसको एक खिलौना चाहिए। उसके पास कोई उपाय नहीं है, न पैसे हैं, न सुविधा है, वह कहाँ से लाए। वह चिल्लाता है, रोता है। माँ-बाप परेशान हो जाते हैं। इस परेशानी से दो-चार रुपए खर्च करना ज्यादा सस्ता काम है। बार्गेनिंग हो जाती है। एकाध दफे डाँटते हैं पहले। वे कोशिश करते हैं कि पाँच रुपए बच सकें तो बेहतर है। नही बचते, फिर राजी हो जाते हैं। यह बच्चा एक ट्रिक सीख जाता है। इसने एक ट्रिक सीख ली कि अगर कोई ऐसी अवस्था हो जहाँ कुछ न सूझे, वहाँ रोने-चिल्लाने और पैर पटकने से भी काम होता है।

यह पचपन साल का आदमी है, मकान में आग लग गई है। परिस्थिति वही आ गई है, कुछ करने से बनता नहीं। वह पांच साल का बच्चा हो गया है। अब वह चिल्ला रहा है, रो रहा है, पीट रहा है। पांच साल में उसने जो कंकड इकट्ठे किए थे, पचपन साल में उपयोग कर रहा है। नही, यह बात विचारपूर्वक नहीं है। नही तो वह भी सोचेगा, हाथ-पैर पटकने से क्या होगा। विचार तो उसके भीतर बहुत हैं। मकान में आग लगी है, तो बहुत विचार करता होगा। लेकिन अब वे विचार किसी काम के नहीं हैं।

विचारपूर्वक होने का अर्थ है अपने अतीत से निरन्तर छुटकारा, डाइंग टू द पास्ट–अपने अतीत के प्रति रोज मरते जाना—स्मृति तो इकट्ठी होगी, लेकिन अपने को विचार से अलग रखना और अपनी स्मृति पर भी विचार बनाए रखना है।

तो सन्यासी का दण्ड है विचार। वह चलता है स्मृति से नही, टटोलता है स्मृति से नहीं, मार्ग खोजता है स्मृति से नहीं, बल्कि विचार से। जब भी कोई परिस्थिति होती है, वह पुर्नविचार करने को, रीकंसीडर करने को राजी है। स्वभावतः संन्यासी को असगत होना पड़ेगा। अगर मुल्ला नसरुद्दीन संगत हैं तो संन्यासी को असंगत होना पड़ेगा। परिस्थिति बदल जाएगी तो विचार बदलना पड़ेगा। नया क्षण होगा, तो नए विचार को जन्म देना पड़ेगा। आदत कहेगी, पुराने से काम चला लो; स्मृति कहेगी, उत्तर तैयार है; रेडिमेड उत्तर है, दे दो। लेकिन विचार कभी रेडीमेड उत्तर नही देता। तैयार विचार विचार नही बल्कि स्मृति है। विचार सदा स्पांटेनियस, सहज स्फूर्त्ति हैं, उसी क्षण में पैदा होता है, पूरी चेतना से पैदा होता है। एक क्षण में आप मुकाबला करते हैं चुनौती का, विचार जन्म लेता है। अगर अपनी पुरानी स्मृति का ही उपयोग किया, तो विचार नही है, आप एक मरे हुए आदमी हैं। संन्यासी जीवंत है, वह प्रतिपल, सहज स्फूर्त जीता है। इसका ही अर्थ है कि विचार उसका दण्ड है।

ब्रह्म-दर्शन उसका योग पट्ट है। ब्रह्म दर्शन ही उसकी सर्टिफिकेट है, उसका प्रमाणपत्र है—और कुछ भी नहीं। ब्रह्म को देख लेना ही उसकी परीक्षा, ब्रह्म को देख लेना ही उसका परीक्षा-फल, ब्रह्म को देख लेना ही उसका प्रमाणपत्र, ब्रह्म को देख लेना ही उसका योग पट्ट है। उससे कम पर उसको राजी होने का कोई सवाल नहीं। ध्यान रहे, ब्रह्मसूत्र

पढ़ लेने से नहीं, ब्रह्म के दर्शन से। ब्रह्म के संबंध में शास्त्र पढ़ लेने से नहीं, ब्रह्म के दर्शन से। ब्रह्म-दर्शन से कम पर संन्यासी राजी नहीं। इससे कम का कोई सवाल नहीं।

श्वेतकेतु ज्ञान लेकर, सब शास्त्र पढकर वापस लौटा। पिता ने उससे पूछा, तू सब पढ आया, लेकिन वह तूने जाना ही नहीं, जिसे जान लेने से सब जान लिया जाता है। श्वेतकेतु ने कहा, यह क्या है? यह तो हमारे कोर्स में नहीं था। यह क्या बला है? हम सब सीखकर लौटे हैं। ज्योतिष हम जानते हैं, आयुर्वेद हम जानते हैं, संगीत हम जानते हैं, चारों वेद हम जानते हैं, उपनिषद् हम पढ़कर आए हैं, ब्रह्म का पूरा ज्ञान लेकर आए हैं। लेकिन, यह तो सवाल ही समझ में नहीं आता कि उसको जानकर आए कि नहीं—उस एक को—जिसको जान लेने से सब जान लिया जाता है और जिसको न जानने से सब जाने हुए का कोई भी मूल्य नही है। मैं तो बड़े गौरव से भरकर आ रहा था, बहुत प्रमाणपत्र लेकर आ रहा था और आपने तो सब पर पानी गिरा दिया। पिता ने कहा, तो तू वापस जा। तू जो बटोर लाया है, वह ज्ञान नही है। वह केवल ज्ञान की राख है। बेटे को वापस लौटा दिया।

वर्षों बाद बेटा वापस आया। दूर अपनी झोंपडी की खिड़की से बाप ने देखा कि श्वेतकेतु वापस लौट रहा है। उसने अपनी पत्नी से कहा, पीछे का दरवाजा खोल देना, मैं भाग जाऊँ। पत्नी ने कहा, क्या कहते हो, बेटा वापस आ रहा है। उसके पिता ने कहा, लेकिन वह उसे जानकर आ रहा है, जिसे मैंने भी अभी जाना नहीं। वह भी मैंने शास्त्र में पढ़ा था कि उस एक को जानने से सब जान लिया जाता है। वह लड़का झंझटी है। मैंने तो ऐसे ही पूछा था। वह चला ही गया वापस। अब वह जान कर लौट रहा है। उसकी चाल कहती है, उसके आस-पास की हवाएँ खबर ला रही हैं, उसका चेहरा कहता है, उसकी आँखें कहती हैं। उसके चारों तरफ जो आभा मण्डल है, वह कहता है। मैं भाग जाऊँ, क्योंकि अब उससे पैर छुलाना ठीक न होगा। अब जब तक मैं न जान लूं, तब तक इस बेटे के दर्शन करना ठीक नही। बाप पीछे के दरवाजे से भाग गया।

ब्रह्म-दर्शन—उससे कम पर संन्यासी की तृप्ति नहीं है। शब्दों से नहीं, शास्त्र के सिद्धान्तों से नहीं, ज्ञान की परीक्षाओं से नहीं। वेद की परीक्षा से

कहीं ज्ञान मिलता है ? वाराणसी में बैठकर संस्कृत के श्लोक कण्ठस्थ कर लेने से कोई ज्ञान मिलता है ? सच्चे पण्डित कितने हैं ? हाँ, एक अकड़ तो जरूर मिल जाती है। भीतर अज्ञान होता है और पाण्डित्य अकड़ ला दे देता है कि मैं जानता हूँ। जब अज्ञान को यह खयाल आ जाता है कि मैं जानता हूँ, तो अज्ञान से भी बदतर स्थिति पैदा हो जाती है। अज्ञान को यह पता रहे कि मैं नहीं जानता, तो अज्ञान विनम्र होता है। कभी-न-कभी टूट सकता है। अज्ञान को यह खयाल आ जाए कि मैं जानता हूँ, तो अज्ञान अहंकार से भर जाता है, अकड़ से मजबूत हो जाता है। टूटना भी मुश्किल हो जाता है। इसलिए अज्ञानी तो ब्रह्म तक पहुँच भी जाए, पण्डित बड़ी मुश्किल से पहुँच पाता है।

ब्रह्म-दर्शन ही—उससे कम नहीं—उसकी परीक्षा, वही उसका शास्त्र, वही उसका ज्ञान, वही उसका योग-पट्ट, वही उसका प्रमाण, बस वही उसका सब कुछ है। ध्यान रखें, दर्शन शब्द पर। अँग्रेजी में शब्द है फिलॉसॉफी। हम हिन्दी से दर्शन का अँग्रेजी में अनुवाद करते हैं, तो फिलॉसॉफी कहते हैं। या फिलॉसॉफी को हिन्दी में अनुवाद करते हैं, तो दर्शन कहते हैं। वह ठीक नहीं है, क्योंकि दर्शन फिलॉसॉफी नहीं है। फिलॉसॉफी का मतलब है विचार, चिन्तन, मनन—दर्शन नहीं। दर्शन का मतलब है, देखना।

एक अंधा आदमी भी प्रकाश के सम्बन्ध में सोच सकता है, सुन सकता है। ब्रेल लिपि में लिखा गया हो, तो पढ़ भी सकता है। एक अंधा प्रकाश के सम्बन्ध में खूब चिन्तन कर सकता है और यह भी हो सकता है कि अंधा अगर ठीक बुद्धिमान हो, तो प्रकाश के सम्बन्ध में कोई सिद्धान्त भी खोज सकता है; प्रकाश के सम्बन्ध में कुछ आविष्कार भी कर सकता है। प्रकाश के सम्बन्ध में कुछ ऐसे सिद्धान्त निर्मित कर सकता है जो कि प्रकाश के उलझन को सुलझाने में सहयोगी हो जाएँ। कोई बाधा नहीं है। लेकिन अंधा दर्शन नहीं कर सकता। दर्शन और ही बात है।

विचार तो खोपड़ी तक ही तैरते हैं, दर्शन हृदय तक पहुँच जाता है। विचार तो सिर्फ छाया मात्र हैं, दर्शन प्रतीति है, अनुभव है। इसलिए पिछले सौ वर्षों में न डा० राधाकृष्णन ने और न विवेकानन्द ने और न रामतीर्थ ने, जिन लोगों ने भी भारतीय दर्शन को पश्चिम में पहुँचाने की कोशिश की है, उन्होंने नहीं वरन् एक जर्मन विचारक हर्मन हेस ने दर्शन के

लिए फिलॉसॉफी शब्द का उपयोग करने से इनकार किया। उसने कहा कि मैं नया शब्द गढ़ूँगा, जो पश्चिम की भाषाओं में नहीं है। वह शब्द उसने गढ़ा फिलॉसिया। फिलॉसॉफी में दो शब्द हैं—फिलॉ और सॉफी। सॉफी का मतलब होता है ज्ञान और फिलॉ का अर्थ होता है प्रेम—ज्ञान का प्रेम। हरमन हेस ने एक नया शब्द बनाया: फिलॉसिया। फिलॉ का अर्थ होता है प्रेम और सिया का अर्थ होता है टु सी। फिलॉसिया का अर्थ हुआ दर्शन का प्रेम। भारत में फिलॉसॉफी-जैसी चीज रही नहीं। विचार का प्रेम भारत में नहीं है। भारत में दर्शन की आकांक्षा है। देखे बिना क्या होगा? कितना ही सुनो, कितना ही समझो, कितना ही कण्ठस्थ करो, देखे बिना क्या होगा। देखना पड़ेगा—ब्रह्म-दर्शन। सन्यासी की अभीप्सा है ब्रह्म-दर्शन।

श्रियां पादुका:। यह बड़ा अद्‌भुत सूत्र है। सम्पत्ति उनकी पादुका है। बड़ा अजीब है। सम्पत्ति का संन्यासी से क्या लेना-देना। और सब तो ठीक है, ब्रह्म-दर्शन करो, ठीक है। संपत्ति से संन्यासी का क्या लेना-लेना। यही सूचना है इसमें। संपत्ति उनकी पादुका है। दो-तीन बातें हैं—एक, हम सब सम्पत्ति की पादुकाएँ हैं, सम्पत्ति की जूतियाँ हैं। सम्पत्ति चलती है, हम जूते का काम करते हैं। हम गुलाम हैं सम्पत्ति के। संन्यासी ही मालिक हो सकता है। सम्पत्ति को जूते की तरह पैर में डालकर चल सकता है। इसलिए कि सम्पत्ति की उसकी कोई माँग नहीं है।

मैंने सुना है, कबीर का बेटा था कमाल। वह कभी-कभी ऐसी बातें कबीर से कह देता था कि अकारण कठिनाई पैदा हो जाती थी। एक दिन कबीर ने कहा कि बेहतर हो तू एक अलग ही झोंपड़ा बना ले। कबीर ने एक सूत्र कहा था कि चलती हुई चक्की देखकर कबीर रोने लगा कि दो पाटों के बीच में जो भी पड़ गया, वह पिस गया। ठीक ही कहा था, बिलकुल ठीक कहा था। कमाल बोला या नहीं, पर चलती चक्की देखकर खूब हँसा। दो पाट तो पीस रहे थे दानों को, लेकिन जिसने बीच के दंड का सहारा ले लिया, वह बच गया। यह झंझट अकारण है, यह भी ठीक है।

कबीर बिलकुल ठीक कह रहे हैं। कमाल भी बिलकुल ठीक कह रहा है। जरूरी नहीं कि सत्य और असत्य में ही उपद्रव होता है। कई बार दो सत्यों में भी सीधा उपद्रव हो जाता है। कबीर ने कहा, बेटा, तू दूसरा ही झोंपड़ा

बना ले, क्योंकि यहाँ अकारण उपद्रव होता है। तो कमाल अलग रहने लगा। कबीर ने तो ठीक कह दिया था। उसने पास मे झोंपड़ा बना लिया। कुछ लोग कमाल को भी सुनने आते थे। वह आदमी कमाल का था। कबीर ने ही तो उसको नाम दिया था कमाल, वह कमाल का ही व्यक्ति था। और कबीर का बेटा अगर कमाल न हो, तो कबीर को ही तो ग्लानि उठानी पड़ती। कबीर ने तो सिर्फ इसलिए कहा था कि उस झोंपडी मे व्यर्थ का विवाद न खड़ा हो और लोगों के मन में शंका न हो। तू अलग हो जा यहाँ से, तो लोग तुझे भी सुन लेंगे। तेरी बात भी सुनी जाएगी।

मगर शिष्यों मे तो विरोध शुरू हो गया। कोई कमाल के शिष्य हो गए, कोई कबीर के शिष्य हो गए। उपद्रव भी बढ़ा। कबीर के शिष्यों ने कहना शुरू किया कि कमाल तो कोई ज्ञानी नही मालूम पड़ता, क्योंकि लोग पैसा दे जाते, तो वह रख लेता। कबीर को देते तो वे नहीं रखते। वह कबीर का ढंग है। शायद इसीलिए न रखते हों कि कहीं जो पैसा लेकर आया है वह कबीर से टूट न जाए क्योंकि अगर कोई पैसा लेकर आए, न रखो तो बड़ा प्रसन्न होता है, बड़ा प्रभावित होता है। कहता है कि त्यागी है। लेकिन आग्रह करता है कि रखो। दुखी मालूम पड़ता है कि आप मेरा इतना-सा भी आग्रह नहीं मानते। अगर रख लो, तो सुखी नहीं होता। चिंतित होकर जाता है कि कहीं चक्कर में तो नहीं पड़ गए। कमाल ने तो तत्काल रख लिया। आदमी का मन ऐसा है। कुछ भी करो, दुखी होगा। कबीर तो इनकार कर देते थे। तो बहुत लोग दुखी होते थे कि हमें कोई सेवा का अवसर नही दिया। आदमी के मन का एक बड़ा दुख है।

पशुओं की जरूरतें पूरी हो जाएँ, तो वे तृप्त हो जाते हैं। उनकी जरूरतें पूरी हो जाएँ—खाना मिल जाएँ, विश्राम मिल जाए, नींद मिल जाए, काम-वासना तृप्त हो जाए, तो वे तृप्त हो जाते हैं। दे हैव नीड्स, इफ दे आर फुलफिल्ड, दे आर फुलफिल्ड। लेकिन आदमी में एक और अद्भुत बात है कि उसकी सब जरूरतें पूरी हो जाएँ, तो भी वह तृप्त नहीं होता। एक बड़ी अद्भुत जरूरत आदमी में है: "ए नीड टू बी नीडेड। दूसरे लोगों को भी उसकी जरूरत मालूम पड़नी चाहिए कि मैं किसी के काम पड़ रहा हूँ। किसी के उपयोग में आ रहा हूँ, मेरे बिना बड़ी गड़बड़ हो जाएगी। सब जरूरतें पूरी हो जाएँ, तो भी एक जरूरत भीतर रह जाती

है। वह यह है कि मेरी जरूरत भी दूसरों को होनी चाहिए। अगर ऐसा लगे कि मेरी जरूरत किसी को भी नहीं, तो जिन्दगी बेकार है, भोजन है, कपड़ा है, नींद है, सब पड़ा रहा गया। मेरी कोई जरूरत नहीं।

कोई आदमी आता है कबीर के पास और वे इनकार कर देते हैं कि नहीं भाई, मैं कुछ न लूंगा। वे करुणा से ही इनकार कर देते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि अगर वे ले लेंगे तो यह आदमी परेशान हो जाएगा, हो सकता है रात सो न सके और कहे कि कहाँ के लोभी के पास पहुँच गए। लेकिन कोई कुछ ले आता, तो कमाल रख लेता। वह कहता, बड़ी खुशी, रख जाओ। वह भी कृपा और करुणा है, क्योकि इस आदमी को अगर ऐसा लगे कि कमाल इसके बिना न जी सकेगा, तो भी इसके भीतर एक फूल खिलने का उपाय बनता है। जिन्दगी बहुत पहेली है।

कबीर के शिष्यों ने कहना शुरू किया कि कमाल तो लालची दिखता है, कोई संन्यासी नही दिखता है। काशी का सम्राट् एक दिन कबीर के पास आया था, तो शिष्य बड़े बेचैन थे कि कहीं दूसरे झोपड़े मे न चले जाएँ। तो उन्होंने कहा, चलिए, चलिए, सीधे चलिए। पर उन्होंने कहा कि जरा कमाल से भी मिल लूं, कबीर का बेटा यहाँ रहता है। पर उन्होंने कहा, वह आदमी ठीक नहीं है। पैसे पर उसकी बड़ी पकड़ मालूम पड़ती है। सम्राट् ने कहा कि चलें, परीक्षा कर लें। वह गया। हाथ में हीरे की बहुमूल्य अँगूठी थी, लाखों उसके दाम थे। सम्राट् ने वह निकाली और कमाल से कहा कि रख जाता हूँ। कमाल ने कहा, जैसी मर्जी। सम्राट् थोड़ा चौंका, इतनी जल्दी उसने अँगूठी स्वीकार कर ली। उसे नहीं लेना चाहिए था, मना करना चाहिए था। मन हुआ कि वापस अपनी अँगुली में डाल लें, लेकिन बड़ी बेइज्जती होगी। उन शिष्यों ने ठीक ही कहा था कि यहाँ मत जाना। अब फँस गए। सम्राट् जरा रुका, तो कमाल ने कहा, अब रख ही दो, अब रुकते क्यो हो? उसने पूछा कि कहाँ रखें? कमाल ने कहा, जहाँ मर्जी हो। तो उसने झोंपड़ी में खोंस दी।

सम्राट् रात भर सो नहीं सका। एक दिन, दो दिन बड़ी बेचैनी रही कि कहाँ उलझ गए। कबीर अच्छा आदमी है। एक पैसा भी दो, तो कहता है, ले जाएँ, क्या करेंगे। यह आदमी कैसा है! पन्द्रह दिन बाद मन नहीं माना। सम्राट् वापस गया। सोचा, देखें कि क्या हुआ उस अँगूठी का, अब तक तो बिक गई होगी। कमाल ऐसा आदमी दिखता है कि जरा रुके तो कहने लगा

रख ही दो, अब ठहरते क्या हो। गया तो कमाल बैठा था। कमाल ने पूछा, फिर ले आए क्या अँगूठी ? सम्राट् ने मन में सोचा, आदमी कैसा है ? अब नहीं सहा गया उससे भी। उसने कहा कि तुम आदमी कैसे हो ! तो कमाल ने कहा, कैसे आए ? पिछली दफा अँगूठी लेकर आए थे, तो मैंने सोचा फिर लाए हो। सम्राट् ने कहा, इस बार अँगूठी लेकर नहीं आया हूँ। यह पता लगाने आया हूँ कि अँगूठी कहाँ है। कमाल ने कहा, तुम जहाँ रख गए थे वहाँ देख लो। अगर कोई न ले गया हो, तो वहीं होगी। अगर कोई ले गया हो, तो हमने कोई ठेका नहीं लिया था उसकी रक्षा का। सम्राट् उठा, देखा, छप्पर के सींकों में अँगूठी अटकी है। सम्पत्ति संन्यासी की पादुका है, इसका यही अर्थ है।

मगर कोई अँगूठी ले भी जा सकता था। तब कमाल के सम्बन्ध में एक नासमझी सदा के लिए शेष रह जाती। लेकिन सम्पत्ति पादुका ही है। उसकी इतनी भी मालकियत संन्यासी स्वीकार नहीं करता कि इनकार भी करे। क्या करना है इनकार, या क्या करना है हाँ। मिट्टी है, तो है। छोड़ने या पकड़ने दोनों में हम सम्पत्ति को मूल्य देते हैं। जब हम कहते हैं, सम्पत्ति चाहिए, तब भी मूल्य है। अगर हम कहते हैं नहीं, हम सम्पत्ति न छुएँगे, तब भी मूल्य है। संन्यासी के लिए कोई मूल्य ही नहीं है, बात निर्मूल्य हो गई है। तुम कहते हो, रख दें तो कहता है रख जाओ। मिट्टी को इनकार भी क्या करना।

इतनी मालकियत सम्पत्ति पर हो, तो ऋषि कहता है, तब संन्यासी है। पर पहचानना सदा मुश्किल है। यह एक-एक संन्यासी पर निर्भर करेगा कि वह क्या करता है। वह उसकी अपनी निजी अभिव्यक्ति होगी। पर एक बात तय है कि सम्पत्ति उसके लिए मालकियत नहीं रखती, सम्पत्ति उसके ऊपर मालकियत नहीं रखती। सम्पत्ति उसे 'पजेस' नहीं कर सकती।

हम सबको खयाल होता है कि वी आर द पजेसर—हम सम्पत्ति के मालिक हैं, लेकिन हम भ्रम में हैं। सम्पत्ति हमारी मालिक हो जाती है। क्योंकि जब आप रात सोते हैं, तो आपके तिजोरी के रुपए, रात भर नहीं जगते, सोए रहते हैं, आप जागते हैं। मालिक कौन है ? जब आपके हाथ से रुपया गिर जाता है, तो रुपया नहीं रोता कि जो मेरा मालिक था, वह कहाँ गया। इतना भी नहीं रोता। आप रोते हैं। और मालिक आप हैं ? नहीं, जिसकी भी हम मालकियत करने की कोशिश करते हैं, वही हमारा मालिक हो जाता है।

द पजेसर इज ऑलवेज द पजेस्ड। जो भी मालिक बनेगा, स्वामित्व ग्रहण करेगा, वह गुलाम हो जाएगा।

संन्यासी सम्पत्ति की मालकियत की बात ही नहीं करता। वह कहता है, सम्पत्ति है कहां? किसको तुम सम्पत्ति कहते हो? अगर तुम्हारी शक्ल देखें तो सम्पत्ति मालूम नहीं पड़ती है। सम्पत्ति वालों की अगर शक्ल देखें, तो ऐसा मालूम पड़ता है कि इनके पास विपत्ति है। सम्पति तो बिलकुल नहीं मालूम पड़ती। सम्पत्ति तो संन्यासी के पास मालूम पड़ती है। उसकी प्रफुल्लता, उसका आनंद, उसका खिला हुआ फूल-जैसा व्यक्तित्व। न कोई चिन्ता है, न कोई फिक्र, न कोई तनाव है। सम्पत्ति तो उसके पास मालूम पड़ती है पर है उसके पास कुछ भी नहीं। और जिनके पास सब कुछ है, वे बड़ी विपत्ति में घिरे मालूम पड़ते हैं। संन्यासी के लिए ऋषि कहता है, सम्पत्ति उसकी पादुका है। उसे पता भी नहीं चलता। पैरों में पड़ी है तो पड़ी है। उसका उपयोग कर लेता है पादुका की तरह, लेकिन कभी उस पादुका को अपने सिर पर रखकर नहीं चलता।

बोधिधर्म हिन्दुस्तान से जब चीन गया, तो वह अपनी एक पादुका को सिर पर रखे हुए था और एक को पैर मे पहने हुए था। वह बहुत अनूठा सन्यासी था। १४०० वर्ष पहले वह भारत से चीन गया था। चीन का सम्राट् उसके स्वागत को आया था। हजारों भिक्षु इकट्ठे हुए थे, क्योंकि भारत से बुद्ध की हैसियत का आदमी पहली दफा चीन आ रहा था। बड़ा स्वागत का समारोह था, लेकिन सम्राट् बहुत बेचैन हुआ। सन्यासी भी बहुत हैरान हुए। एक दूसरे को देखने लगे कि यह क्या हो गया। यह आदमी तो पागल मालूम पड़ रहा है। एक जूता पैर मे पहने था, एक सिर पर रखे हुए था। सम्राट् से न रहा गया। थोड़ा मौका मिला, तो उसने कहा, आप यह क्या कर रहे हैं, इससे बड़ी मुश्किल हो रही है। हमने तो बड़ा प्रचार किया है कि बहुत महान ज्ञानी आ रहा है। यह आप क्या कर रहे हैं? इससे खबर पहुँच जाएगी कि आप पागल हैं। तो बोधिधर्म ने कहा, सिर पर जो रखे हैं, वह तुम्हारे खयाल से और पैर मे जो पहने हैं, वह अपने खयाल से। सिर पर जो रखे हैं, वह तुम्हें याद दिलाने को कि तुम आदमी कैसे हो, तुम मुझको पागल कह रहे हो, पर तुम दोनों रखे हुए हो, मैंने सिर्फ एक रखा है।

जूतियों को हम सिर पर रखे हैं, अगर सम्पत्ति को हम सिर पर रखे हुए हैं।

सम्पत्ति जहां होनी चाहिए, वहां होनी चाहिए। वह पैर का उपयोग है। जीवन की जरूरत हो, तो उसका उपयोग किया जा सकता है। लेकिन उसे मालिक नहीं बनाया जा सकता। पर भूल इसलिए हो जाती है कि हम मालिक होने जाते हैं और आखिर में गुलाम हो जाते हैं। जो मालिक होने जाएगा, वह गुलाम होने पर समाप्त होगा। इसलिए सम्पत्ति का मालिक होने जाना ही मत। अपने मालिक हो जाना, तो सम्पत्ति गुलाम हो जाएगी। इसलिए संन्यासी को हम स्वामी कहते हैं। किसी और का मालिक नहीं, अपना मालिक। और ता उसके पास कुछ है ही नही। अपना जो मालिक हूं, वह स्वामी हूं। सम्पत्ति उसके लिए गुलाम हूं, पादुका हूं।

परात्पर की अभीप्सा ही उनका आचरण हूं। वह जो पार और पार—बियोन्ड ऐण्ड बियोन्ड—वह जो दूर और दूर फैला है और अतिक्रमण कर जाता है हमारी सारी सीमाओं का, उसको पा लेने की प्यास उनका आचरण है। वे इस भांति जीते हैं कि उनके उठने मे, उनके बैठने में, उनके चलने मे, उनके सोने में एक ही प्यास भीतर हृदय मे धड़कती रहती है और एक ही प्यास उनकी श्वांस-श्वांस में गूंजती रहती है। उनका होना सिर्फ एक ही बात के लिए है कि वह जो परात्पर ब्रह्म है, वह जो पार छिपा हुआ, और पार छिपा हुआ, अज्ञात का लोक है, उससे मिलन हो जाए। वही उनका आचरण है। वही उनका चलना, उठना, बैठना, खाना, पीना ओढ़ना—सब वही है। कबीर ने कहा है कि मेरा ओढना भी राम, मेरा बिछौना भी राम। सोता भी उसी पर, बैठता भी उसी पर, चलता भी उसी पर।

आपने कभी खयाल नही किया होगा कि आप सुबह क्यों उठ आते हैं? कौन सी आकांक्षा कहती है कि उठो, चलो। क्यों रोज भोजन कर लेते हैं? कौन-सी आकांक्षा कहती है कि शरीर को बचाओ? क्यो धन इकट्ठा करते हैं? कौन-सी वासना कहती है कि धन के बिना नही चलेगा? आपके आचरण का क्या है आधार, क्या है केन्द्र? अगर हम एक शब्द में कहें तो वह है काम, सेक्स। उसके ही लिए उठते हैं, चलते हैं, कमाते हैं, मकान बनाते हैं। धन, यश सब उसी के लिए है। अगर गहरे में खोजने जाएँ, तो बस काम मात्र हमारा केन्द्र है। आदमी अपने को धोखा दे, सकता है, लेकिन आदमी को छोड़ दें, थोड़ी देर और जानवरों को देखें, और पशु-पक्षियों को देखें तो काम-वासना बहुत स्पष्ट दिखाई पड़ेगी। आदमी थोड़ा धोखा देता

है, इसलिए अस्पष्ट हो जाता है। लेकिन गहरे में उतर कर देखें, तो काम-वासना ही हमारे भीतर छिपी है। उसी के लिए हम जीते हैं। सारी उधेड़बुन उसी के लिए है। वही हमारा आचरण है, काम ही हमारा आचरण है।

संन्यासी का आचरण राम है। वह भी उठता है सुबह, जैसे आप उठते हैं। लेकिन उसकी अभीप्सा उस परात्पर को पाने के लिए है। वह भी खाना खाता है, लेकिन आप जिस लिए खाना खाते हैं, उस लिए वह खाना नहीं खाता है। वह इसलिए खाता है कि यह शरीर साधन बन जाए उस परात्पर तक पहुँचने के लिए। वह भी रात सोता है। वह भी शरीर पर वस्त्र ढांक लेता है। सर्दी होती है, धूप होती है, तो छाया में बैठ जाता है। लेकिन सारी बातों के पीछे, सारे आचरण के पीछे एक ही अभीप्सा रहती है कि वह परात्पर का दर्शन कर ले।

कई बार आपको लगता है कि संन्यासी आपके-जैसा खाना खाता, आपके जैसा उठता, आपके-जैसे कपड़े पहनता, तो फर्क क्या है। फर्क भीतर है, फर्क जीवन के केन्द्र पर है। फर्क इस बात में है कि किसलिए? फार ह्वाट? किस लिए जी रहे हैं? अगर संन्यासी को पता चल जाए कि कोई परात्पर नहीं है, कोई है ही नहीं पार; बस यही उठना-बैठना, खाना, दुकान और मर जाना ही जीवन है, तो संन्यासी की दूसरी सांस न चले, बात ही खत्म हो गई, बात ही समाप्त हो गई। अगर ऐसा है, तो जीने का कोई अर्थ नहीं है। अगर उसे पाया जा सकता है, तो जीवन का कोई प्रयोजन है। अगर उस तक पहुँचा जा सकता है, तो जीवन जीवन है, अन्यथा जीवन मरने की एक लम्बी प्रक्रिया के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

कुण्डलिनी बन्धः। संन्यासी की शक्ति का जो मूल स्रोत हूं, वह कुण्डलिनी हूं। जैसा मैंने कहा, हमारे जीवन की, हमारी चर्या की जो आधारभूत वृत्ति है, वह काम-वासना है। इसलिए हमारी शक्ति का जो स्रोत है, वह सेक्स-सेन्टर है, काम-केन्द्र है। उसी से हमारी सारी शक्ति आ रही है। हमारे शरीर में जो ऊर्जा दौड़ती है, वह काम-केन्द्र की ऊर्जा है। हमारी आंखों से जो शक्ति देखती है, वह काम-ऊर्जा है। हमारे कानों से जो शक्ति सुनती है, वह काम-ऊर्जा है। हमारे हाथों से जो शक्ति स्पर्श करती है वह काम-ऊर्जा है। हमारी शक्ति का केन्द्र, हमारी शक्ति का मूल स्रोत काम-केन्द्र है। काम-केन्द्र के बिलकुल निकट कुण्डलिनी का केन्द्र है। उसके पास ही एक दूसरा

सरोवर है, लेकिन उसको अभी हमने छुआ भी नहीं है। वही केन्द्र संन्यासी के जीवन का आधार है। वहीं से वह कुण्डलिनी को जगाकर शक्ति पाता है। संन्यासी शक्ति के एक दूसरे आयाम में प्रवेश करता है।

मजे की बात यह है कि जैसे ही कुण्डलिनी जगती है, काम-वासना की सारी शक्ति कुण्डलिनी के केन्द्र पर गिर जाती है और रूपान्तरित हो जाती है, ट्रांसफार्म हो जाती है, क्योंकि काम-वासना बहुत छोटा-सा सरोवर है। बड़ा छोटा-सा झरना है। वह झरना भी ऐसा है कि रोज-रोज उस शक्ति को हमें भोजन से, विश्राम से इकट्ठा करना पड़ता है। तब वह झरना थोड़ा-सा भरता है और मजा है कि हम अजीब पागल हैं। बूंद-बूंद उसको भरते हैं और फिर उसको उलीच देते हैं। फिर उसको भरते हैं, फिर उलीच देते हैं। फिर भरते हैं। इसके पीछे जो कुण्डलिनी का, इससे ही बिलकुल निकट, बिलकुल इसके ही पडोस में जो बड़ा विराट् केन्द्र है, वह भोजन से नहीं बनता। वह पानी से नहीं बनता, वह विश्राम से नहीं बनता। वह परमात्मा का ही दिया हुआ है। काम-केन्द्र के लिए तो हमे रोज शक्ति अर्जन करनी पड़ती है, पर उसके लिए अर्जन नहीं करनी पडती। वह मिली ही हुई है, वह हमारा स्वभाव है। संन्यासी के लिए वही ऊर्जा का स्रोत है।

कुण्डलिनी बन्ध:। वह उसी को जगाता है, उसी को जीता है; और जब वह शक्ति जग जाती है, तो इस काम-केन्द्र का जो छोटा-सा झरना है, वह उसमें अपने आप गिर जाता है और काम-वासना भी राम-वासना में रूपान्तरित हो जाती है। ध्यान के प्रयोग में हम यहाँ उसकी ही कोशिश कर रहे हैं कि उस कुण्डलिनी पर चोट पड़ जाए। जो मैं इतना आग्रह करता हूँ कि जोर से श्वांस की चोट करें, वह इसीलिए आग्रह करता हूँ कि उस श्वांस की चोट से कुण्डलिनी के केन्द्र का बन्द द्वार टूट सकता है। जो आपसे कहता हूँ, दिल खोलकर नाचें और कूदें, वह इसीलिए कहता हूँ कि उस हलन-चलन में वह जो सोई हुई ऊर्जा है, वह कम्पित होकर उठ सके। इसलिए आपसे कहता हूँ कि जोर से हुंकार करें, हू की आवाज करें। पागल की तरह हू की जितने जोर से आवाज होती है, उतने ही सेक्स सेन्टर के निकट तक पहुँचती है, जहाँ कुण्डलिनी का केन्द्र है। वहाँ चोट पड़ती है। श्वांस से, शरीर की गति से, ध्वनि से, चोट करते हैं उस पर। अगर आप चोट करते रहे, अगर हैमरिंग जारी रही, तो वह टूट जाएगी; और जिस दिन वह टूटेगी, उस दिन काम-

वासना तत्क्षण राम की यात्रा पर निकल जाएगी। फिर यह शरीर लक्ष्य नहीं रह जाता, साध्य नहीं रह जाता, साधन हो जाता ई।

परापवाद मुक्तो जीवन मुक्तिः। जो दूसरों की निन्दा से रहित हैं, वे जीवन-मुक्त हैं। हमारे मन मे निन्दा का बड़ा रस है। उसका कारण है। असल में जब हम दूसरे की निन्दा करते हैं, तभी हमको लगता है कि हम भी हैं। जब हम दूसरे को नीचे गिरा देते हैं, तभी हमको लगता है कि हम ऊँचे हैं। जब हम दूसरे को बुरा सिद्ध कर देते हैं, तभी हमें लगता है कि हम भले हैं। जब दूसरे को चोर जाहिर कर देते हैं, तभी हमें लगता है कि हम अचोर हैं। हम हैं तो नहीं, इसलिए दूसरे की तरफ से हमे अपने को सिद्ध करना पड़ता है। जो अचोर है, वह दूसरे को चोर सिद्ध करके अपने को अचोर सिद्ध नहीं करता। जो ब्रह्मचर्य को उपलब्ध है, वह दूसरे को व्यभिचारी सिद्ध करके अपने को ब्रह्मचारी सिद्ध नहीं करता। निन्दा मे इसीलिए रस है। प्रशंसा मे बड़ी पीड़ा होती है। अगर कोई आपसे आकर कहे कि फलाँ व्यक्ति बडा साधु पुरुष है, तो धक से चोट लगती है, ऐसा हो कैसे सकता है मेरे रहने! और कोई दूसरा पुरुष साधु कैसे हो सकता है, जब अभी हम जमीन पर मौजूद हैं!

मुल्ला नसरुद्दीन मर रहा हैं। आखिरी घडी उसके सब शिष्य इकट्ठे हो गए है। मुल्ला आँख बन्द किए पड़ा है। मरते क्षण, शिष्य जितनी प्रशसा कर सकते हैं, कर रहे हैं। एक शिष्य कह रहा है कि ऐसा ज्ञानी हमने कभी नही देखा। शास्त्र तो जीभ पर रखे थे। मुल्ला थोड़ी-सी आँख खोल कर देखता है और आँख बन्द कर लेता है। दूसरा शिष्य कहता है कि ऐसा दानी भी हमने नही देखा। कोई भी आ जाए, सदा देने को तैयार रहा। मुल्ला थोड़ी-सी आँख खोलकर फिर आँख बन्द कर लेता है। तीसरा कहता है, इतनी सेवा से भरा हुआ व्यक्ति हमने कभी नही देखा। मुल्ला फिर आँख खोलकर बन्द कर लेता है। फिर वे सब चुप हो जाते हैं। और कुछ बताने को बचता भी नहीं। तब मुल्ला कहता है, एक चीज तुम छोड़ दे रहे हो। मुझसे ज्यादा विनम्र आदमी भी कोई नही था। विनम्रता में भी अहंकार छिपा होता है। मुल्ला कहता है, मुझसे ज्यादा विनम्र आदमी भी कोई नही था, यह भी तो खयाल करो। 'मुझसे ज्यादा विनम्र कोई भी नही था', यही तो अहंकार होगा। और क्या अहंकार होगा?

दूसरे की प्रशंसा सुनकर चोट लगती है कि मुझसे भी आगे कोई है। इसलिए हम प्रशंसा को कभी मानते नही; सुन भी लें, तो मानते नही। हम जानते है, जरूर कही न कहीं कोई ट्रिक होगी, कही न कही कोई गड़बड़ होगी ही। पता नही चला होगा अब तक, लेकिन कही न कहीं कोई बात होगी, जो कल पता चल जाएगी और राज खुल जाएगा। लेकिन जब कोई निन्दा करता है किसी की, तो देखें, हमारे मुँह मे कैसा पानी आ जाता है। फिर हम बिलकुल नही पूछते कि सच कह रहे हो, झूठ कह रहे हो, कोई प्रमाण है? और हम कभी नही सोचते कि यह आदमी जो कह रहा है, गलत भी हो सकता है, कभी न कभी पता चल जाएगा कि निन्दा गलत थी, यह खयाल नही आता।

निन्दा कोई करे, तो हम तत्काल मान लेते हैं। कोई कहे कि फलाँ व्यक्ति साधु है, तो हम कभी नही मानते। हम कहते हैं, पता लगाकर देखेंगे। कोई कहे, फलाँ आदमी चोर, व्यभिचारी, बदमाश है, तो हम बिलकुल राजी हैं। हम कहेंगे कि बिलकुल ठीक कह रहे हैं, हमे पहले ही पता था। बुराई ता होगी ही, उसमे कोई शक का सवाल ही नही है। भलाई संदिग्ध है।

सन्यासी के लिए ऋषि कहता है, वे दूसरों की निन्दा से रहित है। वे जीवन-मुक्त हैं। इसका यह अर्थ नही है कि सन्यासी के सामने चोर हो, तो सन्यासी उसे चोर नही कहेगा। इसका यह भी अर्थ नही है कि व्यभिचारी को सन्यासी व्यभिचारी नही कहेगा। अगर संन्यासी व्यभिचारी को व्यभिचारी न कहे, तो उसका वक्तव्य असत्य होगा। गलत को गलत न कहे, तो असत्य होगा। फर्क एक पड़ेगा कि संन्यासी गलत को ही गलत कहेगा और उसमें कोई रस नहीं होगा उसे। रस नहीं होगा कि तुम गलत हो, तो उसको मजा आ जाए। तुम गलत हो, तो यह गणित की तरह गलत होगा कि दो और दो तीन नहीं होते। इसमे कोई रस नही है। संन्यासी भी चोर को चोर ही कहेगा, लेकिन चोर को ही चोर कहेगा और कोई रस नहीं लेगा इस बात में। तुम चोर हो, तो उसे कोई रस आ रहा है या तुम्हारे चोर होने से उसके अचोर होने में कोई सुविधा मिल रही है या तुम्हारे असाधु होने से उसके साधु होने का कोई सहारा मिल रहा है। नहीं, इसमें कोई रस नहीं होगा।

वे पर निन्दा से मुक्त होते हैं। अ अ है, ब ब है, अँधेरा अंधेरा है, प्रकाश प्रकाश है। जो जैसा है, वैसा उसे वे देखते हैं। लेकिन कोई रस नही है इस

बात में। एक फर्क जरूर पड़ता है और वह फर्क यह है कि दूसरे में जो भी भलाई दिखाई पड़े, उसकी चर्चा करने में वे जरूर रस लेते हैं। रस इसलिए लेते हैं कि जिसमें हम रस लें, उसके बढ़ने की संभावना हो जाती है। अगर हम इस बात में रस लें, कि दूसरा बेईमान है, तो हमें पता हो या न हो, हम उसकी बेईमानी को बढ़ाने के लिए रास्ता बना रहे हैं। हमारा रस उसके लिए सहारा बन जाता है। अगर हम एक बेईमान में भी गुण खोज लेते हैं और कहते हैं, बेईमान कितना ही हो, लेकिन आदमी बड़ा सरल है। बेईमान कितना ही हो, लेकिन आदमी बड़ा शान्त है। तो हम उस आदमी की शान्ति को बढ़ाने के लिए सहारा दे रहे हैं। और अगर शान्ति बढ़ जाए, तो बेईमानी टिक न सकेगी ज्यादा दिन। अगर सरलता बढ़ जाए, तो आदमी बेईमान कैसे रहेगा? तो हम उसकी बेईमानी मिटाने में भी सहयोगी हो रहे हैं। हम जिस बात में रस लेते हैं, वह बढ़ती है क्योंकि रस लेना पानी सींचना है। इसलिए निन्दा में संन्यासी को रस नहीं होता। तथ्य में जरूर रस है और जो शुभ है, उसको जरूर वह सींचने की कोशिश करता है।

●

सातवाँ प्रवचन

साधना-शिविर, माऊन्ट ग्राबू, रात्रि, दिनांक २८ सितम्बर १९७१

अखण्ड जागरण से प्राप्त—परमानन्दो तुरीयावस्था

शिवयोगनिद्रा च खेचरी मुद्रा च परमानन्दी ।

निर्गुण गुणत्रयम् ।

विवेक लभ्यम् ।

मनोवाग् अगोचरम् ।

निद्रा में भी जो शिव में स्थित है और ब्रह्म में जिनका विचरण है, ऐसे वे परमानन्दी हैं ।

वे तीनों गुणों से रहित है ।

ऐसी स्थिति विवेक द्वारा प्राप्त की जाती है ।

वह मन और वाणी का अविषय है ।

निद्रा में भी जो प्रभु मे स्थित हैं। हम तो जाग कर भी पदार्थ में ही स्थित होते हैं। निद्रा की तो बात बहुत दूर है, बेहोशी की तो बात बहुत दूर है। जिसे हम होश कहते हैं, वह भी होश नही मालूम पड़ता। क्योंकि उस होश मे भी हम पदार्थ के अतिरिक्त और कही स्थित नही होते। मन दौड़ता रहता है नीचे की ओर। ऋषि कहता है, वे जो ज्ञान को उपलब्ध होते हं, वे जो ज्ञान की तीर्थ-यात्रा पर निकलते हैं, वे जो स्वयं को जगाते हं और विवेक में प्रतिष्ठित होते हं, वे अपनी निद्रा में भी शिव में ही स्थित होते हं। नींद में भी उनका होश नहीं जाता। हमें तो होश में भी होश नहीं होता। हम तो होश में भी सोए हुए ही होते हैं।

हमारे जागरण को जागरण नहीं कहा जा सकता। क्योंकि हम अपने जागरण मे ऐसा सब कुछ करते हैं, जो केवल बेहोशी में ही किया जा सकता है। हमारे जागरण को इसलिए भी जागरण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कैसा हं यह जागरण, जिसमें हमें इसका भी पता नहीं चलता कि मै कौन हूं। इस जागरण को इसलिए भी जागरण नही कहा जा सकता कि कुछ भी पता नहीं चलता कि मे कहां से आता हूं, कहां मैं जाता हूं, क्या है प्रयोजन इस जीवन का, क्यों है यह जीवन, क्या है यह जीवन। जैसे चौराहे पर हम किसी से पूछें कि कहां जाते हो और वह कहे, मुझे पता नहीं और हम पूछें कहां से आते हो, और वह कहे मुझे पता नहीं और हम पूछें कि तुम कौन हो और वह कहे

कि यही तो मैं आपसे पूछना चाहता था। तो उस व्यक्ति को हम क्या कहेंगे ? होश में ? जागा हुआ ? लेकिन हमारी भी उससे भिन्न हालत नहीं है।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन एक ट्रेन मे यात्रा कर रहा था। टिकट चेकर ने उससे टिकट मांगी, तो वह अपनी सभी जेबें तलाश गया। उसकी बेचैनी और उसकी पसीने-पसीने की हालत को देखकर टिकट चेकर ने कहा, रहने भी दें। जरूर होगी, जब इतनी उत्सुकता से खोजते हैं। जरूर होगी, जरूर होगी, चिन्ता न करें। नसरुद्दीन ने कहा कि तुम्हारे लिए चिन्ता नहीं कर रहा हूँ, चिन्ता अपने लिए है। सवाल यह है कि मैं जा कहाँ रहा हूँ। तुम्हारे लिए चिन्ता कर ही कौन रहा है। अगर टिकिट खो गई, तो पता कैसे चलेगा कि मैं जा कहाँ रहा हूँ। लेकिन हमारी टिकट खोई ही हुई है। कुछ भी पता नही है। हालत हमारी ऐसी है। बेहोशी हमारी थिर है। होश का हमे कोई पता नहीं, इसलिए बेहोशी का भी पता नही चलता, क्योंकि पता हमे सब विपरीत से चलता है। अगर अंधेरा सतत हो और रोशनी कभी देखी ही न हो, तो अंधेरे का पता नही चलता। कही जला हुआ दीया दिख जाए, तब पता चलता है कि कैसे अंधेरे में हम जीते थे, वह अंधेरा क्या था।

अंधेरे को जानने के लिए प्रकाश को जानना जरूरी है। अंधेरे की पहचान नहीं हो सकती। मुल्ला नसरुद्दीन ने पहली ही शादी की थी। पन्द्रह या बीस दिन हुए होंगे, पत्नी बहुत उदास है और अपनी किसी सहेली से कह रही है कि बहुत मुश्किल हो गई। कल ही मुझे पता चला कि नसरुद्दीन शराब पीता है। सहेली ने पूछा, क्या कल वह शराब पीकर आ गया था ? उसकी पत्नी ने कहा, नही, कल वह बिना पिए आ गया। नहीं तो पता ही न चलता। शादी के पहले उससे मिलती थी, तब भी वह रोज पिए रहता था। तो मैं समझी कि यही उसका ढंग है। शादी के बाद भी पन्द्रह दिन वह पिए रहता था, तो में समझती थी कि यही उसका ढंग है। कल वह बिना पिए आ गया और उल्टी-सीधी बातें करने लगा। तब शक हुआ। मेंने पूछा कि क्या शराब पीकर आ रहे हो ? ऐसी बात तो तुम कभी नहीं करते। उसने कहा, क्षमा करना, आज मैं पीना भूल गया हूँ।

हमारी नींद इतनी थिर है कि हमें यह पता भी नही चलता कि वह नींद है। हमारी बेहोशी हमारे खून और हमारी हड्डियों में भर गई है। जन्मों-जन्मों का सघन अंधकार है भीतर। पता ही नहीं चलता। इसलिए चुपचाप जिए

चले जाते हैं और इसी को होश कहे चले जाते हैं। यह होश नहीं है, यह केवल जागी हुई निद्रा है। निद्रा के दो रूप हैं—सोई हुई निद्रा और जागी हुई निद्रा।

सोई हुई निद्रा का अर्थ है कि हम भीतर भी सो जाते हैं, बाहर भी सो जाते हैं। जागी हुई निद्रा का अर्थ है, भीतर हम सोए रहते हैं, बाहर हम जाग जाते हैं। ठीक ऐसे ही दो तरह के जागरण भी हैं। जैसे दो तरह की निद्राएं हैं, ऐसे ही दो तरह के जागरण भी हैं। ऋषि उसी जागरण की बात कर रहा है। वह कह रहा है कि वे जो सन्यस्त हो जाते हैं, वे नींद में भी जागे रहते हैं। उनकी नीद भी प्रभु से ही भरी रहती है। वे कितनी ही गहरी नीद में सो रहे हों, उनके भीतर कोई जागकर प्रभु के मन्दिर पर ही खड़ा रहता है। वे स्वप्न भी नही देखते। वे कोई विचार भी नही करते, एक में ही रम जाते हैं। बुद्ध कहते थे, वे ऐसे हो जाते हैं, जैसे सागर का पानी कही से भी चखो, वह खारा है। उन्हें कही से भी चखो, वे प्रभु से ही भरे हुए हैं। उनका स्वाद ब्रह्म ही हो जाता है।

इस सूत्र में कहा है, निद्रा में भी जो शिव में स्थित हैं—"शिवयोगनिद्रा च खेचरीमुद्रा च परमानन्दी।" वे जो नीद में भी परम शिवत्व में ठहरे हुए हैं और ब्रह्म मे जिनका विचरण है। उठते हैं, बैठते हैं, चलते हैं तो ब्रह्म में। जगत् मे नही, ब्रह्म मे। लेकिन हम तो उन्हें जगत् मे चलते देखते हैं। हमने बुद्ध को चलते देखा है इसी जमीन पर, महावीर को चलते देखा है इसी जमीन पर। यही जमीन है, यहीं उनके भी चरण-चिह्न बनते हैं, इसी मिट्टी में, इसी रेत में। इन्ही वृक्षो के नीचे उन्हें बैठे देखा गया है।

और यह सूत्र कहता है कि वे ब्रह्म में ही विचरण करते हैं। वे ब्रह्म में ही विचरण करते हैं, क्योकि जो हमे जमीन दिखाई पड़ती है, वह उन्हें ब्रह्म ही मालूम होती है। और जो हमें वृक्ष मालूम पड़ता है, वह भी उन्हें ब्रह्म की छाया ही मालूम होती है। जो इस जमीन पर चलता है, उसका शरीर भी उन्हें ब्रह्म का ही रूप मालूम होता है। उनके लिए सभी कुछ ब्रह्म *हो गया। जिसने अपने भीतर झांक कर देखा, उसके लिए सभी कुछ ब्रह्म* हो जाता है। और जो अपने बाहर ही देखता रहा, धीरे-धीरे उसके भीतर भी पदार्थ ही रह जाता मालूम पड़ता है। जिसकी दृष्टि बाहर है, उसे भीतर भी आत्मा दिखाई नहीं पड़ेगी। जिसकी दृष्टि भीतर है, उसे बाहर भी आत्मा

ही दिखाई पड़ती है। वे ब्रह्म में ही विचरण करते हैं और परम आनन्दित हैं। जिसका ब्रह्म में विचरण हो और जिसकी निद्रा भी भागवत-चैतन्य में हो, वहाँ दुख कैसा, वहाँ दुख का प्रवेश कैसा !

और एक बात समझ लें। वहाँ दुख भी नहीं होता और सुख भी नहीं होता, अन्यथा हमें सदा भूल होती है। जब इस सूत्र को हम पढ़ेंगे या ऐसे किसी भी सूत्र का पढ़ेंगे, तो हमें लगेगा कि वहाँ सुख ही सुख होगा। लेकिन हमारा दुख भी वहाँ नहीं होता, हमारा सुख भी वहाँ नहीं होता, क्योंकि हम ही वहाँ नहीं होते। हमने जिसे दुख जाना है, वह तो होता ही नहीं। हमने जिसे सुख जाना है, वह भी नही होता। वहाँ दोनो ही शून्य हो जाते हैं और तब जो प्रकट होता है, उसका नाम आनन्द है।

आनन्द सुख नही है। इसे ठीक से समझ लें। आनन्द सुख नहीं हैं। आनन्द सुख और दुख दोनों का अभाव हैं। असल में दुख की भी अपनी पीडा हैं और सुख की भी अपनी पीड़ा हैं। दुख तो दुख है ही, जो जानते हैं वे कहते हैं, सुख भी दुख का एक ढंग है। दुख तो दुख है, सुख प्रीतिकर है, जिसे हम चाहते हैं। बस, इतना ही फर्क है। इसलिए कोई भी सुख किसी भी दिन दुख हो जाता है। हमारी चाह हट जाती है, दुख हो जाता है। कोई भी दुख किसी भी दिन सुख बन सकता है। अगर हमारी चाह उससे जुड़ जाए, तो वह भी सुख बन जाता है। सुख और दुख घटनाओं में नहीं होते, परिस्थितियों में नही होते, वस्तुओ में नहीं होते। सुख और दुख हमारे चाहने और न चाहने में होते हैं। जिसे हम चाहते हैं, वह सुख मालूम पडता है; जिसे हम नहीं चाहते, वह दुख मालूम पड़ता है। लेकिन कोई बाधा नही है कि जिसे हम अभी चाहते हैं, क्षण भर बाद चाहें तो न चाह सकेंगे। क्षण भर बाद नहीं चाह सकते हैं। ऐसी भी कोई बात नहीं है कि जिसे आज हम नही चाहते, कल भी उसे नहीं चाहेंगे।

मुल्ला नसरुद्दीन की सास मर गई थी। मुल्ला बड़ा प्रसन्न था, बड़ा आनन्दित मालूम हो रहा था। उसकी पत्नी ने कहा, कुछ तो शर्म खाओ। मेरी माँ मर गई है, तुम इतने प्रसन्न हो रहे हो ! नसरुद्दीन ने कहा, इसी-लिए तो प्रसन्न हो रहा हूँ। उसकी पत्नी ने कहा, कभी तो मेरी माँ में तुमने अच्छा देखा होता ! और अब तो वह मर भी गई। एकाध गुण तो कभी देखा होता ! नसरुद्दीन ने कहा, मैंने बहुत कोशिश की तेरी बात मानकर देखने

की, लेकिन जब कोई गुण हो ही नही, तो दिखाई कैसे पड़े। उसकी पत्नी दुखी थी, माँ के मरने से छाती पीटकर रोने लगी। उसने कहा, मेरी माँ ने ठीक ही कहा था। शादी के पहले उसने बहुत जिद की थी कि इस आदमी से शादी मत करो। नसरुद्दीन ने कहा, क्या कहती है? तेरी माँ ने शादी से रोका था? काश, मुझे पता होता तो मैं उसे इतना बुरा कभी भी नही समझता। बेचारी! अगर मुझे पता होता तो उसे बचाने की कोशिश करता, इतनी भली स्त्री थी, यह तो मुझे पता ही नहीं था। सास मर गई थी, तो सुख था, अब दुख हो गया।

वह जो चाह है भीतर, उसका जरा सा सम्बन्ध कही से भी शिथिल कर ले, या जोड़ ले, तो सब बदल जाता है। यह जो हमारा मन है, जिससे जुड़ जाता है, वहाँ सुख मालूम होता है। सुख एक भ्रांति है, जो उसके साथ मालूम पड़ती है जिससे मन जुड़ जाता है। दुख भी एक भ्रांति है, जो उसके साथ मालूम पड़ता है, जिससे मन टूट जाता है।

बुद्ध ने बहुत बार कहा है कि प्रियजनों के मिलने में सुख है और बिछुड़ने मे दुख। अप्रियजनों के मिलने में दुख है, बिछुड़ने में सुख। दोनो बराबर है। अनुपात तो बराबर है। सुख भी मन पर उसका एक तनाव है, जिसे हम पसन्द करते हैं। दुख भी मन पर उसका एक तनाव है, जिसे हम पसन्द नहीं करते। सुख का तनाव भी आदमी को रुग्ण कर जाता है, दुख का तनाव भी रुग्ण कर जाता है। क्योकि दोनो ही मनुष्य के लिए बोझ सिद्ध होते हैं। आनन्द अतनाव, तनावरहित, उस तनावशून्य अवस्था है। न वहाँ दुख है, न वहाँ सुख है। फर्क समझ लें, प्रियजन से मिलने में सुख है, अप्रियजन से बिछुड़ने में सुख है। प्रियजन से बिछुड़ने में दुख है। [अप्रियजन से मिलने में दुख है। आनन्द कब होगा? जहाँ कोई भी नहीं बचता और सिर्फ मैं ही बच रहता हूँ, सिर्फ चेतना ही बच रहती है। न किसी से मिलना और न किसी से बिछुड़ना। जहाँ स्वभाव में थिरता आ जाती है, वहाँ आनन्द है।

ऋषि कहता है, ऐसे वे परमानन्दी हैं, वे परम आनन्द में हैं। क्योंकि वे स्वभाव में जीते हैं, शिव में जीते हैं, प्रभु में जीते हैं, ब्रह्म में जीते हैं। वह जो आत्यन्तिक सत्य है, उसमें जीते हैं। बाहर नहीं जीते, भीतर जीते हैं। वह जो भीतर में मूल-स्रोत है, उससे जुड़कर जीते हैं। वहाँ कोई दुख नही, क्योंकि वहाँ कोई सुख नहीं। हमारा तर्क कुछ और है। हम कहते हैं, वहाँ

कोई दुख नहीं, क्योंकि वहां सुख ही सुख है। ऋषि कहते हैं, वहां कोई दुख नहीं, क्योंकि वहां कोई सुख नही। जहां सुख ही नही, वहा दुख नही हो सकता। और जहां दोनो नही हैं, वहां जो रह जाता है शेष, वह आनन्द है। इसलिए आनन्द को स्वभाव कहा है।

दुख भी दूसरे से मिलता है और सुख भी दूसरे से मिलता है। यह आपने ख्याल किया है? मिलता आपको है, लेकिन मिलता दूसरे से है। दूसरा सदा निमित्त होता है। दुख भी दूसरे से मिलता है, और सुख भी। गाली भी कोई देता है, प्रशंसा भी कोई करता है। आनन्द स्वयं से मिलता है, दूसरे से नहीं। दुख भी परतन्त्र है। दूसरा चाहे तो सुख खींच ले और दूसरा चाहे तो दुख खींच ले। वह दूसरे के हाथ मे है। आप गुलाम हैं, लेकिन आनन्द स्वतंत्र है। वह दूसरे के साथ नही मिलता। उसे दूसरा नष्ट नही कर सकता। जो इस भांति जागकर जीता है कि प्रभु में ही उसका विचरण बन जाता है, वह परम आनन्द मे जीता है।

वे तीनों गुणों से रहित हैं। ऐसी अवस्था को उपलब्ध चेतनाएं निर्गुण, अर्थात् तीनो गुणो से रिक्त और मुक्त होती हैं। तीन गुणो से सारा जगत् निर्मित है। जो भी निर्मित है, वह तीन गुणों मे निर्मित है। यह तीन का आंकड़ा बहुत कीमती है। और सबसे पहले, सम्भवत, भारत ने ही तीन के इस गणित को खोजा। नाम बदलते रहे हैं, लेकिन तीन की संख्या नही बदलती है। भारतीय कहते रहे हैं, तीन गुण है—सत्, रज और तम। इन तीन से मिलकर यह जगत् बना। क्रिश्चियन कहते हैं, ट्रिनिटी है। त्रैत है जगत्। गॉड द फादर, होली घोस्ट, ऐण्ड जीसस क्राइस्ट द सन। पिता परमात्मा और पवित्र आत्मा—दो, और पुत्र क्राइस्ट—तीन। इन तीन से मिलकर सारा जीवन है। ये नाम अलग हैं।

वैज्ञानिक कहते है, जितना हम अस्तित्व में प्रवेश करते हैं, उतना ही पता चलता है कि तीन से मिलकर सारा अस्तित्व बना है। उनके नाम अलग हैं। वैज्ञानिक कहते हैं, इलेक्ट्रान, प्रोटान, न्यूट्रान। इन तीन से मिलकर सारा जगत् बना है। लेकिन एक बहुत मजे की बात है कि चार कोई नहीं कहता, दो भी कोई नही कहता। वे क्या परिभाषाएँ करते हैं, क्या नाम देते हैं, यह दूसरी बात है। युग बदलते हैं, शब्द बदलते हैं, परिभाषाएँ बदल जाती हैं, लेकिन यह तीन की संख्या कुछ महत्त्वपूर्ण मालूम पड़ती है। यह बिना मालूम

पड़ती है।

जगत् एक त्रैत है। तीन से मिलकर बना है। लेकिन विज्ञान कहता है, बस इन तीन मे सब समाप्त है। यहां उसकी भूल है। अभी उसे चौथे का पता नही है। क्योंकि जो इन तीन को जानता है, वह तीसरा नहीं हो सकता, तीन मे नही हो सकता है। जो इन तीन को जानता है, और पहचानता है वह चौथा ही हो सकता है—द फोर्थ।

हिन्दू बहुत अद्भुत रहे है शब्दो की खोज मे। पुरानी कौम है और उसने अनुभव किए हैं और बहुत-सी बातें खोजी हैं। हमने जो चौथे के लिए नाम रखा, वह नाम नही रखा क्योंकि नाम रखने की कोई जरूरत नहीं, क्योंकि पाचवां है ही नहीं। इसलिए चौथी अवस्था को हमने कहा, तुरीय। तुरीय का अर्थ होता है—सिम्पली द फोर्थ—चौथा। उसका कोई नाम नही है। बस, 'चौथे' से काम चल जाएगा, उसके आगे कोई बात ही नही।

अभी रूस के एक बहुत बडे गणितज्ञ डॉ० पी० डी० आस्पेंस्की ने एक किताब लिखी है, "द फोर्थ वे—चौथा मार्ग।" और आस्पेंस्की करीब-करीब घूम-घूमकर वही आ गया है, जहां तुरीय की धारणा आती है। तीन से काम नहीं चलेगा, क्योंकि तीन से जो निर्मित है, उसको जाननेवाला एक चौथा भी है, जो अलग मालूम पडता है। पदार्थ तीन से निर्मित है, यह सत्य है; जगत् तीन से निर्मित है, यह सत्य है; लेकिन एक चौथा भी है जो जगत् के भीतर भी होकर जगत् के बाहर है। वह चौथा है—चेतना, कॉसनेस, बोध। जो इस चौथे को जान लेता है, वह निर्गुण हुआ—तीन गुणों के पार हो जाता है।

द फोर्थ मस्ट बी नोन। उस चौथे के जाने बिना तीन के बाहर आदमी नहीं होता। और जब तक चौथे को नही जानता, तब तक तीन मे से किसी एक के साथ अपना सम्बन्ध जोड कर समझता है, यही मैं हूं। जन्मों-जन्मों तक यह भूल चलती चली जाती है। तीन मे से किसी से हम अपने को जोड़ लेते हैं और कहते हैं, यही मैं हूं और उसका हमें पता ही नही, जो कह रहा है, जो देख रहा है, जो जान रहा है—उसका हमें कोई पता नहीं। पता इसलिए नही चलता, जैसे कि किसी दर्पण के सामने सदा ही भीड़ गुजरती हो। दर्पण बाजार में लगा हो, एक पानवाले की दूकान पर लगा हो। भीड़ दिन भर गुजरती है। कोई बैठा हुआ देखता है, दर्पण कभी खाली

न दिखे। सदा भरा रहे, सदा भरा रहे, सदा भरा रहे। उस आदमी ने कभी खाली दर्पण न देखा हो, तो क्या उसे पता चलेगा कि इस भीड़ की जो तस्वीरें निकली हैं, उनके अलावा भी दर्पण कुछ है? कैसे पता चलेगा? वह जानेगा कि दर्पण उस भीड़ का नाम है, जो गुजरती रहती है। उसे दर्पण का कभी पता नहीं चलेगा। दर्पण का पता तो तभी चल सकता है, जब दर्पण खाली हो, भीड़ न गुजर रही हो। भीड़ मे दब जाता है। इसे छोड़ें, और दूसरे उदाहरण से आसान होगा समझना।

आप फिल्म देखने गए हैं। पर्दा दिखाई नही पडता, जब तक फिल्म चलती रहे। पर्दा दिखाई कैसे पड़ेगा, आवृत है, फिल्म दौड़ रही है, चित्र दौड रहे हैं। और बडे मजे की बात है, पर्दा चित्रों से ज्यादा वास्तविक है। लेकिन जो ज्यादा वास्तविक है, वह चित्रों में दब गया है। चल चित्र में कुछ भी नही है, सिर्फ धूप-छांव है। वह सिर्फ छाया और प्रकाश का जोड है। लेकिन तब तक न दिखेगा पर्दा आपको, जब तक चल चित्र समाप्त न हो जाए, चित्र बन्द न हो जाए। चित्र बन्द हो, तो आप चौंकेंगे कि फिल्म तो झूठ थी, झूठ के पीछे एक अलग सचाई थी। वह सफेद पर्दा है।

हमारा वह जो चौथा है अंक, वह जो हमारा वास्तविक स्वभाव है, वह जो तुरीय है हमारे भीतर छिपा हुआ, उसका हमें तब तक पता नहीं चलेगा, जब तक हम विचारो की भीड और विचारों की फिल्म से दबे रहेंगे। जिस दिन विचार बन्द हो जाते हैं, उसी दिन अचानक पता चलता है कि मैं विचार नही, मैं तो कुछ और हूं। मै शरीर नही, मै तो कुछ और हूँ। मैं मन नही, मै तो कुछ और हूँ। इसका तो मुझे पता ही नही।

ऋषि कहता है, जो निद्रा में जागकर सोते हैं, ब्रह्म में जिनका आचरण है, विचरण है, परम आनन्द में जो स्थिर हैं, वे चौथे को जान लेते हैं, वे तुरीय को पहचान लेते हैं, "द फोर्थ" के जानने वाले हो जाते हैं। वे तीनो के पार हो जाते हैं।

वे तीनो गुणों के पार हो जाते हैं। इसका अर्थ है कि अब वे अपना सम्बन्ध तीन गुणों से नहीं जोडते — सत्, रज, तम से नहीं जोड़ते। अब वे जानते हैं कि हम पृथक हैं, हम और हैं। हर स्थिति में जानते हैं। बूढे हो जाएं, तो वे जानते हैं कि जो बूढ़ा हो गया, वह तीन गुणों का जोड़ है, मै नहीं। बीमार हो जाएं, तो वे जानते हैं कि वह तीन गुणों का जोड़ है, जो वह बीमार हो गया। मौत

आ जाए, तो वे जानते हैं, मौत में वही मिट रहा है जो जन्म में जुड़ा है—तीन गुणों का जोड़। मैं नहीं। वे सदा ही अपने को पार, ट्रासेंड, अतिक्रमण में देख पाते हैं—सदा हर स्थिति में। और जब ऐसा अनुभव हो कि हर स्थिति में कोई अपने को तीनों गुणों के पार देख पाए, तो उस अनुभव का सूत्र क्या होगा? कैसे यह अनुभव होगा? तो ऋषि कहता है, विवेकलभ्यम्। ऐसी जो स्थिति है वह विवेक के द्वारा, अवेयरनेस के द्वारा, होश के द्वारा प्राप्त होती है।

विवेक का बडा भ्रात अर्थ समझा जाता है। विवेक से हम जो अर्थ लेते हैं, वह अंग्रेजी के शब्द डिसक्रिमिनेशन का है। आमतौर से भाषा-कोश मे लिखा होता है, विवेक का अर्थ है भेद करने की बुद्धि—द पावर ऑफ डिस-क्रिमिनेशन। सच में विवेक की यह परिभाषा या यह अर्थ बहुत ही सीमित और आंशिक है। विवेक का पूर्ण अर्थ है होश, अमूर्च्छा, अवेयरनेस। विवेक का अर्थ है अप्रमाद, विवेक का अर्थ है आत्मस्मृतिपूर्वक जीना। गुरजिएफ ने इसे सेल्फ रिमेंबरिंग कहा है।

गुरजिएफ कहता था, रास्ते पर चलते हो, तो चलते वक्त चलने की क्रिया भी होनी चाहिए और चल रहा हूं मैं, इसे जानने की शक्ति भी पूरे वक्त सक्रिय होनी चाहिए। देखते हो, तो देखने की क्रिया भी होनी चाहिए और भीतर छिपा है जो देखनेवाला, उसका भी स्मरण बना रहना चाहिए कि मैं देख रहा हूं। देखने की क्रिया हो रही है, इसका भी बोध बना रहना चाहिए। क्रियाओं के जाल के बीच में केन्द्र पर जागी हुई दीए की तरह चेतना को खड़ा रहना चाहिए और देखते रहना चाहिए। विवेक लभ्यम्। ऐसे दीए का जो लाभ है, जो फल है, जो परिणाम है, वह तीन गुणों के पार जाने वाला है। हम अपनी क्रियाओं को समझें, तो खयाल में आ जाएगा।

कभी रास्ते के किनारे बैठ जाएं। रास्ते पर चलते हुए लोगों को जरा देखें। अनेक लोगों को पाएंगे कि वे अपने से ही बातचीत किए चले जा रहे हैं। उनके चेहरे पर हाव-भाव आ रहे हैं। भीतर बहुत-कुछ चल रहा होगा। रास्ता पार कर रहे हैं, लेकिन उन्हें पता नहीं कि वे रास्ता पार कर रहे हैं, क्योंकि भीतर चेतना तो किसी और बात में उलझी हुई है। मनो-वैज्ञानिक कहते हैं, अधिकतम दुर्घटनाएं, जो सड़कों पर हो रही हैं, वे हमारी मूर्च्छा के परिणाम हैं। एक आदमी कार चलाए जा रहा है और भीतर

सोया हुआ है। होश तो नहीं है, खतरा तो होगा ही। दुर्घटनाएँ इतनी कम होती हैं, यही आश्चर्यजनक है। आदमी को देखते हुए खतरे बहुत कम होते हैं, दुर्घटनाएँ बहुत कम होती हैं। अपने को भी खयाल में लें। जब आप किसी से बात कर रहे होते हैं, तब बात होशपूर्वक करते हैं कि बात अलग चलती रहती है, भीतर कुछ और भी चलता रहता है और बेहोशी बनी रहती है!

अपनी सारी क्रियाएँ हम मूर्च्छा में चला रहे हैं। अगर विवेक को जगाना हो, उस विवेक को, जो आधार बन जाता है आध्यात्मिक सिद्धि मे, तो हमें एक-एक क्रिया के साथ होश को जोड़ना पड़ेगा। भोजन कर रहे हैं, होश-पूर्वक करें। होशपूर्वक का क्या अर्थ है? अर्थ है कि हाथ ऊपर उठे, तो भीतर चेतना जाने कि अब हाथ ऊपर उठता है, कौर बाँधें तो चेतना जाने कि अब अभी कौर बनता है। मुँह में कौर जाए, चबाएँ, तो चेतना जाने कि अब मैं चबा रहा हूँ। छोटे से छोटा काम भी हो तो चेतना के जानते हुए हो। चेतना के अनजाने न हो पाए कोई काम। कठिन है, बहुत कठिन है। एक सेकेन्ड भी होश से भरे रहना बहुत कठिन है, लेकिन प्रयोग से सरल हो जाता है। छोटे-छोटे प्रयोग करते रहें।

खाली बैठे हैं, आँख बन्द कर लें, श्वांस को ही देखते रहें कि श्वांस का होश रखूँगा। आप बहुत हैरान होंगे कि एकाध सेकेन्ड भी होश नही रहता और होश दूसरी बात में चला जाता है। श्वांस भूल जाती है। फिर होश को लौटा लाएँ, फिर श्वांस को देखने लगें। घूमने निकले हैं, तो अभ्यास करें कि ध्यानपूर्वक कदम रखूँगा—जानता रहूँगा कि बायाँ पैर उठा, दायाँ पैर उठा। कहने को नही कह रहा हूँ कि जब बायाँ पैर उठे, तो आप भीतर कहें कि बायाँ उठा और जब दायाँ उठे तो कहें, दायाँ उठा। अगर आप ऐसा कहने मे लग गए, तो पैर का होश खो जाएगा। मैं यह कहने को नहीं कह रहा हूँ। 'फील ईट'—बायाँ उठ रहा है, तो भीतर अनुभव करें, बायाँ उठ रहा है। मुझे तो कहना पड़ रहा है, आपको कहने की जरूरत नहीं है। जब बायाँ पैर उठे, तो आप सिर्फ जानें कि बायाँ उठा। जब दायाँ उठे तो जानें कि दायाँ उठा। दस-पाँच कदम में ही आप पाएँगे कि हजार दफे भूल हो जाती है। एक पैर उठता है, दूसरा भूल ही जाता है। खयाल ही नहीं रहता कि दायाँ कब उठ गया। तब आपको पता चलेगा कि कितनी मूर्च्छा है।

अपने चलते हुए पैर का भी पता नहीं है, तो जिन्दगी के और रास्तों का क्या पता होगा? क्षण भर को होश नहीं रख पाता हूँ श्वांस का, तो क्रोध का होश कैसे रख पाऊँगा। श्वांस-जैसी निर्दोष (इनोसेंट) क्रिया, जिसमें किसी का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, किसी को कुछ लेना-देना नहीं—निर्दोष बिलकुल, निजी बिलकुल—उसमें भी नहीं होश रह पाता। मैं कसमें लेता हूँ कि अब क्रोध नहीं करूँगा, कैसे चलेंगी ये कसमें? कसम एक तरफ पड़ी रह जाएगी। जब क्रोध आएगा, तो होश का पता ही नहीं रहेगा। क्रोध हो जाएगा, तब पीछे से पता चलेगा। पीछे से तो दुनिया में सभी बुद्धिमान होते हैं।

मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन किसी सभा में भाषण करके लौट रहा था। पत्नी से कहने लगा कि तीसरा भाषण सबसे जोरदार हुआ। पत्नी ने कहा, तीसरा भाषण? तुम्हारा अकेला तो भाषण ही था! मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा, मेरा ही तीसरा भाषण। उसकी पत्नी ने कहा, लेकिन तीसरा! एक कुल जमा तुमने भाषण दिया। मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा, पहले मेरी बात सुनो। एक भाषण तो वह है, जो मैं घर से तैयार करके चला था कि दूँगा। एक वह है, जो मैंने दिया। और एक वह है, जो मैं अब सोच रहा हूँ कि दिया होता। यह तीसरा सबसे अच्छा है—द बेस्ट, इसका कोई मुकाबला नहीं। बेहोश आदमी ऐसा ही चल रहा है। जो कहना चाहता था, वह नहीं कहा। जो कहा, वह कहना नहीं चाहता था। जो कहना चाहता था, वह अपने भीतर कह रहा है। यह सब चल रहा है, बेहोशी के कारण।

यदि त्रिगुण के पार जाना हो तो होश को जगाना होगा, विवेक को जगाना होगा। त्रिगुण के पार जाए बिना अमृत की प्राप्ति नहीं है। तीन गुणों के भीतर तो मृत्यु ही मिलती है, चौथे में अमृत है। इसको साधना पड़ेगा—उठते-बैठते, जागते-सोते।

आप जिन्दगी में कितनी दफे सो चुके हैं। आदमी साठ साल जीता है, तो कम से कम बीस साल तो सोता है। आठ घंटे रोज सोए, तो साठ साल में बीस साल सोने में गुजर जाते हैं। बीस साल! अगर आप साठ साल के हैं, तो बीस सो चुके हैं, लेकिन कभी आपने नींद को आते देखा? कभी नींद को जाते देखा? बीस साल सोते हो गए, आपको यह भी पता नहीं कि नींद किस क्षण में आती है और किस क्षण में जाती है। अपनी ही नींद, लेकिन होश

बिलकुल नहीं ! अपना ही जागरण, लेकिन होश बिलकुल नही ! तो प्रयोग करें।

रात सो रहे हैं, बिस्तर पर पड़े हैं। होश रखें कि कब नीद आ जाती है। जागते-जागते कब नीद का धुआँ उतरता है। कब नीद का अँधेरा भीतर छा जाता है। कब हृदय की धड़कनें शिथिल हो जाती हैं। कब श्वाँस तंद्रिल हो जाती है। कब भीतर सपने जगने लगते हैं। देखते रहें। महीनों तक तो कोई पता नही चलेगा। सुबह ही आपको पता चलेगा कि अरे, नींद आ गई ! लेकिन अगर प्रयास किया धीरे-धीरे, तो किसी दिन अचानक अभूतपूर्व अनुभव होता है—जब कोई नींद को अपने ऊपर उतरते देख लेता है। और ध्यान रहे, जब आप नींद को अपने ऊपर उतरते देख लेते हैं, तब आप नीद में भी जागने में समर्थ हो जाते हैं। क्योंकि तब फिर क्या बात रही, नीद को हमने देखा कि नींद उतर रही है—हम देख रहे हैं, हम जागे हुए हैं। नीद आ गई, उसने सब तरफ से घेर लिया और हम देख रहे हैं कि भीतर कोई जागा हुआ है। लेकिन अभी तो जागने में ही जागने की कोशिश करें। अभी नींद में जागने की कोशिश से कोई फायदा न होगा। जो जागने में ही जागा हुआ नहीं, वह नींद में कैसे जागेगा ! अभी जागने में ही जागें। जो भी करते हैं, उसको करते समय होश भी रखने की कोशिश करें। कोई भी काम कर रहे हैं छोटा-मोटा, तो होश साथ में रखने की कोशिश करें।

अभी आप मुझे सुन रहे हैं। मैं बोल रहा हूँ, आप सुन रहे हैं। तो सारा होश मुझ पर मत रखें। मुझे सुनें, लेकिन सुनने वाले का भी खयाल रखें कि कोई सुन रहा है। कोई बोल रहा है बाहर, कोई सुन रहा है भीतर। दोनो के बीच शब्दों का आदान-प्रदान हो रहा है। लेकिन बोलने वाले में इतने सम्मोहित न हो जाएँ, इतने खो न जाएँ कि सुनने वाले का पता ही न रहे, क्योंकि असली तो सुनने वाला ही है। उसकी याद बनी रहनी चाहिए। चेतना का तीर दोनो तरफ होना चाहिए—इधर बोलने वाले की तरफ, उधर सुनने वाले की तरफ। दोनो तरफ होश रहे। और तब आपकी जो समझ होगी, वह बहुत गहरी हो जाएगी। क्योंकि जब सुनने वाला सोया हुआ है, तो बोलने वाला क्या समझा पाएगा ? और अगर सुननेवाला जागा हुआ है, तो बोलने वाला चुप भी रह जाए, तो भी समझा सकता है।

इसी सम्बन्ध में आपको कल के लिए खबर दे दूँ कि दोपहर को जो तीस मिनट का मौन है, वह अकारण नहीं रखा है। उस तीस मिनट में मैं आपसे मौन बोलने की कोशिश कर रहा हूँ। तो आप तीस मिनट रिसेप्टिव, संग्राहक होने की कोशिश करें। पन्द्रह मिनट कीर्तन, पन्द्रह मिनट आपको जो मौज आए वह और फिर तीस मिनट आप अपने सब द्वार-दरवाजे खोल कर होश-पूर्वक बैठ जाएँ कि कोई आवाज किसी सूक्ष्म मार्ग से आए, तो मेरे दरवाजे बन्द न हो। तो मैं आपसे मौन में बोलने की कोशिश कल से शुरू करूँगा।

कल से आप मौन मे सिर्फ अपने को खुला रखें और शान्त रहें, तो बिना वाणी के आपसे थोडी बात हो सके। सच तो यह है कि जो महत्त्वपूर्ण है, वह वाणी से नहीं कहा जा सकता, उसे तो मौन में ही कहा जा सकता है। और अगर वाणी का उपयोग भी किया जा रहा है, तो सिर्फ इसीलिए कि किसी तरह आपको वाणी के पार, मौन की क्षमता और मौन मे समझने की योग्यता हो पाए। ऋषि कहता है, विवेक लभ्यम्। विवेक से उपलब्ध होती है वह स्थिति।

"मनोवाम् अगोचरम्।" वह स्थिति मन और वाणी का अविषय है। वह स्थिति, जो विवेक से उपलब्ध होती है, न तो मन से जानी जा सकती है और न वाणी से समझायी जा सकती है। वह इन दोनो के लिए अविषय है। इन दोनो का आब्जेक्ट नहीं है। इसे ठीक से समझ लें। मन और वाणी का अविषय है वह स्थिति।

मन का अविषय कौन होता है? जो मन के पार है, वह मन का विषय नहीं बन सकता। मन उसे देख सकता है, जो मन के सामने है। मन उसे नहीं देख सकता, जो मन के पीछे है। जैसा मैंने कहा, दर्पण उसे देख सकता है, जो दर्पण के सामने है। दर्पण उसे नही देख सकता, जो दर्पण के पीछे है। लेकिन दर्पण नहीं देख सकता जो दर्पण के पीछे है, तो इसका यह अर्थ नही है कि दर्पण के पीछे कुछ भी नही है। दर्पण का न देखना अस्तित्व का अभाव नहीं है। सिर्फ दर्पण की क्षमता की सूचना है।

मन हमारा दर्पण है जगत् के लिए—जस्ट ए मीरर। ये जो चारो तरफ विराट् पदार्थ का जगत् है, इसे मीरर करने के लिए, इसे दिखाने के लिए, इसका प्रतिबिम्ब बनाने के लिए मन की इन्द्रिय है। मन के और अंग हैं। आँख मन का एक द्वार है, जहाँ से रूप प्रवेश करता है, आकृति और रंग

प्रवेश करते हैं। कान दूसरा द्वार है, जहाँ से ध्वनि प्रवेश करती है या शब्द प्रवेश करते हैं। हाथ, नाक ये सब द्वार हैं। ये पाँच इन्द्रियाँ मन के द्वार हैं। मन इनका आधार है। ये मन के एक्सटेंशन (फैलाव) हैं। इनके द्वारा मन बाहर के जगत् मे जाता और जानता है। ये जरूरी हैं। मन की बड़ी उपयोगिता है। लेकिन आँख बाहर देख सकती है, भीतर नहीं। कान बाहर सुन सकते हैं, भीतर नहीं। हाथ बाहर ही स्पर्श कर सकते हैं, भीतर नही। सब इन्द्रियाँ बाह्य को विषय बना सकती हैं, लेकिन जो भीतर है, उमे विषय नहीं बना सकती हैं। मन के भी भीतर चेतना है। मन के भी पार चेतना है। वह मन का अविषय है। कोई उपाय नही है मन के पास कि उस चेतना को जान सके। हमारी यही उलझन है। जगत् में सारी चीजें मन से जान लेते हैं, तो हम सोचते हैं कि मन से ही आत्मा को और चेतना को भी पहचान लें।

कुर्सी को देख लेते हैं मन से, चट्टान को देख लेते हैं मन से, दुकान को देख लेते हैं मन से। गणित पढ लेते हैं, भूगोल पढ़ लेते हैं, भाषा पढ़ लेते हैं मन से। विज्ञान के ज्ञाता हो जाते हैं मन से। इससे भ्रांति पैदा होती है कि सभी कुछ मन से जान लिया जाता है। विश्वविद्यालय मे जो भी पढ़ाया जाता है, सभी मन से जान लिया जाता है। ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी मे तीन सौ साठ विषयों को पढाते हैं। उसमे सभी कुछ आ जाता है। वह सब मन से जान लिया जाता है, तो भ्रांति पैदा होती है कि फिर यह आत्मा और परमात्मा भी मन से जाने जा सकेंगे। जब मन की इतनी क्षमता है, तो मन सब जान लेगा। चूँकि मन अपने पीछे की चीजों को नही जान सकता है, इसलिए मन कह देता है, जिसे मैं नही जानता, वह नहीं है। पश्चिम की कठिनाई यही हो गई है।

पश्चिम ने मन से बहुत कुछ जाना है, पूरब से बहुत ज्यादा जाना है। पदार्थ में पश्चिम ने बहुत गति की है, बड़े रहस्य खोजे हैं। उसी से मुश्किल खड़ी हो गई है। वैज्ञानिक सोचता है कि परमाणु को जान सकता हूँ मन से, अनन्त दूरी पर जो तारा है, उसकी जानकारी ले सकता हूँ मन से, तो यह आत्मा (जिसके लिए मुहम्मद कहते हैं कि गले की जो नस है, वह कट जाए तो आदमी मर जाता है, आत्मा उससे निकट है) जो इतना निकट है उसे न जान सकेंगे? जान लेंगे। मन से वह सदा कोशिश करता है। जब

मन नहीं जान पाता, तो निष्कर्ष देता है कि आत्मा नहीं होगी। लेकिन ऋषि कहते हैं, न जानने का कारण यह नहीं है कि आत्मा नही है। न जानने का कारण यह है कि आत्मा मन के लिए अगोचर है, अविषय है—नौट ऐन ऑब्जेक्ट फॉर द माइन्ड—मन के लिए विषय नहीं है।

इसे हम ऐसा समझें, तो हमें आसानी पड़ेगी। आंख देख लेती है, लेकिन सुन नहीं पाती। अगर कोई संगीत सुनने आँख लेकर पहुँच जाए और कहे कि मेरी आँख बिलकुल दुरुस्त है, चश्मा भी नही लगता, पर संगीत सुनाई क्यो नही पड़ता? आँख के लिए सुनना अविषय है। लिस्निग इज नौट ऐन आब्जेक्ट फॉर द आई। सुनना आँख का विषय नही है, उसमें आँख का कोई कसूर नही है। आँख के पास ध्वनि को पकड़ने का उपाय ही नहीं है। आँख पकड़ती है रंग को, रूप को, आकार को, प्रकाश को—साउण्ड को नही, ध्वनि को नहीं। उसके पास इसके लिए यन्त्र नहीं है। ऐसे ही मन पकड़ता है पदार्थ को। चैतन्य उसके लिए अविषय है।

इसलिए ऋषि कहता है कि वह मन का अविषय है, अगोचर है। मन को नही दिखाई पड़ेगा। इसलिए जो मन से खोजने चला, वह गलत साधन लेकर खोजने चला है। अगर आत्मा नही मिलती, तो इससे आत्मा का न होना सिद्ध नही होता, इससे सिर्फ इतना ही सिद्ध होता है कि आप जो साधन लेकर चले थे, वह असंगत था, इरेलेवेन्ट था। उसका कोई जोड़ ही नहीं बनता था। उससे कोई सम्बन्ध ही नही जुड़ता था। उसके लिए कुछ और ही रास्ते खोजने पड़ेंगे। ध्यान वही रास्ता है। जो मन नही करता, वह ध्यान कर पाता है। जो मन के लिए अविषय है, वह ध्यान के लिए विषय है। ध्यान उस नई शक्ति को भीतर से जगाता है, जो मन से अतिरिक्त है—न आँख की है, न कान की है, न हाथ की है, न शरीर की है, न मन की है। इन सबों से अलग-अलग हम इसे दूसरे ढंग से समझें, तो आसानी हो जाएगी।

मैंने कहा, एक दर्पण लगा है। उसके सामने जो पड़ता है, वह दिखाई पड जाता है। हम दर्पण के पीछे एक और दर्पण लटका दें, तो पीछे का जो हिस्सा है, वह दिखाई पड़ता है। पदार्थ को पकड़ने के लिए मन एक दर्पण है। ध्यान भी एक दर्पण है, परमात्मा को पकड़ने के लिए। ध्यान के बिना परमात्मा गोचर नही हो पाता। ऋषि इसलिए भी कहता है

कि वह मन और वाणी का अविषय है, क्योंकि मन सोच सकता है, जान नहीं सकता—इट केन फील, इट केन नॉट नो। मन का अर्थ ही होता है मनन की क्षमता—द कैपेसिटी टु थिंक। इसीलिए उसको मन कहते हैं। और इसीलिए मनुष्य को मनुष्य कहते हैं, क्योंकि वह सोच सकता है। मन का अर्थ है सोचने की क्षमता, विचारने की क्षमता। लेकिन ज्ञान और ही बात है। सच तो यह है कि जहाँ हमें ज्ञान नही होता, वहाँ मन सब्स्टीट्यूट, परिपूरक का काम करता है। जहाँ ज्ञान नहीं होता, वहाँ हम सोचकर ही काम चलाते हैं। जहाँ ज्ञान होता है, वहाँ सोचकर काम करने की कोई जरूरत नहीं रह जाती।

अंधे आदमी को कमरे के बाहर जाना है, तो वह पूछता है कि रास्ता कहाँ है। सोचता है, रास्ता कहाँ है। पता लगाता है, रास्ता कहाँ है। आँख वाले आदमी को जब निकलना होता है, तब वह सोचता नही है। खयाल करना भी नहीं सोचता कि रास्ता कहाँ है। सोचता भी नही कि दरवाजा कहाँ है। पूछने का तो सवाल ही नही है। भीतर भी नही सोचता कि दरवाजा कहाँ है। आँख वाला आदमी निकल जाता है—उठता है और निकल जाता है। आप उसको याद दिलाएँ, तब शायद उसको खयाल आए कि वह दरवाजे से निकला, अन्यथा दरवाजे का भी उसे खयाल नही आता। आँख जब देख सकती है, तो सोचने की कोई जरूरत नही रह गई।

जहाँ भी ज्ञान होता है, वहाँ सोचने की जरूरत नहीं रह जाती। अज्ञान मे सोचना चलता है। ज्ञान में सोचना बन्द हो जाता है। ऐसा समझें कि अज्ञान के लिए मन उपाय है। अज्ञान के साथ जीना हो, तो मन चाहिए, बहुत सक्रिय मन चाहिए। ज्ञान में जिसे जीना है, ज्ञान जिसे उपलब्ध हुआ, उसके लिए मन की कोई भी जरूरत नही रह जाती। मन बेकार हो जाता है। उसे कबरे घर मे डाला जा सकता है। इसलिए भी ऋषि कहते हैं कि वह मन का विषय नहीं है, वह ज्ञान का विषय है। ज्ञान होता है चेतना को, विचार होते हैं मन को।

साथ ही ऋषि कहता है, वाणी का भी अविषय है वह, शब्दों से भी उसे कहा नहीं जा सकता। इसलिए दूसरे को बतलाने का कोई भी उपाय नहीं। नौ वे टु कम्युनिकेट, संवाद करने का कोई उपाय नहीं। गूँगे का गुड़ हो जाता है। जिसे पता चल जाता है, वह बड़ी मुश्किल में पड़ जाता है, क्योंकि

वह कहना चाहता है किसी को, और कह नहीं पाता। हजार-हजार डिव्हाइसेज, हजार-हजार उपाय खोजता है जिनसे आपको कह दे। फिर भी पाता है कि सब उपाय व्यर्थ हो जाते हैं, कह नहीं पाता। वाणी का वह अविषय है, क्योंकि वाणी मन की शक्ति है। जिसको मन जान नहीं सकता, उसको मन कहेगा कैसे? अगर मन जान सकता, तो वाणी कह सकती। इसलिए ध्यान रखें, मन जो भी जान सकता हूँ, वाणी उसे कह सकती हूँ। लेकिन जिसे मन जान ही नहीं सकता, वाणी उसे कहेगी कैसे? वाणी तो मन की ही दासी है। वह तो मन का ही एक हिस्सा है। इसलिए वाणी उसे कह नहीं पाती। फिर भी उपनिषद् तो कहा जाता है, वेद तो कहे जाते हैं। बुद्ध चालीस वर्ष तक सतत बोलते हैं, जीसस बोल-बोल कर फँस जाते हैं और शूली पर लटकते हैं।

सुकरात से अदालत कहती है कि तू अगर बोलना बन्द कर दे, तो हम तुझे माफ कर दें। सुकरात कहता है, बोलना कैसे बन्द हो सकता है? आप फांसी ही दे दें। जहर ही पिला दें। वह चलेगा। बोलना बन्द नहीं हो सकता। और यही सुकरात कहता फिरता है कि सत्य बोला नही जा सकता, और यही सुकरात बोलने के लिए मरने को तैयार है। मर जाता है, जहर पी लेता है। वह कहता है, बिना बोले रहूँगा कैसे। बोलूंगा ही, यह तो अपना धंधा है। सत्य बोलना तो मेरा धधा है। इसके बिना मैं जीऊँगा कैसे? और कहता फिरता हूँ कि सत्य कहा नहीं जा सकता! अदालत तो कोई गलत आग्रह नहीं कर रही थी। जब सुकरात खुद ही कहता है कि सत्य नहीं कहा जा सकता, तो अदालत क्या गलत मांग कर रही थी? वह यही कह रही थी कि जो नही कहा जा सकता, उसे कृपा करके मत कहो। जो कहा ही नहीं जा सकता, उसको कहने के चक्कर में क्यों पड़ते हो, और कह-कह कर मुसीबत मे पड़ते हो! अदालत तक आ गए।

सुकरात ने कहा, वह कहा तो नहीं जा सकता, लेकिन उसे कहने से किसी को रोका भी नहीं जा सकता। जब मैं देखता हूँ कि मेरे ही सामने कोई जा रहा है और गड्ढे मे गिरेगा, मैं जानता हूँ कि नहीं कहा जा सकता कि गड्ढा है, फिर भी मैं चिल्लाऊँगा। फिर भी मैं आवाज दूँगा। कौन जाने, किसी तरह संकेत मिल जाए। और न भी मिले संकेत, तो कम-से-कम इतनी तो तृप्ति होगी कि मैं चुपचाप खड़ा नहीं रहा था। जो मुझे करना था, वह मैंने किया था। अब अगर परमात्मा की मर्जी नहीं,

अस्तित्व का नियम नहीं, तो मेरा कसूर क्या ? मेरी कोई जिम्मेवारी, नहीं।

सत्य को जान लेने के बाद एक अल्टीमेट रिस्पॉंसिबिलिटी है, एक आत्यंतिक जिम्मेवारी आदमी पर पड़ जाती है कि उसने जो जाना है, वह कह दे। कोई सुने तो ठीक, न सुने तो ठीक। सुनने वाला समझे तो ठीक, न समझे तो ठीक। जो कहा है, वह कहा जा सके तो ठीक, न कहा जा सके तो ठीक। लेकिन यह बोझ मन पर न रह जाए कि कुछ मैं जानता था, जिसे कोई और भी तलाश रहा था और मैंने उससे कहने का कोई उपाय न किया। और कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि अगर बुद्धिमान हो सुनने वाला तो जो बात वाणी से नही कही जा सकती, वह कभी वाणी की असमर्थता और विवशता से कुछ-कुछ समझी जा सकती है। जो बात शब्दों से नही कही जा सकती, वह शब्दो के पीछे छिपी हुई कहने की आतुरता से, शब्दों के पीछे छिपी हुई करुणा से कही हृदय का कोई तार झकृत कर सकती है।

तो ऋषि कहता है, वह वाणी और मन दोनो के अतीत और अगोचर है और दोनो का विषय नही है। इसलिए जिसे जानना हो, उसे वाणी के भी पार जाना पड़ता है, मन के भी पार जाना पड़ता है, और उस नए दर्पण को निर्मित करना पड़ता है, जिसका नाम ध्यान है। कहें, विवेक है। जो भी शब्द दें, इससे कोई फर्क नहीं पडता। उस विवेक या उस ध्यान को जगाए बिना ऋषियों ने जिन सत्यों की बात कही है, वह हमारे कानों तक ही जाती है,, प्राणों तक नही जाती। हम उसे सुनते हुए मालूम पड़ते हैं और फिर भी बहरे रह जाते हैं।

जीसस बार-बार कहते थे, जिनके पास आँखें हैं, वे देख लें, जिनके पास कान हों, वे सुन लें। जो भी उनको सुनने आते थे, सभी के पास कान थे। कान वाले लोग ही सुनने आते हैं। जो भी उनके दर्शन को आते थे, उनके पास आँखें थीं। आँख वाले लोग ही दर्शन को आते हैं। और आँख वाले लोगो से ही जीसस का यह कहना है कि आँखें हों, तो देख लो, कान हो, तो सुन लो। वे जरा भी गलत नही कह रहे हैं। कान होने से ही अगर सुना जा सकता सत्य, तो अब तक सब लोगों ने सुन लिया होता। और आँख होने से ही देखा जा सकता सत्य, तो अब तक सभी ने देख लिया होता। आँख और कान तो हमें जन्म से ही मिल जाते हैं, लेकिन एक और फेकल्टी, एक और हमारी अन्तः प्रज्ञा की क्षमता जन्म से नहीं मिलती, उसे हमें जन्माना पड़ता है।

जन्म से तो जीने के लिए जो उपयोगी यंत्र हैं, वे हमें मिले हुए हैं। सत्य तथा जीवन को जानने के लिए जो उपयोगी है, वह यन्त्र तो हमें ही सक्रिय करना पड़ता है। वह बीज-रूप हमारे भीतर होता है, लेकिन उसे सक्रिय हमें करना पड़ता है। अन्यथा वह बीज की तरह पड़ा-पड़ा फिर खो जाता है। जन्मों-जन्मों हमें अवसर मिलता है और हम चूकते चले जाते हैं। वह बीज है, ध्यान का, विवेक का। थोड़ा-सा ही श्रम, थोड़ी प्रतीक्षा, थोड़ा धैर्य, थोड़ा साहस, थोड़ा संकल्प, थोड़ा समर्पण; और उस बीज से जीवन-अंकुर फूटना शुरू हो जाता है। *जिस व्यक्ति के भीतर ध्यान का अंकुर जन्म गया,* बस वही कह सकता है कि जीवन में कोई सार न रहा, अन्यथा जीवन सिर्फ अपने को व्यर्थ गँवाने से ज्यादा और कुछ नहीं है।

●

आठवां प्रवचन

साधना-शिविर, माऊन्ट आबू, प्रातः, दिनांक २६ सितम्बर १६७१

स्वप्न-सर्जक मन का विसर्जन और नित्य सत्य की उपलब्धि

अनित्यं ज्जगद्यज्जनित स्वप्न जगभ्रगआदि तुल्यम्,
तथा देहादि सघातम् मोह गणजाल कलितम् ।
तद्रज्जुस्वप्नवत् कल्पितम् ।
विष्णु विध्यादि शताभिधान लक्ष्यम् ।
अकुशो मार्ग ।

जगत् अनित्य है, उसमें जिसने जन्म लिया है, वह स्वप्न के संसार-जैसा और आकाश के हाथी-जैसा मिथ्या है ।

वैसे ही यह देह आदि समुदाय मोह के गुणों से युक्त हैं । यह सब रस्सी में भ्रांति से कल्पित किए गए सर्प के समान मिथ्या हैं ।

विष्णु, ब्रह्मा आदि सैकड़ों नाम वाला ब्रह्म ही लक्ष्य है ।

अकुश ही मार्ग है ।

प्रॉसेस है। स्थिति कहीं भी नहीं है। एक आदमी को हम कहते हैं, यह बूढ़ा है। कहने से ऐसा लगता है कि बूढ़ा होना कोई स्थिति है, जो ठहर गई है, स्टेगनेंट हो गई है। नहीं, बुद्ध कहते थे, यह आदमी बूढ़ा हो रहा है। 'है' की कोई अवस्था ही नहीं होती। सब अवस्थाएँ होने की हैं।

पहली बार जब बाइबिल का अनुवाद बर्मी भाषा में किया जा रहा था, तो बहुत कठिनाई हुई, क्योंकि बर्मी भाषा बर्मा में बौद्ध धर्म के पहुँचने के बाद धीरे-धीरे विकसित हुई है। बौद्ध चिन्तन की जो आधारशिलाएँ हैं, वे बर्मी भाषा में प्रवेश कर गई। बर्मी भाषा मे 'है' शब्द के लिए कोई ठीक-ठीक शब्द नहीं है। जो भी शब्द हैं, उनका मतलब होता है 'हो रहा है।' अगर कहें नदी है, तो बर्मी भाषा में उसका जो रूपांतरण होगा, वह होगा 'नदी हो रही है।' और सब तो ठीक था, लेकिन बाइबिल के अनुवाद करने में 'गॉड इज (ईश्वर है) का अनुवाद बर्मी भाषा मे करें, तो उसका रूप हो जाता है, ईश्वर हो रहा है। बड़ी अड़चन थी।

बुद्ध कहते थे, कुछ भी 'है' नहीं, सब हो रहा है। वे ठीक कहते थे। यह वृक्ष आप देखते हैं। हम कहेंगे, यह वृक्ष है। जब तक आप कह रहे हैं, तब तक वृक्ष कुछ और ही हो गया। एक नई कोपल निकल आई होगी। एक पुरानी कोपल और पुरानी पड़ गई होगी। एक फूल थोड़ा और खिल गया होगा। एक गिरता फूल गिर गया होगा। जड़ों ने पानी की बूंदे सोख ली होंगी, पत्तों ने सूरज की नई किरणें पी ली होंगी। जब आप कहते हैं, वृक्ष है, जितनी देर आपको कहते मे लगती है, उतनी देर में वृक्ष कुछ और हो गया। 'है' जैसी कोई अवस्था जगत् में नहीं है। सब हो रहा है—जस्ट ए प्रॉसेस।

उपनिषद् यही कह रहे हैं। उपनिषद् का ऋषि कह रहा है, जगत् अनित्य है। नित्य उसे कहते हैं जो है, सदा है। जिसमें कोई परिवर्तन कभी नहीं, जिसमें कोई रूपांतरण नहीं होता। जो वैसा ही है, जैसा सदा था और वैसा ही रहेगा। निश्चित ही जगत् ऐसा नहीं है। जगत् है अनित्य। लगता है कि 'है' और बदला जा रहा है, भागा जा रहा है। जगत् एक दौड़ है—एक गत्यात्मकता, एक क्षणभंगुरता। लेकिन भ्रांति बहुत पैदा होती है। सभी चीजें लगती हैं 'है।' शरीर लगता है, है। लेकिन, वह भी एक धारा है, प्रवाह है। अगर वैज्ञानिक से पूछें, तो वह कहता है, सात साल में आपके शरीर में एक टुकड़ा भी नहीं बचता जो सात साल पहले था। सात साल में सब बह जाता

जगत् अनित्य है। अनित्य का अर्थ होता है, जो है भी और प्रतिक्षण नहीं भी होता रहता है। अनित्य का यह अर्थ नही होता कि जो 'नहीं' है। जगत् है, भलीभाँति है। उसके होने मे कोई सन्देह नहीं है। क्योंकि यदि वह न हो, तो उसके मोह मे, उसके भ्रम में भी पड जाने की कोई संभावना नही। और अगर वह न हो, तो उससे मुक्त होने का कोई उपाय नही। जगत् है। उसका होना वास्तविक है। लेकिन जगत् नित्य नहीं है, अनित्य है। अनित्य का अर्थ है, प्रतिपल बदल जाने वाला। अभी जो था, क्षण भर बाद वही नही होगा। क्षण भर भी कुछ ठहरा हुआ नहीं है। इसलिए बुद्ध ने कहा है, जगत् क्षणिक सत्य है। बस, क्षण भर ही सत्य रह पाता है। हेराक्लतु ने यूनान में कहा है, यू कैन नॉट स्टेप ट्वाइस इन द सेम रीवर (एक ही नदी में दो बार उतरना सम्भव नही है)। नदी बही जा रही है। ठीक ऐसे ही कहा जा सकता है, यू कैन नॉट लुक ट्वाइस द सेम वर्ल्ड (एक ही जगत् को दोबारा नही देखा जा सकता)। इधर पलक झपकी नहीं कि जगत् दूसरा हुआ जा रहा है। इसलिए बुद्ध ने तो बहुत अद्भुत बात कही है। बुद्ध ने कहा, 'है' शब्द गलत है। 'है' का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। सभी चीजें हो रही हैं। 'है' की अवस्था में तो कोई नहीं है।

जब हम कहते हैं, यह व्यक्ति जवान है, तो 'है' का बड़ा गलत प्रयोग हो रहा है। बुद्ध कहते थे, यह व्यक्ति जवान 'हो रहा है। जीवन भी गति है,

है, शरीर नया हो जाता है। जो आदमी सत्तर साल जीता है, वह सात बार अपने पूरे शरीर को बदल लेता है। एक-एक सेल बदलता जाता है—प्रतिपल।

आप सोचते हैं कि आप एक दफा मरते हैं, पर आपका शरीर हजार दफे मर चुका होता है। शरीर का एक-एक कोष्ठ मर रहा है, निकल रहा है शरीर के बाहर। भोजन से रोज नए कोष्ठ निर्मित हो रहे हैं। पुराने कोष्ठ मल के द्वारा बाहर फेंके जा रहे हैं और अनेक मार्गों से शरीर अपने मरे हुए कोष्ठों को बाहर फेंक रहा है। आपने खयाल नहीं किया होगा, नाखून काटते हैं, तो दर्द नही होता, बाल काटते हैं, तो दर्द नहीं होता। आपने खयाल नहीं किया होगा कि वे डेड पार्ट्स (मृत हिस्से) हैं, इसलिए दर्द नहीं होता। अगर ये शरीर के हिस्से होते, तो काटने से तकलीफ होती। ये मरे हुए हिस्से हैं। शरीर के भीतर जो कोष्ठ मर गए हैं, उनको फेंका जा रहा है बाहर—बालों के द्वारा, नाखूनों के द्वारा, मल के द्वारा, पसीने के द्वारा। प्रतिपल शरीर अपने मरे हुए हिस्सों को बाहर फेंक रहा है और भोजन के द्वारा नए हिस्सों को जीवन दे रहा है। शरीर एक सरिता है, लेकिन भ्रम तो यह पैदा होता है कि शरीर है।

आज से तीन सौ साल पहले तक पता भी नहीं था कि शरीर के भीतर खून गति करता है। तीन सौ साल पहले तक खयाल था कि शरीर के भीतर खून भरा हुआ है, क्योंकि शरीर के भीतर जो खून की गति है, उसका हमें पता तो चलता नहीं। और शरीर में खून नदी की तेज धार की तरह चल रहा है। जो आपके पैर में था, वह क्षण भर बाद आपके सिर में पहुँच जाता है। खून का तीव्र परिभ्रमण चल रहा है। उस परिभ्रमण का भी उपयोग यही है कि वह आपके मरे हुए सेल्स को शरीर के बाहर निकालने के लिए माध्यम का काम करता है, धारा का काम करता है। वह मरे हुए हिस्सों को बाहर फेंकने में लगा रहता है। इस जगत् में भ्रांति भर पैदा होती है कि चीजें हैं। इस जगत् में कोई चीज क्षण भर भी वही नहीं है, जो थी। सब बदला चला जा रहा है। इस परिवर्तन को ऋषि ने कहा है अनित्यता।

इस जगत् को अनित्य कहने का कारण है, क्योंकि अगर हमें यह स्मरण आ जाए कि जगत् का स्वभाव ही अनित्य है, तो हम जगत् में कोई भी ठहरा हुआ मोह निर्मित न करें। अगर जगत् का स्वभाव ही अनित्य है, अगर सभी

चीजें बदल ही जाती हैं, तो हम चीजों को ठहराए रखने का आग्रह छोड़ देंगे। जवान फिर यह आग्रह न करेगा कि मैं जवान ही बना रहूँ, क्योंकि यह असंभव है। यह हो ही नहीं सकता। असल में जवानी सिर्फ बूढ़े होने की तरफ एक रास्ता है, और कुछ नहीं। जवानी सिर्फ बूढ़े होने की कोशिश है, और कुछ भी नहीं। जवानी बुढ़ापे के विपरीत नहीं, उसी की धारा का अंग है। जवानी दो कदम पहले की धारा है, बुढ़ापा दो कदम बाद की। उसी सरिता मे जवानी का घाट भी आता है, उसी सरिता में बुढ़ापे का घाट भी आ जाता है।

अगर हमे यह खयाल में आ जाए कि इस जगत् में सभी चीजें प्रतिपल मर रही हैं, तो हम जीने का जो पागल आग्रह है, वह भी छोड़ देंगे। क्योंकि जिसे हम जन्म कहते हैं, वह मृत्यु का पहला कदम है। असल में जिसे मरना नहीं है, उसे जन्मना नहीं चाहिए। उसके अतिरिक्त और कोई उपाय नही है। जन्मे, तो मरेंगे। जब जन्मे, उसी दिन मरने की यात्रा शुरू हो गई। द फस्ट स्टेप हैज बिन टेक्न। जन्म मृत्यु का पहला कदम है और मृत्यु जन्म का आखिरी कदम। अगर इसे प्रवाह की तरह देखेंगे, तो कठिनाई न होगी। अगर स्थिति की तरह देखेंगे, तो जन्म अलग है, मौत अलग है। जवानी अलग है, बुढ़ापा अलग है। लेकिन ऋषि कहता है, जगत् एक अनित्य प्रवाह है। यहाँ जन्म भी मृत्यु से जुड़ा है और जवानी भी बुढ़ापे से जुड़ी है। यहाँ सुख दुख से जुड़ा है। यहाँ प्रेम घृणा से जुड़ा है। यहाँ मित्रता शत्रुता से जुड़ी है। और जो भी चाहता है कि चीजों को ठहरा लूँ, वह दुख और पीड़ा में पड़ जाता है।

आदमी की चिन्ता यही है कि जहाँ कुछ भी नही ठहरता, वहाँ वह ठहराने का आग्रह करता है। अगर मुझे यश है, तो मैं सोचता हूँ कि मेरा यश ठहर जाए। अगर मेरे पास धन है, तो मैं सोचता हूँ कि मेरे पास धन ठहर जाए। मेरे पास जो भी है, मैं चाहता हूँ कि वह ठहर जाए। अगर मुझे कोई प्रेम करता है, तो मैं चाहता हूँ, यह प्रेम चिर हो जाए। सभी प्रेमी की यही आकांक्षा है कि प्रेम शाश्वत हो जाए। इसलिए सभी प्रेमी दुख में पड़ते हैं। क्योंकि इस जगत् में कुछ भी शाश्वत नहीं है, प्रेम भी नहीं है। यहाँ सब बदल जाता है। जगत् का स्वभाव बदलाहट है। इसलिए जिसने भी चाहा कि कोई चीज ठहर जाए, वह दुख में पड़ेगा, क्योंकि हमारी चाह से जगत् नहीं चलता। जगत् का अपना नियम है। वह अपने नियम से चलता है।

हम बैठ गए एक वृक्ष के नीचे और सोचने लगे कि यह हरा पत्ता सदा हरा रह जाए, तो हम मुश्किल में पड़ेंगे, क्योंकि पत्ते का कोई कसूर नहीं। इसमें वृक्ष का कोई हाथ नहीं। इसमें जगत् की व्यवस्था ने कुछ भी नहीं किया। हमारी चाह ही हमें दिक्कत मे डाल देती है कि पत्ता सदा हरा रह जाए। पत्ता तो हरा है ही, इसीलिए कि कल वह सूखेगा। उसका हरा होना सूखने की तरफ यात्रा है, सूखने की तैयारी है। अगर हम हरे पत्ते में सूखे पत्ते को भी देख लें, तब हमे पता चलेगा कि जगत् अनित्य है। अगर हम पैदा होते बच्चे में मरते हुए बूढ़े को भी देख लें, तब हमे पता चलेगा कि जगत् अनित्य है। अगर हम जगते हुए प्रेम मे उतरता हुआ प्रेम भी देख लें, तब हमे समझ मे आएगा कि जगत् अनित्य है। सब चीजें ऐसी ही हैं। लेकिन हम क्षण मे जीते हैं, क्षण को देख लेते हैं और उसको थिर मान लेते हैं, आगे-पीछे को भूल जाते हैं। इस आगे-पीछे को भूल जाने से बड़ा कष्ट, बड़ी चिन्ता पैदा होती है।

मनुष्य की चिन्ता का मूल आधार यही है कि जो रुक नहीं सकता, उसे हम रोकना चाहते हैं। जो बँध नहीं सकता, उसे हम बाँधना चाहते हैं। जो बच नहीं सकता, उसे हम बचाना चाहते हैं। मृत्यु जिसका स्वभाव है, उसे हम अमृत देना चाहते हैं। बस, फिर हम चिन्ता में पड़ जाते हैं। चिन्ता (एंग्जाइटी) यही है कि मैं जिसे प्रेम करता हूँ, वह प्रेम कल भी ठहरेगा या नहीं। कल जिसे मैंने प्रेम किया था, वह आज बचा है कि नहीं। कल जिसने मुझे आदर दिया था, वह आज भी मुझे आदर देगा कि नहीं। कल जिन्होंने मुझे भला माना था, वे आज भी मुझे भला मानेंगे कि नहीं! बस, चिन्ता यही है। इसलिए जब-जब दुनिया में पदार्थवाद का आग्रह बढ़ जाता है, तो चिन्ता बढ़ जाती है। पश्चिम अगर आज पूरब की अपेक्षा ज्यादा चिन्तित है, तो उसका और कोई कारण नहीं है।

पूरब में परेशानी ज्यादा है—भूख है, गरीबी है, अकाल है, बाढ़ है। पश्चिम में अकाल भी खो गया, बीमारी भी कम हो गई, उम्र भी लम्बी मालूम पड़ती है, धन भी ज्यादा है, सुविधा भी है, स्वास्थ्य भी है, लेकिन चिन्ता ज्यादा है। होना तो यही चाहिए था कि पश्चिम में चिन्ता कम हो जाती और पूरब में चिन्ता ज्यादा होती। गणित से तो यही लगता है कि ऐसा होना चाहिए था। पश्चिम में भुखमरी नहीं रही, बीमारी नहीं रही, सब

सुविधा पूरी हो गई। कोई आदमी काम न करे, तो भी जी सकता है। बीस-पच्चीस साल बाद पश्चिम में कोई काम नहीं करेगा, क्योंकि सारे यंत्र आटोमेटिक हुए चले जाते हैं और प्रत्येक मुल्क, जहाँ आटोमेटिक यंत्र काम करने लगेंगे, अपने विधान में एक नियम बना लेगा (जैसा हम कहते हैं कि स्वतन्त्रता व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है)। ठीक बीस साल के भीतर, कांस्टीट्यूशंस में यह सूत्र आ जाएगा कि बिना श्रम के धन प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है। जन्मसिद्ध अधिकार होना भी चाहिए, जब धन बहुत होगा, तो उसका क्या मतलब है? और जब धन मशीनें पैदा कर देंगी, तो आदमी बिना श्रम के धन पा सके, यह उसका जन्मसिद्ध अधिकार हो जाने वाला है। लेकिन चिन्ता बढ़ती चली जाती है।

मैं मानता हूँ कि जिस दिन मशीनें सारा काम कर देंगी, उस दिन आदमी मुश्किल में पड़ जाएगा (कम से कम पश्चिम में)। तब आदमी को बचाना मुश्किल हो जाएगा। कारण क्या है? कारण एक है कि पश्चिम की दृष्टि पदार्थ पर है, और वह सोचता है कि पदार्थ के जगत् में थिरता मिल जाए। वह थिरता मिल नहीं सकती। वह असंभव है।

ऋषि कहते हैं, जगत् अनित्य है। इसलिए जगत् में नित्य को बनाने की चेष्टा पागलपन है। अनित्यता की स्वीकृति समझ है, प्रज्ञा है। और व्यक्ति यह जान ले कि जगत् अनित्य है, सुनकर नहीं, पढ़कर नहीं; अनुभव की पाठशाला में जीकर सीख ले कि जगत् अनित्य है। चारों तरफ पाठशाला खुली है। सब तरफ अनित्यता है और आदमी अद्भुत है कि वह नित्य मानकर जी रहा है। कुछ भी नहीं बचता, सब बदल जाता है। फिर भी अन्धापन अद्भुत है। हम आँखें बन्द किए हुए बैठे हैं। जहाँ चारों तरफ प्रवाह चल रहा है, वहाँ हम सपने सँजोए बैठे हैं कि सब बच रहेगा, सब बच रहेगा। ऋषि कहता है, आँख खोलो और तथ्य को देखो। जगत् अनित्य है। उसमें जिसने जन्म लिया, वह स्वप्न के संसार-जैसा है।

स्वप्न और जगत् को साथ-साथ रखना भारतीय मनीषा की खोजों में से एक है। दुनिया में किसी ने भी ठीक-ठीक कहने की हिम्मत नहीं की है कि जगत् स्वप्न है—जस्ट ए ड्रीम। कहना मुश्किल भी है। कोई भी बता सकता है कि आप गलत कह रहे हैं। एक पत्थर उठाकर आपकी खोपड़ी पर मार दें, तो पता चल जाएगा कि जगत् स्वप्नवत् नहीं है। उसके लिए कोई बहुत

तर्क देने की जरूरत नहीं है। एक पत्थर उठाकर खोपड़ी पर मार देना काफी है। जो आदमी कह रहा था कि जगत् स्वप्नवत् है, वह लट्ठ लेकर आ जाएगा। खून बहने लगेगा, खोपड़ी में दर्द शुरू हो जाएगा। अगर जगत् स्वप्नवत् है, तो क्यों परेशान हो रहे हैं ? बड़े हिम्मतवर लोग थे, जिन्होंने कहा कि जगत् स्वप्नवत् है, और कहा तो कुछ जानकर कहा।

दो-तीन बातें खयाल में ले लेनी चाहिए। पहली बात तो यह कि स्वप्नवत् जब हम किसी चीज को कहते हैं, तो हमें ऐसा लगता है कि जो नहीं है। यह गलत है। स्वप्न भी है—ऐज मच ऐज ऐनीथिंग। स्वप्न भी है, उतनी ही जितनी कि और भी चीजें हैं। स्वप्न एक्जिस्टेंशियल है। स्वप्न नहीं है, ऐसा नहीं, स्वप्न भी है। स्वप्न का भी स्थान है। स्वप्न का भी होना है। स्वप्न का नॉन-एक्जिस्टेंस नहीं है, उसका अनस्तित्व नहीं है, वह भी है।

स्वप्न की एक खूबी यह है कि जब वह होता है, तो प्रतीत होता है कि सत्य है। कभी आपको स्वप्न मे पता चला है कि जो मैं देख रहा हूँ, वह स्वप्न है ? अगर किसी दिन आपको पता चल जाएगा, तो आप ऋषि हो गए। स्वप्न में पता चलता है कि जो मैं देख रहा हूं, वह सत्य है। हाँ, स्वप्न टूट जाता है, तब पता चलता है कि वह स्वप्न था। स्वप्न के भीतर कभी पता नहीं चलता कि वह स्वप्न है। अगर पता चल जाए, तो स्वप्न उसी वक्त टूट जाएगा। स्वप्न के चलने की अनिवार्य शर्त यही है कि आपको पता चले कि जो आप देख रहे हैं, वह सत्य है। नहीं तो स्वप्न नहीं चल सकता। स्वप्न के प्राण इसमें हैं कि जो हैं, वह सत्य है। रात बड़े एब्सर्ड सपने आदमी देखता है—बड़े बेहूदे स्वप्न, फिर भी शक नहीं आता।

लियो टाल्स्टाय ने लिखा है कि मैं एक ही सपना हजार दफे कम से कम देख चुका हूँ। जागता हूँ, तब मैं कहता हूँ, कैसा बेहूदा, यह हो कैसे सकता है, लेकिन जब मैं फिर सोता हूँ तो फिर किसी दिन वही सपना देखता हूँ, तो सपने में बिलकुल याद नहीं रहता। सपने में बिलकुल ठीक मालूम पड़ता है। लियो टाल्स्टाय ने लिखा है कि मैं एक सपना देखता हूँ कि एक बड़ा रेगिस्तान है और यही सपना बार-बार दोहराता है। उस रेगिस्तान में दो जूते चलते चले जा रहे हैं, सिर्फ जूते ! पैर नहीं हैं, आदमी नहीं है ! और टाल्स्टाय कहता है, मैं इतनी दफे देख चुका हूँ, फिर जब देखता हूँ, तो वह शक भी पैदा नहीं होता—बिलकुल ठीक लगता है कि जूते चल रहे हैं। सुबह जागकर बड़ी

बेचैनी होती है कि जूते चल कैसे सकते हैं, जब आदमी भीतर नहीं है। और मन में घबराहट भी होती है कि यह मामला क्या है, यह स्वप्न बार-बार दोहराता क्यों है। सपने चलते ही चले जाते हैं, अन्तहीन रेगिस्तान है और वे जूते हैं, और कोई भी नहीं है। और वे चलते चले जाते हैं। टाल्स्टाय जब बिलकुल घबड़ा जाता है उनको देखकर, तो नींद टूट जाती है। बहुत बार देखने के बाद भी जब फिर देखता है, तो फिर वह सत्य ही मालूम होता है।

जब स्वप्न में आप होते हैं, तो स्वप्न नहीं होता वह, वह सत्य ही होता है। अगर आपको स्मरण आ जाए कि स्वप्न है, तो उसी क्षण स्वप्न की फिल्म टूट जाएगी। चित्त एक सफेद पर्दा हो जाएगा और आप स्वप्न के बाहर आ जाएँगे। लेकिन ऋषि कहते हैं कि वह छोड़ो, वह तो स्वप्न था ही—जागकर जो सुबह दिखाई पड़ता है, वह भी स्वप्नवत् है। हम कहते हैं, यह तो कम-से-कम मत कहो। यह तो काफी सच मालूम पड़ता है। यह मकान, यह परिवार, यह मित्र, यह पत्नी, यह बेटे, यह धन—यह सब एकदम सत्य मालूम पड़ता है। इसको तो स्वप्न मत कहो!

ऋषि कहते हैं, एक और जागरण है—विवेक-लभ्यम्—वह जो विवेक से उपलब्ध होता है। अनॉदर अवेकनिंग—एक और जागरण है। जब तुम उसमें जागोगे, तब तुम पाओगे कि वह जो तुम जागकर देख रहे थे, वह भी एक स्वप्न था। स्वप्न स्वप्न है, यह जानने के लिए यह अवस्था बदलनी चाहिए, तभी तो कम्पेरिजन—तुलना—हो सकती है। रात सपना देखते हैं, सत्य मालूम होता है, सुबह जागकर पता चलता है, असत्य था। सुबह जागकर जिसे देखते हैं, ऋषि कहते हैं, हम एक और जागरण तुम्हें बताते हैं, वहाँ जागकर तुम्हें पता चलेगा, वह भी स्वप्नवत् था।

स्वप्नवत् कहने का अर्थ है, एक तुलना। यह नहीं है इसका मतलब कि सिर में लट्ठ मार देंगे, तो नहीं फूटेगा, खून नहीं बहेगा। सपने में भी सिर पर लट्ठ मारने से सिर टूट जाता है और खून बहता है—सपने में भी। सपने में भी कोई छाती पर चढ जाता है, छुरा भोंकने लगता है, तो छाती कँपने लगती है, रक्तचाप बढ़ जाता है, हृदय धड़कने लगता है और सपने से जागने के बाद भी थोड़ी देर तक धड़कता रहता है। पता भी चल जाता है, यह सब सपना था, कोई छाती पर चढ़ा नहीं, तकिया ही रखे हुए थे अपना। जाग

गए हैं, लेकिन अभी भी हृदय की धड़कन तेज है और खून की गति तेज है, रक्त-चाप बढ़ा हुआ है। सपने में कोई मर गया था—रो रहे थे जार-जार होकर। सपना टूट गया, पता चल गया कि जो मर गया वह सपने में था, लेकिन आँख में अभी भी आँसू बहाए चले जाते हैं। इतना गहरा घुस जाता है सपना भी! लेकिन पता चलता है, अवस्था-परिवर्तन पर, नहीं तो पता नहीं चलता। पता करने के लिए तुलना चाहिए।

आइन्स्टीन मजाक मे कहा करता था कि सारा जगत् सापेक्ष (रिलेटिव) है। मजाक मे तो कहता ही था, उसका अनुभव भी यही था कि जगत् एक रिलेटिविटी है, एक तुलना है। जब भी आप कुछ कहते हैं, तो उसका अर्थ है तुलना। सीधी कोई बात नही कही जा सकती है। आप कहते हैं, फलाँ आदमी लम्बा है, इसका कोई मतलब नही, जब तक आप यह नही बताते, किससे लम्बा। अन्यथा यह बिलकुल बेमानी है, इस वक्तव्य में कोई अर्थ नही। आप कहते हैं, फलाँ आदमी गोरा है, यह वक्तव्य बिलकुल बेकार है, जब तक आप यह नही बताते, किससे।

मुल्ला नसरुद्दीन रास्ते से निकल रहा है। एक मित्र मिल गया है। उसने पूछा कि ठीक तो हो नसरुद्दीन? नसरुद्दीन ने पूछा, विथ हूम इन कम्पेरीजन? किसकी तुलना में पूछ रहे हो? वह आदमी तो हैरान हुआ, क्योंकि साधारण-सा सवाल था कि कैसे हैं। कहना था अच्छा हूँ, लेकिन नसरुद्दीन ने कहा, किसकी तुलना में? क्योंकि गाँव में मुझसे भी ज्यादा अच्छी हालत में लोग हैं, मुझसे भी बुरी हालत में लोग हैं। किसकी तुलना मे पूछ रहे हो?

सारे वक्तव्य इस जगत् मे तुलनात्मक हैं, रेलेटिव हैं, सापेक्ष हैं। जब हम कहते हैं, यह आदमी मर गया, तब भी असल में हमें पूछ लेना चाहिए, किस हिसाब से? क्योंकि मुर्दे के भी नाखून बढ़ते हैं और बाल बड़े होते हैं। कब्र में रखे हुए मुर्दे के नाखून बड़े हो जाते हैं और बाल बड़े हो जाते हैं। सिर घुटा कर रखो, तो बाल बढ जाते हैं। अगर बाल बढ़ने को कोई जीवन का लक्षण समझता हो, तो यह आदमी मरा नहीं है। अगर तब आप सोचते हों कि इसके शरीर में प्राण है, तो वह मरा हुआ नही है।

एक-एक आदमी के शरीर में कोई सात करोड़ जीवाणु हैं। जब आप मरते हैं, तो जीवाणुओं की संख्या एकदम बढ़ जाती है। अगर उनके प्राण

का हम हिसाब रखें, तो यह आदमी पहले की अपेक्षा और भी ज्यादा जीवन से भरा है। पहले सात ही करोड़ थे, मरते ही सड़ना शुरू होता है, जीवाणु और बढ़ जाते हैं। अगर हम उन जीवाणुओं से पूछें कि तुम जिस बस्ती में रहते थे, वह मर गई, तो वे कहेंगे, क्या कह रहे हैं! बस्ती बढ़ गई, मर नहीं गई। संख्या बढ़ रही है जीवन की। उन कोष्ठों को, जो आपके भीतर हैं, उन्हें आपका तो पता ही नहीं।

गुरजिएफ एक बहुत अद्भुत बात कहा करता था। वह कहता था, यह हो सकता है कि जैसे हमारे शरीर में सात करोड़ जीवित कोष्ठ बसे हुए हैं और उन्हें हमारा कोई पता नहीं, ऐसा हो सकता है कि मनुष्य का पूरा समाज भी किसी एक और बृहत्तर शरीर में, सिर्फ एक जीव-कोष्ठ की तरह बसा हो और हमें उस बृहत्तर शरीर का कोई पता नहीं। इसकी सम्भावना है। गुरजिएफ यह भी कहा करता था (और वह इन पचास सालों में बहुत समझदार लोगों में से एक था) कि यह भी हो सकता है कि जैसे जीव-कोष्ठ हमारे भीतर बसे हैं, तो "वी आर जस्ट फूड टु दोज सेल्स"। वह जो हमारे भीतर कोष्ठ हैं, उनके लिए हम भोजन से ज्यादा नहीं हैं। हम उनके लिए क्या हैं, सिर्फ भोजन। वे हमारा भोजन करते हैं और जीते हैं। गुरजिएफ कहा करता था, यह हो सकता है कि हम इस पृथ्वी पर जहाँ बसे हुए हैं (और इस पृथ्वी को तो हम भोजन से ज्यादा कुछ समझते नहीं), हो सकता है, हम सिर्फ एक पृथ्वी की बड़ी काया में जीव-कोष्ठ हों और हमें इस पृथ्वी की आत्मा का कोई भी पता न हो, हमें इस पृथ्वी के व्यक्तित्व का और चेतना का कोई भी पता न हो।

गुरजिएफ यह भी कहता था कि हर चीज किसी के लिए भोजन होती है, तो आदमी के साथ अपवाद क्यों हो? जब हर चीज किसी के लिए भोजन है, तो आदमी भी किसी का भोजन होना चाहिए। वह तो बहुत मजेदार बात कहता था। वह कहता था, आदमी चाँद का भोजन है। इधर जब आदमी मरता है, तो हम समझते हैं मर गया है, पर चाँद उसका भोजन कर लेता है। वह तो मजाक में कहता था। लेकिन यह बात सच हो सकती है, क्योंकि इस जगत् में सभी चीजें भोजन हैं। फल लगता है वृक्ष पर, तो आपका भोजन बन जाता है। एक जानवर दूसरे जानवर का भोजन कर लेता है, तो आदमी किसी और बृहत्तर जीवन का

भोजन तो नहीं है? किस हिसाब से हम कह रहे हैं, इस पर सब निर्भर करेगा। सारे वक्तव्य सापेक्ष हैं। इस सापेक्षता से भरे हुए जगत् में कोई चीज नित्य नहीं हो सकती, ऐब्सोल्यूट नहीं हो सकती। सब बदल जाता है।

आइन्स्टीन कहता था कि अगर हम सारे के सारे लोग एक साथ लम्बे हो जाएँ, सारी चीजें एक साथ लम्बी हो जाएँ, जैसे मैं छः फुट का हूँ और मैं जिस वृक्ष के पास खड़ा हूँ, वह साठ फुट का है, यदि मैं बारह फुट का हो जाऊँ, वृक्ष एक सौ बीस फुट का हो जाए, पहाड़ भी दुगना लम्बा हो जाए, आसपास जितना है, वह सब एक क्षण मे दुगना हो जाए किसी जादू के असर से, तो किसी को भी पता नहीं चलेगा कि कुछ भी बदलाहट हो गई, क्योंकि अनुपात थिर रहेगा, प्रोपोर्शन वही रहेगा। पता ही नहीं चलेगा। पता तभी चल सकता है, जब कि मैं लम्बा हो जाऊँ, वृक्ष उतना ही रहे, पहाड उतना ही रहे, पास में खड़ा हुआ आदमी उतना ही रहे। तब पता चलेगा, नहीं तो पता नहीं चलेगा। पता ही चलता है इसलिए कि अनुपात डाँवाडोल हो जाता है, नहीं तो पता नहीं चलता।

हमारे बीच जो लोग विवेक में जाग जाते हैं, उनको विवेक में यह पता चलता है। बडी अड़चन हो जाती है उन्हें कि सारे लोग सोए हुए चल रहे हैं, सपने में जी रहे हैं। वह उन्हें पता चलता है, हमें पता नहीं चलता है। हम सब एक-से सपने में जी रहे हैं। इसलिए हमारे बीच जब भी कोई व्यक्ति जागता है, तो हमें बड़ी बेचैनी पैदा होती है। हम घसीट-घसीटकर उसको भी सुलाने की पूरी कोशिश करते हैं कि तुम भी सो जाओ। हम उसे भी समझाते हैं कि सपने बड़े मधुर हैं, बड़े मीठे हैं।

बुद्ध घर छोड़कर गए। अपने पिता का राज्य छोड़कर चले गए, क्योंकि पिता के राज्य में उपद्रव होगा। आज नहीं, कल मेरा पीछा किया जाएगा। तो वे पड़ोसी के राज्य में चले गए। पड़ोसी सम्राट् को पता चला कि मित्र का बेटा संन्यासी हो गया है, तो उसे बड़ी पीड़ा हुई। वह खोज-पता लगाकर आया। वह बुद्ध के पास बैठा और उसने कहा, देखो, अभी तुम जवान हो, अभी तुम्हें जीवन का अनुभव नहीं। यह तुम क्या पागलपन कर रहे हो? कोई फिक्र नहीं, अगर पिता से नाराज हो, या कोई अड़चन है, मेरे घर चलो। अपनी बेटी से तुम्हारा विवाह कर देता हूँ और आधा राज्य दे देता हूँ। बुद्ध ने कहा, मैं यही सोचकर वहाँ से भागा कि कोई मेरा पीछा न करे। आप

यहाँ भी मौजूद हैं। जैसा कि कहना चाहिए था, उस सम्राट् ने कहा, तू अभी नासमझ है, अभी तुझे जिन्दगी का कोई पता नहीं है। वापस लौट चलो। बुद्ध जहाँ-जहाँ गए, वहीं पीछा किया गया। कोई न कोई समझदार जरूर आ जाता और कहता कि चलो, सो जाओ। हम इन्तजाम कर देते हैं।

जब भी कोई आदमी जागने की दिशा में चलेगा, चारों तरफ से पंजे पड़ जाएँगे, आक्टोपस की तरह। सब तरफ से हाथ उसको पकड़ने लगेंगे कि सो जाओ। सब तरह के प्रलोभन इकट्ठे हो जाएंगे, वे कहेंगे सो जाओ। जब भी कोई आदमी हमारे बीच जागता है, तो हमें बड़ी बेचैनी होती है, क्योंकि वह नई भैल्यूज, नए मूल्य हमारे बीच में उतारना शुरू कर देता है। वह कहता है, तुम सपने मे हो। वह कहता है, तुम सोए हो। वह कहता है, तुम होश मे नहीं हो। वह कहता है, यह अनित्य है संसार। यह सब खो जाने वाला है। यह सब मिट जाने वाला है। ऐसे किसी आदमी को, जो मकान बना रहा है, कहो कि यह संसार अनित्य है, तो उसकी जान निकाल ले रहे हो। वह मानने को राजी नहीं हो सकता कि जो इतने खँडहर पड़े हैं, ऐसा ही उसका मकान भी खँडहर की तरह पड़ा रह जाएगा। वह मानने को राजी नहीं हो सकता।

मैं दो-तीन वर्ष पहले माण्डू मे था। एक साधना-शिविर वहाँ थी। पूछा, तो पता चला कि माण्डू की आबादी सिर्फ छह सौ साल पहले सात लाख थी और अब, मोटर स्टैंड पर जो तख्ती लगी है, उसमे नौ सौ तेरह है। मैं बहुत हैरान हुआ। सात लाख की आबादी का नगर, और सात लाख की आबादी के खंडहर फैले पड़े हैं। एक-एक मस्जिद है, जिसमें दस-दस हजार लोग एक साथ नमाज पढ़ सकें। आज तो दस आदमी भी पढ़ने वाले नहीं। इतनी बड़ी-बड़ी धर्मशालाएँ हैं कि दस-दस हजार लोग इकट्ठे ठहर सकें। नौ सौ तेरह आदमी हैं उस बस्ती में। चारों तरफ खँडहर फैले हुए हैं, लेकिन जो आदमी उस बस्ती में अपना झोंपड़ा बना रहा है, वह यह नहीं देखता कि पीछे बड़े भारी महलों का खँडहर पड़ा है। वह इस झोंपड़े को इसी रस से बना रहा है, मानों वह सदा बना रहेगा।

जागा हुआ आदमी आपको वे बातें याद दिलाने लगता है, जो दुखद मालूम पड़ती हैं। दुखद इसलिए मालूम पड़ती हैं कि उन बातों को समझकर आप जैसे जीते थे, वैसे ही जी नहीं सकते। आपको अपने को बदलना ही

पड़ेगा और बदलाहट कष्ट देती मालूम पड़ती है। हम बदलना नहीं चाहते। हम जैसे हैं, वैसे ही रहना चाहते हैं, क्योंकि बदलने में श्रम पड़ता है और जैसे हैं, वैसे बने रहने में कोई श्रम नहीं है।

ऋषि कहते हैं, जगत् अनित्य है। उसमें जिसने जन्म लिया, उसने स्वप्न में जन्म लिया, स्वप्न के संसार-जैसा, आकाश के हाथी-जैसा। जैसे कभी आकाश में बादल घिर जाते हैं और आप जो चाहें, बादल में बना लें, चाहे हाथी देख लें। छोटे बच्चे चाँद मे देखते रहते हैं कि बुढ़िया चर्खा कात रही है। आपकी मर्जी, आप जो प्रोजेक्ट कर लें। चाहें तो आकाश में रथ चलते देखें, हाथी देखें, सुन्दरियाँ देखें, अप्सराएँ देखें, जो आपको देखना हो। बादलों में कुछ भी नहीं है। आपकी आँखों मे सब कुछ है। बादल तो सिर्फ निपट बादल हैं। आप उनमें जो भी बना लें।

पश्चिम में मनोविज्ञान ने इस प्रोजेक्शन, इस प्रक्षेपण के बाबत बहुत-सी नई खोजें की हैं। मनोविज्ञान को जो थोड़ा भी समझते हैं, उन्होने अगर मनोविज्ञान की किताबें देखी हों, तो वहाँ स्याही के कई धब्बे भी चित्रों मे देखे होंगे। मनोवैज्ञानिक उन धब्बों का उपयोग करते हैं—सिर्फ स्याही के धब्बे, जिनमें कुछ नहीं हैं, कुछ बनाए नहीं गए, सिर्फ स्याही के धब्बे हैं, जैसे कि ब्लॉटिंग पेपर पर बन जाते हैं। मनोवैज्ञानिक उन्हें मरीज को दे देते हैं और उससे कहते हैं, देखो इसमें किसका चित्र है। मरीज उसमें कोई चित्र खोज लेता है, तो उसकी वह खोज मरीज के बाबत खबर देती है। वास्तव में तो वह चित्र कुछ भी नहीं है।

कहते हैं, मुल्ला नसरुद्दीन भी एक वैज्ञानिक के पास गया। उसका मन बेचैन था, अशान्त था। सलाह लेने गया था। तो मनोवैज्ञानिक ने जानना चाहा कि उसकी बेचैनी, अशान्ति जिस मन से पैदा हो रही है, उसके बीज क्या हैं। उसने उसे कई धब्बों के चित्र दिए। एक धब्बे का चित्र दिया और कहा कि जरा गौर से देखो, क्या दिखाई पड़ता है? उसने कहा, एक स्त्री मालूम पड़ती है। मनोवैज्ञानिक उत्सुक हो गया, क्योंकि रास्ते पर बात पकड़ गई। आदमी की अधिक बीमारी स्त्री, स्त्री की अधिक बीमारी पुरुष है। और तो कोई ज्यादा बीमारियाँ नहीं हैं। मनोवैज्ञानिक ने सोचा कि पकड़ा गया, रास्ते पर है आदमी, ठीक जवाब दिया है। दूसरा ब्लॉटिंग पेपर धब्बों वाला देकर पूछा, क्या है? मुल्ला ने कहा, यह स्त्री तो बिलकुल नग्न मालूम

पड़ती है। मनोवैज्ञानिक आश्वस्त हुआ कि बिलकुल ट्रैक पर है आदमी, जल्दी रास्ता निकल आएगा। तीसरा दिया। पूछा, क्या मालूम पड़ता है ? नसरुद्दीन ने कहा, कहना पड़ेगा ? यह स्त्री कुछ न कुछ गड़बड़ काम कर रही है— समथिंग नैस्टी। मनोवैज्ञानिक ने कहा, तुम्हारी बीमारी पकड़ में आ गई। तुम्हारे दिमाग में क्या चल रहा है, वह मुझे पता चल गया। नसरुद्दीन ने कहा, मेरे दिमाग में ? यह चित्र तुम्हारे हैं कि मेरे ? यह तुमने बनाए हैं कि मैंने ? तुम्हारा दिमाग खराब मालूम पड़ता है। आज तो मैं जल्दी मे हूँ, कल फिर आऊँगा। लेकिन, 'कैन यू लेंड मी दिस पिक्चर फॉर ए डे ?' क्या एक दिन के लिए यह चित्र उधार दे सकते हो ? जरा रात को देखेंगे और मजा लेंगे।

आकाश में देखे गए हाथियों-जैसा है यह ससार। खाली बादल है, स्याही के धब्बे। उनमें जो हम देखना चाहें, वह देख लेते हैं। जो हमें दिखाई पड़ता है, वह है नही। पर हम उसे ही देखते हैं। वह हम अपने ही भीतर से फैलाते हैं। वह हमारे ही मन का फैलाव है। हम पर ही निर्भर है सब। जिस जगत् में हम रहते हैं, वह हमारी सृष्टि है, हमारा सृजन है। हमे उस जगत् का तो कोई पता ही नही है, जो हमारे मन के पार, हमसे भिन्न, हमारे सृजन के बाहर है। वह तो केवल उसे ही पता चलता है, जिसका मन मिट जाता है। क्योंकि जब तक मन है, तब तक प्रोजेक्टर (प्रक्षेपण प्रणाली) है। वह भीतर से काम करता रहेगा। एक व्यक्ति के चेहरे में आप सौंदर्य देख लेते हैं। आपको पता है कि उसी के चेहरे मे कुरूपता देखने वाले लोग मौजूद हैं ? एक व्यक्ति में आप सब गुण देख लेते हैं। आपको पता है कि उसके भी दुश्मन हैं और दुर्गुण देखने वाले भी मौजूद हैं ? जो आप देख रहे हैं वह व्यक्ति तो सिर्फ निमित्त है, आकाश के बादलों-जैसा। जो आप देख रहे हैं, वह आपका फैलाव है। फिर रोज दुख होता है, क्योंकि वह व्यक्ति जैसा है वैसा ही है। आपके फैलाव के अनुसार जी नही सकता। अब जो आपने कुछ मान रखा है, वह आज नहीं, कल टूटेगा। फिर झंझट शुरू हो जाएगी, क्योंकि आप अपेक्षा करते हैं।

एक आदमी मुस्कुरा कर मेरे पास आता है, प्रशंसा की बातें करता है। मैं कहता हूँ, बहुत भला आदमी है। फिर रात को वह मेरे पैसे लेकर गायब हो जाता है, मैं सोचता हूँ कि अजब आदमी है, ऐसा काम क्यों किया। अब

उसकी मुस्कुराहट, उसकी प्रशंसा का क्या हुआ ? मैंने कुछ आरोपित कर लिया। अपेक्षा शुरू हो गई। उस आदमी से मैं अपेक्षा नहीं करता था कि वह चोरी करेगा। चोरी वह आदमी करेगा, यह आदमी के भीतर की बात है कि वह क्या करेगा। बादल में आपने हाथी देखा, कितनी देर तक वह हाथी रहेगा, कहना मुश्किल है। थोड़ी देर में बादल बिखरेगा, कुछ और बन जाएगा। तब आप रोते-चिल्लाते रहेंगे कि मैंने तो हाथी देखा था, वह बहुत धोखा हो गया। सब हमारी अपेक्षाएं हमें धोखे में डाल देती हैं। क्योंकि वह आदमी तो वही है, जो है। हम कुछ सोच लेते हैं। और फिर हम परेशानी में पड़ते हैं क्योंकि वैसा वह सिद्ध नहीं होता। इसलिए जब तक मन है, तब तक हमें गलत आदमी ही मिलते रहेंगे, क्योंकि हम गलत देखते ही रहेंगे। हम वह देखते रहेंगे, जो वहां है ही नहीं।

यह जो हम चित्त का जाल फैला लेते हैं, यही हमारा स्वप्नवत् संसार है। मन संसार है। मन के पार उठ जाना संसार के पार उठ जाना है। मन स्वप्न है, मन के पार उठ जाना स्वप्न के पार उठ जाना है।

ऋषि कहता है कि यह देह आदि समुदाय मोह के गुणों से युक्त हैं। ये सब रस्सी मे भ्रांति से कल्पित किए गए सर्प के समान मिथ्या है (तद्रज्जु स्वप्नवत् कल्पितम्)। जैसे राह पर पड़ी हो कोई रस्सी और कोई सांप देख ले। कठिन नही है सांप देखना रस्सी मे। भयभीत आदमी तत्काल देख लेता है। भयभीत आदमी सांप के लिए तैयार रहता है कि कही दिख जाए। रस्सी दिखी, कि वह भागा। लेकिन रस्सी में भी सांप दिखे, तो दौड़ तो लगवा ही देता है, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। पसीना तो छूट ही जाता है। छाती तो धड़कने ही लगती है। घबड़ाहट तो फैल ही जाती है। हाथ-पैर भी कंपने ही लगते हैं। रस्सी मे देखा गया सांप भी काम तो वही कर देता है, जो असली सांप करता है। क्या फर्क है ? कोई फर्क नहीं है, जहां तक आपका सम्बन्ध है। रस्सी का जहां तक सम्बन्ध है, वहां तक रस्सी बेचैन हो सकती है कि यह आदमी कैसा है, देखकर भाग रहा है। हम सिर्फ रस्सी हैं।

मुल्ला नसरुद्दीन गांव के बाहर जा रहा था। मित्रों ने कहा, उस रास्ते से न गुजरो। वहां डाकेजनी चलती है। रास्ता निर्जन हो गया है, कोई जाता नहीं। लेकिन जाना जरूरी था। काम कुछ ऐसा था कि मुल्ला ने कहा,

जाना तो पड़ेगा ही। लेकिन ज्यादा मैं कुछ लेकर नहीं जा रहा हूं। मैं और मेरा गधा। हम दोनो जा रहे हैं। पर उन लोगों ने कहा, गधा भी छीना जा सकता है। एक मित्र ने तलवार दे दी और कहा कि तुम तलवार ले जाओ, ताकि मौका आ जाए तो काम पड़े। नसरुद्दीन तलवार लेकर चला। डरा हुआ तो था ही कि कोई गधा न छीन ले। आदमी को यह डर कम होता है कि खुद न मर जाए। ज्यादा डर होता है कि उसका गधा न छिन जाए, मकान न छिन जाए, धन न छिन जाए। यह न हो जाए, वह न हो जाए। खुद के खोने का इतना डर नहीं होता, क्योंकि खुद की कीमत का कोई पता नहीं होता। मकान की कीमत का पक्का पता है, गधे की कीमत का पक्का पता है।

नसरुद्दीन अपनी नंगी तलवार लिये हुए बिलकुल तैयार है कि कोई हमला करे। देखा कि दूर से एक आदमी चला आ रहा है। समझ गया कि अब आई मुसीबत। रास्ता निर्जन है, कोई राहगीर निकलता नही। वह राहगीर तो हो नही सकता, डाकू ही हो सकता है। नसरुद्दीन के हाथ में नंगी तलवार देखकर उस आदमी ने भी अपनी तलवार खींच कर निकाली, क्योंकि वह भी डरा हुआ था। गाँव वालों ने उससे भी कहा था, तलवार ले जा, रास्ता खतरनाक है, निर्जन है। जब उसने तलवार निकाली, तो नसरुद्दीन ने कहा भाई, ठहर। मेरे पास दो चीजें हैं, यह गधा और एक तलवार। तू क्या चाहता है, लूट ले। हम खुद ही तुझे दिए देते हैं। उस आदमी ने देखा कि मुफ्त कुछ मिल रहा है, तो उसने सोचा, तलवार मँहगी चीज है। कहा, गधा तुम्हीं रखो, तलवार मुझे दे दो। नसरुद्दीन ने तलवार दे दी। जब घर वापस लौटा, तो मित्र ने पूछा, ठीक रहा, कोई दिक्कत तो नही आई? नसरुद्दीन ने कहा, तलवार बड़ी काम आई। पूछा गया कि तलवार कहाँ है? उसने कहा, वह तो काम आ गई। वह आदमी गधा छीनने को बिलकुल तैयार था, तो मैंने तलवार उसको देकर अपना गधा बचा लिया।

प्रोजेक्शंस से चौबीस घंटे हम वह देख रहे हैं, जो हम देखना चाहते हैं। रस्सियों में साँप देख रहे हैं। प्रोजेक्शन्स उलटे भी होते हैं। साँपों में भी रस्सी देखी जा सकती है। तुलसीदास की कहानी का पता सबको है। ऐसा नहीं कि हम रस्सी मे ही साँप देखते हैं, हम साँप में भी रस्सी देख लेते हैं। वक्त-वक्त की बात है। मन के प्रक्षेपण का सवाल है। तुलसीदास

भागे हुए चले जा रहे हैं पत्नी से मिलने। तीन दिन हो गए हैं। तीन दिन से नहीं मिले हैं, बड़े बेचैन हैं। कथा कहती है कि वे नदी में उतर गए। बाढ़ आई हुई नदी, बर्षा के दिन। एक लाश का सहारा लेकर, जो नदी में बह रही थी, पार हुए। यह सोच कर कि कोई लकड़ी का टुकड़ा बहा जा रहा है, उसके सहारे पार हो गए। लाश दिखाई न पड़ी होगी, पानी में सड़ गई लाश से दुर्गन्ध न आई होगी। पत्नी की सुगन्ध कितनी भरी होगी मन में कि लाश की दुर्गंध बाहर रह गई। पत्नी से मिलने की आतुरता इतनी तीव्र रही होगी कि क्या है हाथ में, इसे देखने की फुर्सत न मिली होगी। सामने के दरवाजे से तो न जा सकते थे, क्योंकि अभी तीन ही दिन तो पत्नी को अपने मायके गए हुए थे। लोग क्या कहते? पीछे के रास्ते से मकान मे घुसे। देखा रस्सी लटकी है। पकडा और चढ़ गए। वह रस्सी नही थी, सांप लटकता था।

मन कल्पना ही करता है। कल्पना ही मन की क्षमता है। इसलिए मन मे कभी सत्य नही जाना जा सकता। मन से केवल कल्पनाएँ ही की जा सकती है। इस मन के द्वारा जो भी हम जानते हैं, वह रस्सी में देखे गए सांप की भांति है। इसलिए जो नही है, वह दिखाई पड़ता है। जो नहीं है, वह सुनाई पड़ता है, जो नही है, उसका स्पर्श होता है। और हम जिए चले जाते हैं अपने ही भ्रमों को पाल-पोस कर, अपनी चारो तरफ अपना ही भ्रम-जाल खड़ा करके हम जिए चले जाते हैं। सत्य से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं हो पाता।

ऋषि कहते हैं, संन्यासी तो उसकी खोज पर निकला है जो है; वह नहीं, जो उसका मन कहता है। दो में से एक ही चुनना पड़ेगा। अगर जो है, 'दैट व्हिच इज, उसे जानना है, तो मन को छोड़ना पड़ेगा और अगर मन को पकड़ना है, तो कल्पनाओं के जाल के अतिरिक्त कुछ भी कभी नहीं जाना जाता।

विष्णु, ब्रह्मा आदि सैकड़ों नाम वाला ब्रह्म ही लक्ष्य है। लक्ष्य है सत्य। उसे ही पाना है, 'जो है' क्योंकि 'जो है' उसे पाकर ही दुख का विसर्जन है, चिन्ता का अन्त है, पीड़ा की समाप्ति है, दुख का निरोध है। 'जो है', उसे जानकर ही मुक्ति है, स्वतंत्रता है। 'जो है', उसे जानकर ही सत्य के साथ अमृत का अनुभव है और मृत्यु की समाप्ति है। लेकिन 'जो है,' उसके नाम हो सकते

हैं। होंगे ही। बिना नाम दिए हमारी बात चलनी मुश्किल हो जाती है। इसलिए ऋषि कहता है कि 'शताभिधान लक्ष्यम्।' वह जो अनंत-अनंत नाम वाला है, सैकड़ों नाम वाला है, कोई उसे ब्रह्म कहता है, कोई उसे ब्रह्मा कहता है, कोई इसे विष्णु कहता है, कोई राम कहता है, कोई रहीम कहता है। कोई कुछ और कहता है, कोई कुछ और कहता है। वह जो सैकड़ो नाम वाला सत्य है, नाम तो उसका कोई भी नही है, इसीलिए तो सैकडो नाम हो सकते हैं।

ध्यान रखें, अगर उसका कोई एक नाम हो, तो फिर उसके सैकड़ों नाम नही हो सकते। नाम उसका कोई भी नही है इसलिए किसी भी नाम से काम चल जाता है। वह तो अनाम है। लेकिन मनुष्यो ने, अलग-अलग भाषाओं में, अलग-अलग युगों मे, अलग-अलग अनुभवो में बहुत-बहुत नाम उसे दिए हैं। इंगित उनका एक है। इशारा एक है। शब्द ही अलग-अलग हैं, लेकिन बड़ा उपद्रव पैदा हुआ। बडा उपद्रव पैदा हुआ है, क्योकि नाम के आग्रह इतने गहन हो गए कि जिसका नाम था, उसकी हमें चिन्ता हो न रही। राम वाला उससे लड़ रहा है, जो कहता है, उसका नाम रहमान है। तलवारें चल जाती हैं। अल्लाह वाला उसकी हत्या कर रहा है, जो कहता है, उसका नाम भगवान् है। असल में मन मे जीने वाले लोग झूठे परमात्मा भी खड़े कर लेते हैं, रस्सी मे साँप देखने लगते हैं, नाम में ही सत्य देखने लगते है।

नाम सिर्फ नाम हैं; इशारा हैं। और सब इशारे बेकार हो जाते हैं, जब वह दिख जाए, जिसकी तरफ इशारा हैं। अगर मैं उँगली उठाऊँ और कहूँ कि वह रहा चाँद और आप मेरी उँगली पकड़ लें और कहें कि मिल गया चाँद, तो कैसी झझट हो जाएगी? उँगली बेकार है। इशारा पर्याप्त है। उँगली छोड़ दें, चाँद को देखें। चाँद को कोई देखता नही, उँगली पहले दिखाई पडती है। नाम पकड़ में आ जाते हैं। लेकिन इस भूमि पर जिन्होंने जाना, उन्होने बहुत पहले ही नामों के खतरे की घोषणा की। वह खतरा अभी भी दूसरे लोग नहीं समझ पाए। उन्होंने निरन्तर यह कहा कि उसके सैकड़ो नाम हैं। सब नाम उसके हैं। कोई भी नाम दे दो, चलेगा। वैसे कोई भी नाम पर्याप्त नही है और कोई भी नाम कामचलाऊ है, सहयोग दे सकता है।

यही वजह हुई कि हिन्दू धर्म कन्वर्टिंग रिलीजन नहीं हो सका। यही वजह बनी कि हिन्दू धर्म दूसरे धर्म के व्यक्ति को अपने धर्म में बदलने की चेष्टा से

नहीं भर सका। कोई कारण नहीं था। क्योंकि जब सभी नाम उसके हैं, तो जो अल्लाह कहता है, वह भी वही कहता है, जो राम कहने वाला कहता है। जो कुरान से उसकी तरफ इशारा लेता है, वह भी वही इशारा लेता है, जो वेद से उसकी तरफ इशारा लेता है। इसलिए कुरान को प्रेम करने वाले को वेद की तरफ लाने की चेष्टा व्यर्थ है। अगर कुरान काम कर रहा है, तो पर्याप्त है। काम उसी का हो रहा है। अगर बाइबिल काम करती है, तो काम पर्याप्त है। हिन्दू-दृष्टि से ज्यादा उदार दृष्टि पृथ्वी पर पैदा नहीं हो सका। लेकिन वही हिन्दुओं के लिए मुसीबत बन गई। बन ही जाने वाली थी। इस सोए हुए जगत् में जागे हुएलोगों की बात अगर सोए हुए लोग उपयोग में लावें, तो बहुत मुसीबत बन सकती है।

सभी नाम उसके हैं। कोई संघर्ष नही है, कोई विरोध नही है। सभी इशारो से काम चल जाएगा। ऋषि कहता है, ब्रह्मा कहो, विष्णु कहो, शिव कहो, जो भी कहो, लक्ष्य वह एक है, जो है। उसे जानना है, जो परिवर्तित नही होता, जो शाश्वत है, नित्य है। जो कल भी वही था, आज भी वही है, कल भी वही होगा। जो न नया है, न पुराना है, क्योंकि जो कल नया है, वह पुराना पड जाएगा। जो पुराना है, वह कल नया था। जो परिवर्तित होता है, उसे हम कह सकते हैं—नया, पुराना। लेकिन जो नित्य है, वह न नया है, न पुराना। वह पुराना नही पड़ सकता, इसलिए उसे नया कहने का कोई अर्थ नही। वह सिर्फ है।

वह जो 'है' मात्र है, उसे जानना ही लक्ष्य है। लेकिन उसे जानने के लिए हम जो कल्पनाएँ फैलाते हैं, उन्हें तोड देना पड़ेगा, गिरा देना पड़ेगा। हम सब भरी हुई आँखों से देखते हैं जगत् को, खाली आँखों से देखना पड़ेगा। हम सब भरे हुए मन से देखते हैं जगत् को, खाली मन से देखना पड़ेगा। हम धारणाएँ लेकर पहुँचाते हैं जगत् के पास (विथ कंसेप्शस) और उन धारणाओं के पर्दे में से देखते हैं। फिर जगत् वैसा ही दिखाई पड़ने लगता है, जैसा धारणाएँ उसे बताती हैं। अगर उसे देखना है—अस्तित्व को, सत्य को, जैसा है, तो शून्य होकर जाना पड़ेगा, मौन होकर जाना पड़ेगा, खाली होकर जाना पड़ेगा, नग्न होकर जाना पड़ेगा। धारणाओं के सारे वस्त्र त्याग करने पड़ेंगे। विचारों के सारे वस्त्र अलग कर देने पड़ेंगे। निर्विचार और मौन और शून्य जो खड़ा हो जाता है, वह सत्य के अनुभव को

उपलब्ध हो जाता है—उस सत्य को, जो नित्य है, शास्वत है, सनातन है।

और अंतिम सूत्र में ऋषि कहता है—अंकुशो मार्गः। अंकुश ही मार्ग है। किस बात पर अंकुश ? इस मन पर—जो फैलाव करता है, जो प्रक्षेपण करता है—इस पर अंकुश ही मार्ग है। इस मन को रोकना, इस मन को ठहराना, इस मन को न चलने देना, इस मन को गतिमान न होने देना, इस मन को सक्रिय न होने देना ही मार्ग है। बड़े छोटे सूत्रों में बड़ी अमृत सूचनाएं हैं। अंकुशो मार्गः। इतना छोटा-सा, दो शब्दों का सूत्र। इस मन पर—यह जो स्वप्नों को जन्माने वाला हमारे भीतर छिपा हुआ मन है, इस पर अंकुश ही मार्ग है। धीरे-धीरे इस मन को विसर्जित कर देना ही सिद्धि है।

एक जैन फकीर हुआ लिंची। जब वह अपने गुरु के पास गया, तो उसने कहा, मैं मन को कैसा बनाऊं कि सत्य को जान सकूं,। गुरु बहुत हंसने लगा। उसने कहा, मन को तू कैसा भी बना, सत्य को तू न जान सकेगा। तो उसने पूछा कि क्या मैं सत्य को जान ही न सकूंगा ? गुरु ने कहा, यह मैंने नहीं कहा। सत्य को तू जान सकेगा, लेकिन कृपा कर मन को छोड़। नो-माइण्ड इज मेडिटेशन। मन का न हो जाना ध्यान है। तू मन को बनाने की कोशिश मत कर कि ऐसा बनाऊँ, अच्छा बनाऊँ, बुरा बनाऊं। यह रंग दूं, वह रंग दूं। साधु का. बनाऊं, संत का बनाऊं। किसका मन बनाऊं ? मन से नहीं होगा, क्योंकि मन कैसा भी होगा, तो प्रक्षेपण करेगा। अच्छा मन अच्छा प्रक्षेपण करेगा, बुरा मन बुरा प्रक्षेपण करेगा। लेकिन प्रक्षेपण जारी रहेगा। प्रोजेक्शन जारी रहेगा। मन ही न हो, तो हमारे और जगत् के बीच, हमारे और सत्य के बीच जो-जो कल्पना के जाल हैं, वे तत्काल गिर जाएंगे।

हम वही देख पाते हैं, जो है। जिसे मैं ध्यान कह रहा हूं, वह भी नो माइण्ड, अ-मन, वह भी मन को फेंक देना है, हटा देना है। अंकुशो मार्गः। अंकुश से ही यात्रा शुरू करनी पड़ेगी। पहले तो धीरे-धीरे यात्रा शुरू करें। जैसे वृक्ष के पास खड़े हैं, सब धारणाओं को छोड़कर वृक्ष को देखें। न तो मन को कहने दें, बड़ा सुन्दर है, क्योंकि वह पुरानी धारणा है, उसको बीच में मत आने दें। मन को न कहने दें कि यह क्या कुरूप-सा वृक्ष है। मन को कुछ भी मत कहने दें। मन को कहें कि तू चुप रह, तू मौन रह, मुझे वृक्ष को देखने दे। तू बीच में मत आ।

बैठे हैं, धूप पड़ रही है। मन कहेगा, बड़ी तकलीफ हो रही है। मन

को कहें कि तू चुप रह। मुझे जरा धूप को अनुभव करने दे कि क्या हो रहा है। मन कहेगा, बड़ा आनन्द आ रहा है धूप में। तो कहना, तू जरा चुप रह, तू बीच मे मत आ। धूप से मुझे सीधा मिलने दे। और तब बड़े फर्क पड़ेंगे। तब धूप में एक और ही बात शुरू हो जाएगी। तब धूप जैसी है, वैसी ही अनुभव में आएगी। तब यह बीच मे मन व्याख्या न करेगा।

सारी व्याख्याएं मन की हैं। एक दफा फैशन बदल जाए, तो व्याख्याएं बदल जाती हैं। अभी पूरब में सफेद चमड़ी का भारी मोह है। सफेद चमडी बड़ी सुन्दर चमड़ी है। पश्चिम में सफेद चमड़ी बहुत है। जो बहुत ज्यादा है, उसका मूल्य तो होता नहीं, न्यून का मूल्य होता है। जो कम है, उसका मूल्य होता है। पश्चिम मे सुन्दरी वह है, जिसकी चमड़ी पर थोड़ी-सी श्यामलता हो। सुन्दरियां लेटी हैं समुद्रो के तट पर, धूप ले रही हैं, थोडा-सा चमडी मे श्याम वर्ण प्रवेश कर जाए। धूप में लेट कर बडा कष्ट उठा रही है, लेकिन कष्ट नही मालूम पड़ता, क्योंकि मन कह रहा है, सौंदर्य पैदा हो रहा है, धूप से सौंदर्य आ रहा है।

जिस चीज मे मन रस लेने लगे, वहीं सौंदर्य मालूम पड़ने लगता है। सुख मालूम पडने लगता है। जिसमे विरस हो जाए, वहीं तकलीफ शुरू हो जाती है। फैशन के बदलने के साथ सब बदल जाता है। ऐसी कौमें हैं, जो स्त्रियो का सिर घुटवा देती हैं। वे कहती हैं, घुटा हुआ सिर बहुत सुन्दर है। वे कहती हैं, जब तक सिर घुटा न हो, तब तक स्त्री के पूरे चेहरे का सौंदर्य पता नही चलता, बाल की वजह से सब ढंक जाता है। असली सौंदर्य तो तभी पता चलता है, जब सिर घुटा हुआ हो, साफ-सुथरा हो। स्वच्छ बाल भी एक गन्दगी ही है। तो स्त्रियां सिर घुटाती हैं। ऐसी कौमें हैं, जो मानती हैं, बिना बाल के सौंदर्य नहीं हो सकता, तो स्त्रियां विग लगाती हैं, झूठे बाल ऊपर से लगाती हैं। इस वक्त विग का पश्चिम में बड़ा धन्धा है।

सब हमारी मौज है, हमारे मन का ही सारा खेल है। जैसा हम पकड़ लें, बस वैसा ही मालूम होने लगता है। ऋषि कहता है, इस मन पर अंकुश रखना पड़े, इस मन को धीरे-धीरे विसर्जित करना पड़े और वह क्षण लाना पड़े, जहां हम कह सकें, अब कोई मन नहीं। इधर रह गई चेतना, उधर रह गया सत्य। वहां मन नहीं, वहां चेतना और सत्य का मिलन हो जाता है। वहीं आनन्द है। वहीं नित्य की प्रतीति और अनुभूति है।

नवाँ प्रवचन

साधना-शिविर, माऊन्ट आबू, रात्रि, दिनांक २९ सितम्बर, १९७१

साधक के लिए शून्यता, सत्य योग, अजपा गायत्री और विकार-मुक्ति का महत्त्व

शून्य न सकेत ।

परमेश्वर सत्ता ।

सत्यसिद्धयोगी मठः ।

अमरपद न तत् स्वरूपम् ।

आदिब्रह्म स्व-संवित ।

अजपागायत्री विकारदण्डो ध्येयः ।

मनोनिरोधिनी कन्था ।

"शून्य संकेत नहीं है ।
परमेश्वर की सत्ता है ।
सच्चा और सिद्ध हुआ योग (संन्यासी का) मठ है ।
उस आत्मस्वरूप के बिना अमरपद नहीं है ।
आदि ब्रह्म स्व-चेतन है ।
अजपा गायत्री है । विकारमुक्ति ध्येय है ।
मन का निरोध ही उनकी कन्था (संन्यासी की झोली) है ।

शून्य संकेत नहीं, परमेश्वर की सत्ता ही हैं। जिन्होंने भी जाना है, उन्होने परमेश्वर को या तो पूर्ण कहा है, या शून्य कहा है। परमात्मा के सम्बन्ध में कोई संकेत करने के ये दो ही उपाय हैं। या तो हम कहें कि वह पूर्ण है, या हम कहें कि वह शून्य है। ये संकेत उलटे मालूम पड़ते हैं। पूर्ण और शून्य से ज्यादा विरोधी और क्या होगा? इसलिए जो जानते नहीं, वे अगर पूर्ण को मानते हैं, तो शून्य का विरोध करते हैं। न जानने वाले यदि शून्य को मान लेते हैं परमात्मा का स्वरूप, तो पूर्ण का वे विरोध करते हैं। लेकिन शून्य या पूर्ण परम सत्य के सम्बन्ध में कुछ कहने के दो उपाय हैं। या तो कह दो कि वह सभी कुछ है, या कह दो कि वह कुछ भी नहीं है, सभी से खाली है। या तो इनकार कर दो उन सबों का, जो हमें ज्ञात है और कह दो, यह भी वह नहीं, यह भी वह नहीं, यह भी वह नहीं। इसके बाद जो बच रहता है, वही है। यह शून्य का मार्ग है। या कहो, यह भी वही है, वह भी वही है, सब कुछ वही है। यह पूर्ण का मार्ग है।

यह व्यक्ति पर निर्भर है कि वह किस मार्ग को प्रीतिकर समझेगा। गिलास आधा भरा हो, तो कोई कह सकता है कि आधा भरा है; कोई कह सकता है, आधा खाली है। विपरीत वक्तव्य हैं दोन और जिन्होने न देखा हो गिलास, वे इस पर विवाद भी कर सकते हैं कि हम आपस मे विरोधी हैं। तुम कहते हो, आधा खाली, हम कहते हैं, आधा भरा। निश्चित ही भरा

और खाली विपरीत शब्द हैं। लेकिन जिन्होंने देखा है, वे कहेंगे, यह आधे भरे गिलास को कहने के दो ढंग हैं। और जब हम परम सत्ता के सम्बन्ध में कुछ कहने चलते हैं, तो अति में ही बात कहनी पडेगी, एक्सट्रीम पर ही बात कहनी पड़ेगी, सीमांत पर बात कहनी पडगी। या तो इनकार कर देना पड़ेगा उन सबों का, जिन्हें हम जानते हैं या जो संसार है, उसे स्वप्नवत् कह देना पड़ेगा कि यह वहाँ कुछ भी नही है।

बुद्ध से कोई पूछता था, कैसा है सत्य ? तो बुद्ध कहते थे, जो भी तुम जानते हो, वैसा जरा भी नहीं है। जो भी तुम पहचानते हो, वह काम नही पडेगा। जो भी तुमने सुना है, समझा है, अनुभव किया है, वह वहाँ काम नही आएगा। और जैसा सत्य है, उसको कहने का कोई उपाय नही है, क्योंकि जिस तरह भी हम उसे कहेंगे, उसमें तुम्हारे सुने हुए, समझे हुए शब्दो का ही उपयोग करना पडेगा। इसलिए बुद्ध कहते थे, मुझे चुप रहने दो, मुझे मजबूर मत करो उसके सम्बन्ध मे कुछ कहने को। और अगर कोई बहुत मजबूर ही करता, तो वह कहते, शून्य है। पहले तो वे इनकार करते वक्तव्य देने से कि मैं कुछ न कहूँगा, मुझे चुप रह जाने दो। अगर कोई नही ही मानता और जिद किए चला जाता, तो बुद्ध कहते, वह शून्य है। लेकिन जब हम सुनते हैं, कोई कहे कि परमात्मा शून्य है, तो लगता है कि शायद वह कह रहा है, परमात्मा नही है। लेकिन अगर 'नही है' कहना था, तो शून्य के प्रयोग करने की कोई जरूरत ही न थी। सीधा ही कहा जा सकता था, नही है। जो नही है, उसे 'नही है' कहने में कौन-सी बाधा थी ? जो है, उसे चाहे प्रकट न भी किया जा सके, लेकिन जो नही है, उसके सम्बन्ध मे तो वक्तव्य दिया ही नहीं जा सकता। लेकिन बुद्ध कहते हैं, वह शून्य है। 'है' से इनकार नही करते। 'है' निश्चित ही, लेकिन 'शून्य' है। और शून्य कहने का कारण यह है, ताकि हम अपने मन की कोई भी धारणाएँ, वे जो हमारी कैटेगरीज ऑफ इन्टेलेक्ट हैं, हमारी बुद्धि की जो धारणाएँ हैं, उन सबको छोड़कर उसकी तरफ चलें। अपने को छोड़कर उसकी तरफ चलें।

परमात्मा को शून्य कहने का अर्थ है, केवल वे ही उसे जान पाएँगे जो शून्य होने की तत्परता दिखाएँगे। जब वे बिलकुल शून्य हो जाएँगे, तो उसे जान पाएँगे, क्योंकि तब उन दोनो का एक-सा स्वभाव मिल जाएगा। एक हार्मनी, एक एफीनिटी, दोनों के बीच एक सम्वाद, शुरू हो जाएगा। 'शून्य है', ऐसा

कहने का यह अर्थ है कि वहाँ कोई शब्द नहीं, कोई ध्वनि नहीं। वहाँ कोई रस नही। इंद्रियाँ जो भी जानती और पहचानती हैं, उनमें से वहाँ कुछ भी नही। फिर भी वह है।

शून्य कहने का एक कारण और है। वह बहुत गहन है। पर खयाल में ले लेना जरूरी है, क्योंकि हम गहन यात्रा पर निकले हैं। अगर कोई परमात्मा को पूर्ण कहे, तो यह भी सोचा जा सकता है कि और भी पूर्णतर हो सकता है। कितना ही पूर्ण हो, थोड़ा और पूर्ण होने में कौन-सी असुविधा है? पूर्णतर हो सकता है। पूर्ण में और भी कुछ होने का उपाय बना रहता है। लेकिन शून्य मे और शून्य नही हो सकता। जब कोई कहता है, परमात्मा शून्य है, तो आखिरी बात आ गई। दो शून्य छोटे और बड़े नहीं हो सकते। शून्य, यानी शून्य। वहाँ कोई है भी नही। अगर मैं कमरे में मौजूद हूँ, तो भिन्न भी हो सकता हूँ। मेरी मौजूदगी भिन्न भी हो सकती है। जैसा अभी हूँ, कल उससे अन्यथा भी हो सकता हूँ। लेकिन कमरे में मेरी गैरमौजूदगी है, ऐब्सेंस है, वह भिन्न नही हो सकती कभी भी। इट विल रिमेन द सेम। ऐब्सेंस (अनुपस्थिति) मे कैसे फर्क पड़ेगा? शून्य सदा थिर होगा। होगा तो पूर्ण भी सदा थिर, लेकिन शून्य ज्यादा तर्कयुक्त है। पूर्ण के साथ हम सोच सकते हैं कि और भी पूर्णताएँ हैं, लेकिन शून्य के साथ और भी शून्यताएँ नहीं सोची जा सकतीं। शून्य का अर्थ ही है कि जो बिलकुल खाली है। अब और खाली कैसे होगा! तो बुद्ध ने शून्य का प्रयोग किया है।

यह उपनिषद् का ऋषि भी कहता है, शून्यं न संकेतः। वह कहता है, जब हम कहते हैं, परमात्मा शून्य है, तो तुम ऐसा मत सोचना कि हम केवल संकेत करते हैं। बड़े हिम्मत का वक्तव्य है। ऋषि कहता है, यह मत सोचना कि हम सिर्फ संकेत करते हैं शून्य से, और परमात्मा शून्य नहीं है। नहीं, हम कहते हैं, शून्य ही परमेश्वर की सत्ता है। सत्ताएँ दो तरह की हो सकती हैं— पॉजीटिव (विधायक) और निगेटिव (नकारात्मक)। लेकिन जहाँ-जहाँ नकार होता है, वहाँ-वहाँ विधेय होता है। जैसे बिजली जल रही है, तो उसमें एक निगेटिव पोलेरिटी है, एक पॉजिटिव पोलेरिटी है। उसमें ऋण विद्युत् भी है, धन विद्युत् भी है। अगर दो में से एक हट जाए, तो बिजली बुझ जाए। दोनो का सर्किट, दोनो का वर्तुल चाहिए, तो बिजली जलती है। स्त्री है, पुरुष है। एक नकारात्मक है, एक विधायक है। दो में से एक हट जाए, तो जीवन की यात्रा

बन्द हो जाती है।

जगत् में जिस चीज का भी अस्तित्व है, उसमें एक नकारात्मक और एक विधायक हिस्सा संयुक्त रूप से हमेशा है। जैसे बैलगाड़ी के दो चाक, या आदमी के दो पैर। ऐसे जिस चीज की भी सत्ता है, उसके दो पैर हैं, एक नकार है, एक विधेय है। लेकिन परमात्मा अगर नकार है, तो विधेय कौन होगा? फिर तो हमे एक परमात्मा और सोचना पडेगा। इसीलिए कुछ धर्मों ने परमात्मा के साथ शैतान को भी सोचा है। नम्बर दो का परमात्मा है, बुरा परमात्मा। लेकिन है वह, और मिट नही सकता। क्योंकि उनको खयाल मे आया है कि सत्ता तो विभाजित है। अगर परमात्मा शुभ है, तो उसके विपरीत अशुभ की भी सत्ता होनी चाहिए, इसलिए शैतान को बना ही रहना पड़ा। सिर्फ भारत एक देश है, जहाँ हमने परमात्मा के विपरीत किसी सत्ता को निर्मित नही किया। ईसाइयत भी शैतान के बाबत सोचती है, इस्लाम भी शैतान के बाबत सोचता है, यहूदी भी शैतान के बाबत सोचते हैं, पारसी भी शैतान के बाबत सोचते हैं। सिर्फ इस देश मे कुछ लोगों ने बिना शैतान के परमात्मा के होने की संभावना को स्वीकार किया है। लेकिन शैतान के साथ स्वीकार करना कोई स्वीकार करना नही है, क्योंकि फिर एक कान्स्टैंट कान्फ्लिक्ट (सतत द्वन्द्व) है, जिसका कोई अन्त नही होगा। शैतान और परमात्मा का कभी अन्त नही हो सकता। वह विरोध चलता ही रहेगा।

सुना है मैंने कि मुल्ला नसरुद्दीन जिस दिन मरा, मौलवी उसे पश्चात्ताप करवाने आए। मौलवी ने मुल्ला से कहा, पश्चात्ताप करो, परमात्मा से क्षमा माँगो, और मरते वक्त शैतान को इनकार करो। मुल्ला कुछ देर चुप रहा। आँख खोलकर उसने देखा जरूर, फिर आँख बन्द कर ली। मौलवी ने कहा, तुमने सुना नही? ज्यादा देर नही है, आखिरी घड़ी है। क्षण-दो-क्षण की स्वाँस है। परमात्मा को स्वीकार करो और शैतान को इनकार करो। मुल्ला ने कहा, आखिरी वक्त मे मैं किसी को भी नाराज नही करना चाहता। क्योंकि पता नही, आगे की यात्रा किस तरफ हो। मैं चुप ही रहूँगा। जिस तरफ चला जाऊँगा, उसी की प्रशंसा करूँगा। मगर अभी तो कुछ पक्का नही है। ऐसे नाजुक क्षण (डेलिकेट मोमेन्ट) मे जिद मत करो। अभी कुछ पक्का नही है कि शैतान की तरफ जाऊँ, कि परमात्मा की तरफ जाऊँ। और किसी को नाराज करना ठीक भी नही। जिन्दगी की बात और थी, अब तो

यह आखिरी क्षण है, तो चुप ही मुझे मर जाने दो।

अगर शैतान और परमात्मा का अस्तित्व साथ-साथ है, तो यह अस्तित्व सदा ही द्वन्द्व होगा, द्वन्द्वातीत होना असंभव है। इसलिए ऋषि नहीं कहते कि अस्तित्व द्वन्द्व है। ऋषि कहते हैं जगत् द्वन्द्व है—जगत्, जो हमें दिखाई पड़ता है वह। लेकिन जो है, वह निर्द्वन्द्व है। उस निर्द्वन्द्व को कैसे प्रकट करें? कहें, विधेय, पॉजिटिव? कहें निषेध, निगेटिव तो मुश्किल हो जाएगी, द्वन्द्व खड़ा हो जाएगा। तो दो ही उपाय हैं उसको प्रकट करने के। या तो कह दे दोनों, अर्थात् पूर्ण और शून्य एक साथ। या कह दें दोनों नहीं, अर्थात् शून्य। या तो परमात्मा को कह दें पूर्ण। ये दो उपाय हैं। उसका अर्थ यह हुआ कि जो भी इस जगत् मे है, सभी परमात्मा है। इससे बड़ी परेशानी पश्चिम में, खासकर ईसाई विचारकों को होती है। वे कहते हैं, फिर बुराई का क्या होगा? बुराई है, बीमारी है, मृत्यु है, दुख है, इसका क्या होगा? क्या यह भी परमात्मा है?

जो कहता है, पूर्ण है परमात्मा, वह यह भी स्वीकार कर रहा है कि जो बुराई है, वह भी परमात्मा है। वह जो चोर है, वह भी परमात्मा है। ईसा-इयत को बड़ी कठिनाई पड़ी इस बात को समझने में। क्योंकि अगर चोर भी परमात्मा है और अगर राम भी रावण हैं, तो फिर आदमी के लिए विकल्प क्या है, आदमी क्या चुने? क्या बुरा है? इस जगत् में कोई बुराई नही है। अगर सभी परमात्मा है, तो फिर बुराई नही है। अकाल आता है, बाढ आती है, लोग मर जाते हैं, युद्ध होता है। सिर्फ हिन्दुओं ने हिम्मत की और कहा, वह भी परमात्मा है। यह हिम्मत बहुत अद्‌भुत है। समझ के थोड़े पार भी है। हमारा भी मन कहता है कि इसे इनकार करो। अच्छाई को परमात्मा से जोड़ दो, बुराई को अलग करो। लेकिन ऋषि कहते हैं, बुराई को फिर कहाँ रखोगे? फिर तुम्हें शैतान निर्मित करना पड़ेगा। बुराई को रखोगे कहाँ? बुराई भी परमात्मा है। असल मे अगर बुराई भी परमात्मा है, तो बुराई बुराई हो नही सकती अन्ततः। वह सिर्फ हमारे देखने की भूल होगी या पूरा पर्सपेक्टिव (परिप्रेक्ष्य) न होगा, पूरी बात दिखाई न पड़ रही होगी। एक घटना घटती है, पैर में कांटा चुभ जाता है, आप कहते हैं, यह तो सीधी बुराई है। दुख हो रहा है, पीड़ा हो रही है।

हसन नाम का सूफी फकीर एक रास्ते से गुजर रहा है। पत्थर से चोट

लग गई और पैर से खून बहने लगा, तो उसने हाथ जोड़ कर आकाश की तरफ परमात्मा को धन्यवाद दिया कि तेरी बड़ी कृपा है। उसके शिष्य तो बहुत हैरान हुए। उन्होंने कहा, यह कृपा है, तो अकृपा क्या होती है? पैर मे पत्थर लग गया है, खून बह रहा है। अगर यह कृपा है, तो हमे छुट्टी दो। हम सब परमात्मा की कृपा को खोजने निकले हैं और तुम्हारे पीछे इसीलिए चल रहे हैं। अगर यह कृपा है, तो हम वापस लौट जाएँ। हसन ने कहा, जो इसमें भी कृपा न देख पाएगा, उसे परमात्मा की कृपा कभी भी न मिल सकेगी। और फिर भी मैं तुमसे कहता हूँ कि आज मुझे फाँसी होनी चाहिए थी, लेकिन उसकी कृपा है कि पैर मे पत्थर लगकर मैं बच गया हूँ। कर्म तो मेरे ऐसे हैं कि आज फाँसी निश्चित थी। नियति तो मेरी फाँसी की थी, लेकिन उसकी कृपा है। और ऐसा मत सोचना कि हसन को फांसी लगती, तो हसन न कहता कि तेरी बड़ी कृपा है। तो भी यही कहता, क्योंकि और बड़ी फाँसियाँ हो सकती हैं। फाँसी से भी बड़ी फाँसियाँ हो सकती हैं।

मुल्ला नसरुद्दीन ने इकट्ठी चार शादियाँ कर ली थी। जिस जगह वह रहता था, उस जगह का कानून उसे फाँसी के योग्य मानता था। अदालत में हाजिर होना पड़ा। मजिस्ट्रेट ने कहा कि जुर्म तो तुमने बहुत भयंकर किया। फाँसी ही इसकी सजा है। लेकिन मुल्ला, हम तुम्हें फाँसी नही देते। हम तुम्हें माफ करते हैं और यह दण्ड देते हैं कि चारो स्त्रियो के साथ रहो। मुल्ला ने कहा, यह फाँसी से भी बदतर है। तुम फाँसी दे दो, तो बडी कृपा होगी। फाँसी से बदतर स्थितियाँ हो सकती हैं। अगर हसन को फाँसी भी लगती, तो वह कहता, तेरी बड़ी कृपा है। नहीं, सवाल यह नही है कि कौन-सी बात हुई है। सवाल इस हृदय का है, जो हर जगह परमात्मा को देख लेता है।

ऋषि कहते हैं कि वह परमात्मा या तो पूर्ण है—सभी कुछ वही है, क्षुद्रतम से लेकर विराटतम तक वही है। एक तो यह रास्ता है। दूसरा रास्ता यह है कि इसमे से कुछ भी वह नहीं है। निर्वाण उपनिषद् का ऋषि तो कहता है कि वह शून्य है। इस पर जोर देने का कारण है। मेरा भी झुकाव इस बात का है कि परमात्मा को पूर्ण न कहा जाए, शून्य ही कहा जाए, यह जानते हुए कि पूर्ण भी कहा जा सकता है। फिर भी मेरा अपना झुकाव भी यही है कि परमात्मा को शून्य ही कहा जाए। क्यों? वह

मैं आपको कहूँ।

जैसे ही हम परमात्मा को पूर्ण कहते हैं, हमारे अहंकार को परमात्मा के साथ मिटाना मुश्किल हो जाता है। वह बढ़ता है, क्योंकि लगता है कि परमात्मा को पाकर हम पूर्ण हो जाएँगे। लेकिन जब कहा जाता है, परमात्मा शून्य है, तो उसका अर्थ है कि परमात्मा को पाना हो, तो हमको मिटना पड़े और शून्य होना पड़े। इसलिए साधक की दृष्टि से परमात्मा को शून्य कहना ही उचित है। दर्शन की दृष्टि से पूर्ण भी कहा जा सकता है, लेकिन साधक की दृष्टि से पूर्ण कहना बहुत खतरनाक है, क्योंकि साधक बहुत नाजुक हालत मे है। सवाल यही है कि अहंकार मिट जाए, तो वह परमात्मा को पा ले, जो पूर्ण है या शून्य है, जो भी है। लेकिन पूर्ण परमात्मा की कल्पना के साथ अपने को मिटाने का खयाल नहीं आता, बल्कि और बड़े हो जाने का खयाल आता है। ऐसा लगता है कि परमात्मा को पाकर हम और भी मजबूत, और भी विराट्, और भी अमृत, और भी दुख के पार ही जाएँगे और हम बच रहेंगे। मैं बच जाऊँगा।

हमारा अहंकार कह सकता है, 'अहम् ब्रह्मास्मि', मैं ब्रह्म हूँ। इसलिए अक्सर ऐसा हो जाता है कि अहम् ब्रह्मास्मि की घोषणा करनेवाले साधु-सन्यासी अति अहंकार से पीड़ित हो जाते हैं। अहंकार उनके रोएँ-रोएँ पर लिख जाता है। उसका कारण है। अगर है परमात्मा के पूर्ण होने का स्वीकार किया जाए, तो उस पूर्ण के साथ स्वयं को जोड़ने में शून्य होना कठिन पड़ेगा। इसलिए साधक को ध्यान मे रखकर ऋषि कहता है कि शून्य उसका स्वभाव है, और जब तक तुम शून्य न हो जाओ, तब तक उसे न पा सकोगे। यद्यपि जो उसे पा लेते हैं, वे उसे पूर्ण भी कह सकते हैं, कोई अन्तर नहीं पड़ता। लेकिन जिन्होंने नहीं पाया है, उनकी तरफ से अगर ध्यान रखना हो, तो शून्य कहना ही उचित है, क्योंकि परमात्मा को वही बताना उचित है, जो हमें बनना हो। परमात्मा को ऐसा कोई भी संकेत देना खतरनाक है, जो हमारे मिटने में बाधा बन जाए। मिट जाना है, खाली हो जाना है, तभी हम उससे भर पाएँगे। जो हमें हो जाना है, परमात्मा को वही कहना उचित है। इसलिए शून्य 'प्रेफरेबल' है, चुनाव-योग्य है। ऋषि ने शून्य को ही चुना और कहा कि यह शून्य संकेत नहीं है, ऐसा मत मानना कि हम सिर्फ शून्य से उस परमात्मा का इशारा करते हैं, जो कि पूर्ण है। वह शून्य ही है,

शून्य से इशारा नहीं करते। उसका स्वभाव शून्य है। वह शून्य है, इसे और भी एक-दो दिशाओं से समझ लेना चाहिए।

असल में सारा अस्तित्व शून्य से पैदा होता है और शून्य में ही लीन होता है। एक बीज है वृक्ष का, उसे तोड़ें और खोजें कि वृक्ष उसमे कहाँ छिपा है। कहीं भी न मिलेगा। पीस डालें बीज को, लेकिन कहीं वृक्ष न मिलेगा। फिर भी इसी बीज से वृक्ष पैदा होता है। यही बीज टूटकर जमीन में बिखर जाता है और अंकुर निकलता है और वृक्ष बन जाता है। लेकिन बीज में खोजने से वृक्ष कही भी दिखाई नही पड़ता है। कहाँ से आता है यह वृक्ष? शून्य से आता है। बीज में तो सिर्फ इस वृक्ष की 'ब्लू प्रिन्ट' (योजना) होती है। वृक्ष नही होता। बीज में तो सिर्फ नक्शा होता है कि वृक्ष कैसा होगा। जस्ट ए ब्लू प्रिन्ट, ए बिल्ट-इन प्रोग्रैम, जैसे कोई आर्किटेक्ट एक मकान बनाता है और अपनी फाइल में एक नक्शा दबा कर चलता है। आप उसके नक्शे में रहने की कोशिश न करें। वह नक्शा ब्लू प्रिन्ट है। वह सिर्फ रूपरेखा है; जैसा मकान बन सकेगा, उसकी सिर्फ रूपरेखा है। बीज में वृक्ष नहीं होता। बीज में सिर्फ रूपरेखा होती है। वृक्ष तो शून्य से आता है, बीज रूपरेखा देता है और वृक्ष निर्मित होता है। आप जब पैदा होते हैं, तो अपने पिता और माता से आप पैदा नही होते, जस्ट ए ब्लू प्रिन्ट इज गिव्हेन। माँ और बाप सिर्फ ब्लू प्रिन्ट देते हैं, रूपरेखा देते हैं कि नाक कैसी होगी, आँख कैसी होगी, बाल का रंग कैसा होगा, उम्र कितनी होगी। सब रूपरेखा दे देते हैं, लेकिन जो जीवन आता है, वह शून्य से आता है।

सारा अस्तित्व शून्य से निकलता है और सारा अस्तित्व शून्य में लौट जाता है। जब एक वृक्ष गिरता है और नष्ट होता है, तो जमीन में मिलकर फिर मिट्टी हो जाता है। वह मिट्टी से ही आता है। रूपरेखा खो गई, जो बिल्ट-इन प्रोग्रैम था, वह समाप्त हो गया। सत्तर साल वृक्ष को रहना था, वह बात समाप्त हो गई। मिट्टी अपनी मिट्टी खीच लेती है, पानी अपना पानी वापस ले लेता है, आकाश अपना आकाश माँग लेता है, सूर्य अपनी किरणों को वापस उठा लेता है, हवाएँ अपनी हवाओं को खीच लेती हैं। लेकिन वह वृक्ष कहाँ गया? वह जो जीवन था, जिसने इस मिट्टी को इकट्ठा किया था और हवा को बाँधा था और जिसने आकाश से पानी खींचा था और सूरज से किरणें ली थी, वह जो जीवन था, जिसने यह सब संघट किया था, वह सारा

आर्गेनाइजेशन किया था, वह जीवन कहाँ है ? वह शून्य से आया था और शून्य में वापस लौट गया।

परमात्मा को शून्य कहने का कारण है। जो भी दिखाई पड़ता है, वह तो पदार्थ है, जो भी पकड़ में आता है, वह पदार्थ है। इन सब दिखाई पड़ने वाले और पकड में आने वाले के अतिरिक्त कहीं कोई मूल-स्रोत जीवन का चाहिए। उसे हम क्या कहें ? उसे हम कोई भी नाम देंगे, तो वह पदार्थ-जैसा मालूम पड़ेगा। शून्य ही एक शब्द है हमारे पास, जो पदार्थ-जैसा मालूम नहीं पड़ता। इसलिए परमात्मा को कहा है, इसीलिए उसे निराकार कहा है। सिर्फ शून्य ही निराकार हो सकता है, इसलिए उसे निर्गुण कहा है। सिर्फ शून्य ही निर्गुण हो सकता है, इसीलिए उसे सनातन कहा है, सदा एक-जैसा रहने वाला—सिर्फ शून्य ही सदा एक जैसा हो सकता है। जैसे ही आकृति आती है, बदलाहट आ जाती है। जैसे ही गुण आते हैं, परिवर्तन आ जाते हैं। जैसे ही रूप आता है, जन्म और मृत्यु आ जाती है। सिर्फ शून्य ही अजन्मा और अमृत हो सकता है। इसलिए ऋषि कहता है, शून्य संकेत नहीं है हमारा, शून्य उसकी सत्ता है। विराट् जगत् उसी से पैदा होता है और उसी में लीन हो जाता है।

शून्य परमात्मा की सत्ता है। उसका अस्तित्व, उसके होने का ढंग है। इसलिए वह दिखाई नहीं पडता। इसीलिए परमात्मा का दर्शन कहना, ठीक शब्द नहीं है। आँख से तो वह दिखाई नहीं पड़ेगा। कहना पड़ता है, क्योंकि मजबूरी है। कोई भी शब्द उपयोग करेंगे, तो इन्द्रियों का होगा। परमात्मा की होती है प्रतीति, होती है अनुभूति, होती है एकसपीरिएंसिंग, दर्शन नहीं। कहते हैं, क्योंकि शब्द के लिए कोई उपाय नहीं है। परमात्मा शून्य है, इसीलिए तो मौजूद होकर भी मौजूद नहीं मालूम पड़ता। सब तरफ होकर भी अनुपस्थित है। जगह-जगह होकर भी कहीं नहीं मालूम पड़ता।

स्वामी राम निरन्तर एक बात कहा करते थे। वे कहते थे, मैं परम नास्तिक था। मैंने कहीं दीवाल पर लिख छोड़ा था—गॉड इज नो व्हेयर, ईश्वर कहीं भी नहीं है। मेरा छोटा बच्चा पैदा हुआ, बड़ा हुआ, स्कूल पढ़ने जाने लगा। अभी नया-नया पढ रहा था, तो पूरे लम्बे शब्द नहीं पढ़ पाता था। नो व्हेयर काफी बड़ा है। वह बच्चा पढ़ रहा था; दीवाल पर लिखा हुआ था, गॉड इज नो व्हेयर। उसने पढ़ा, गॉड इज नाउ हियर। तोड़कर

पढ़ा। 'नो व्हेयर' जो था, उसे तोड़ लिया। बड़ा लम्बा शब्द था। उतना लम्बा पढ़ना अभी उसकी सामर्थ्य के बाहर था। मैं तो बहुत चौंका। लिखा था—गॉड इज नो व्हेयर। पढ़ने वाले ने पढ़ा, गॉड इज नाउ हियर। उस दिन से मैं बड़ी मुश्किल में पड़ गया। जब भी मैं दीवाल पर देखता, मुझे भी पढ़ाई में आने लगा, गॉड इज नाउ हियर।

एक दफा बात खयाल में आ जाए, तो फिर उसे भुलाना बहुत मुश्किल होता है। 'नो व्हेयर', 'नाउ हियर' भी हो सकता है। जो कहीं नहीं है, वह सब कहीं भी हो सकता है। जो कहीं नहीं है, वह अभी और यहीं हो सकता है। लेकिन उसकी उपस्थिति अनुपस्थिति-जैसी है। इट्स प्रेजेंस इज जस्ट लाइक ऐब्सेंस। असल में अगर परमात्मा की उपस्थिति भी उपस्थिति-जैसी हो, तो बहुत वायलेंट हो जाए, बहुत हिंसक हो जाए। उसे ऐसा ही होना चाहिए कि हमें पता ही न चले कि वह है, नहीं तो हम बड़ी मुश्किल मे पड़ जाएँ।

मैंने सुना है कि एक ईसाई नन, एक ईसाइ साध्वी, बाइबिल मे पढ़ते-पढ़ते इसी खयाल पर पहुँच गई थी। बाइबिल मे उसने पढा कि ईश्वर सब जगह है और हर जगह देखता है। वह बड़ी मुश्किल मे पड़ी। उसे लगा कि वह बाथरूम में भी होता ही होगा। वह कपड़े पहनकर स्नान करने लगी कि कही ईश्वर उसे नंगा न देख ले। दूसरी साध्वियो को पता चला तो उन्होंने कहा, तू यह क्या पागलपन करती है कि तू बाथरूम में कपड़े पहनकर स्नान करती है! वहाँ कोई भी नहीं है। उस साध्वी ने कहा, नही, जब से मैंने बाइबिल में पढ़ा है कि वह सब जगह देख रहा है, उसकी आँख हर जगह है, तब से मैं कपड़े पहनकर ही नहाती हूँ। लेकिन उस पागल को पता नही कि जो बाथरूम के भीतर देख सकता है, वह कपड़े के भीतर भी देख सकता है। उसे इसमें क्या कठिनाई होगी? नथिंग इज इम्पासिबल फॉर हिम—अगर दीवाल के भीतर ही घुस जाता है, तो कपड़े के भीतर घुसने में ऐसी कौन-सी अड़चन होती होगी। और जो कपड़े के भीतर घुस सकता है, और जो दीवाल के भीतर भी घुस सकता है, उसके लिए चमड़ी और हड्डी कोई बाधा बनेगी? जो इतना सब कहीं है, क्या वह भीतर भी नहीं होगा, प्राणो में नही होगा? लेकिन उसकी मौजूदगी बड़ी नॉन-वायलेंट है, बड़ी अहिंसात्मक है।

ध्यान रखें, मौजूदगी में हिंसा हो जाती है। बाप बैठा है, तब देखें; बेटे की चाल बदल जाती है। बाप कमरे में बैठा है, बेटा जब निकलता है, तो उसकी चाल बदल जाती है, क्योंकि बाप की मौजूदगी हिंसात्मक होगी। अगर परमात्मा इस तरह मौजूद हो, तो जीवन बडी मुश्किल में पड़ जाए, जीना मुश्किल ही हो जाए। उठना-बैठना मुश्किल हो जाए, कुछ भी करना मुश्किल हो जाए। नही, आदमी के जीवन के लिए पूरी स्वतंत्रता इसीलिए सभव है कि उसकी उपस्थिति अनुपस्थिति-जैसी है। वह सिर्फ उन्हें ही दिखाई पड़ना शुरू होता है, जिन पर उसकी मौजूदगी की कोई हिंसा नही होती। वह सिर्फ उन्हें ही अनुभव मे आना शुरू होता है, जो इतने विकाररहित हो गए होते हैं कि अब नग्न हो सकते हैं और प्रकट हो सकते हैं। वह सिर्फ उन्हीं के निकट जाहिर होता है, जिनके पास छिपाने को कुछ भी नहीं रह जाता। इसलिए ऋषि कहते हैं, वह शून्य है। यह संकेत नही, उसकी सत्ता है।

सच्चा और सिद्ध हुआ योग संन्यासी का मठ है। सत्य सिद्ध योगो मठ:। सिद्ध हुआ योग ही सन्यासी का मठ है, वही उसका मंदिर है, वही उसका आवास है। 'सिद्ध हुआ योग!' बडी जागरूकता ऋषि के मन में होगी। सिर्फ इतना नही कहा कि योग उसका मंदिर है। क्योंकि योग सिर्फ बातों में हो सकता है, चर्चा मे हो सकता है, सिद्धान्त मे हो सकता है। उस योग का कोई मतलब नही। योग म्यूजियम मे भी हो सकता है, यह मुझे आज पता चला। एक मित्र निमत्रण दे गए हैं ब्रह्माकुमारियों का। उसमें लिखा है, राज-योग का म्यूजियम। मुझसे कह गए, आप जरूर देखें। राज-योग का बिलकुल म्यूजियम बनाकर रखा है। अभी योग इतना नहीं मर गया है कि म्यूजियम बनाना पड़े। म्यूजियम तो मरी हुई चीजों के लिए बनाना पड़ता है।

बर्ट्रेन्ड रसेल के ऊपर कोई व्यक्ति थीसिस (शोध-प्रबन्ध) लिखना चाहता था। बर्ट्रेन्ड रसेल ने कहा कि कम से कम मुझे मर तो जाने दो। अन्वेषण का काम तो मेरे मरने के बाद ही शुरू होना चाहिए। अभी तो मैं जिन्दा हूँ। अभी तुम कैसे थीसिस लिखोगे? अभी जिन्दा आदमी न मालूम और क्या-क्या कहेगा। तुम्हारी थीसिस गड़बड़ हो सकती है। तुम थोड़ा 'वेट' करो, थोड़ा ठहरो। इतना घबराओ मत, मैं भी मरूँगा ही। फिर तुम थीसिस लिख लेना।

लेकिन राज-योग के म्यूजियम का क्या मतलब हो सकता है ? योग कोई म्यूजियम की बात है ? लेकिन करीब-करीब हो गई। इसलिए ऋषि नही कहता कि योग उसका मठ है, क्योंकि योग सिद्धान्त मे हो सकता है, चर्चा मे हो सकता है, म्यूजियम में हो सकता है, विचार मे हो सकता है, दर्शन मे हो सकता है। ऋषि कहता है, सिद्ध हुआ योग— वही उसका मठ है। सिद्ध हुआ योग। जब वह अनुभूति बन जाए स्वयं की, तभी। वह पतंजलि के शास्त्र में तो लिखा है, उस शास्त्र को सिर पर लेकर ढोते रहें, तो कोई हल नही होता। उस शास्त्र को कण्ठस्थ कर लें, तो भी कुछ नही होता। उस शास्त्र पर थोडी व्याख्याएँ कर डालें, तो भी कुछ नही होता। उस शास्त्र के बडे जानकार बन जाएँ, ऐसा कि पतंजलि भी मिल जाएँ तो डरें, तो भी कुछ नही होता। क्योंकि योग जो है, वह विचार नही है, अनुभव है।

सिद्ध हुआ योग ही मठ है। लेकिन ऋषि एक शर्त और लगाता है, सच्चा और सिद्ध हुआ योग—'ट्रू ऐण्ड एक्सपीरिएंस्ड,' यह और कठिन शर्त है। इसका मतलब यह हुआ कि गलत योग भी सिद्ध हो सकता है। इसलिए ऋषि एक शर्त और लगाता है कि सत्य और सिद्ध हुआ योग। गलत योग भी सिद्ध हो सकता है। इस जगत् में कोई भी चीज ऐसी नहीं है, जिसका गलत रूप न हो सके। सब चीजों के गलत रूप हो सकते हैं। सही रूप जानना बडा कठिन होता है और गलत रूप चुनना सदा आसान होता है।

मुल्ला नसरुद्दीन की पत्नी का जन्म-दिन था। वह हीरे का हार लेकर आया। पत्नी तो पागल हो गई। लाखों का हार मालूम पड़ता था। उसने कहा, नसरुद्दीन, तुम इतना मुझे प्रेम करते हो, यह मुझे कभी पता नही। नसरुद्दीन ने कहा, बिना हीरे के हार के कहीं प्रेम का पता चलता है ? अब तो पक्का है, यह हार देख। पर पत्नी ने कहा, लाखों खर्च हो गए होंगे। नसरुद्दीन ने कहा, हो ही गया। तो पत्नी ने कहा, जब लाखों ही खर्च करने थे, तो बेहतर है एक रोल्स रायस कार खरीदी होती। नसरुद्दीन ने कहा, 'इमीटेशन' (नकली) कार कही मिलती, तो हम वही खरीद लाते। यह इमीटेशन हार है। यह लाखों का दिखता है, पर है नही। लेकिन इमीटेशन कार तो कहीं मिलती नहीं।

जो भी चीज इस जगत् में हो सकती है, उसका इमीटेशन हो सकता है। इमीटेशन सस्ता मिलता है और आदमी सस्ते को खरीदने को बडा उत्सुक

होता है, सरलता से मिल सकती है। सस्ते योग भी हैं, इमीटेशन योग भी। इसलिए ऋषि ने कहा, सत्य और सिद्ध हुआ योग। इमीटेशन योग क्या है, बात थोड़ी-सी समझ लेनी चाहिए।

सम्मोहन से सबधित सब योग 'इमीटेशन योग' होते हैं। जैसे कि उदाहरण के लिए अभी फ्रांस मे सम्मोहन विद्या का एक बहुत पारगत व्यक्ति था इमायल कुवे। इमायल कुवे सिर्फ लोगो की सम्मोहन से चिकित्सा करता था। एक आदमी बीमार है, सिर मे दर्द है तो कुवे कोई दवा नही देता था। वह सिर्फ उसे लिटाकर कहता कि तुम शिथिल पड़ जाओ और मन मे सोचो कि दर्द नही है। वह दोहराता है कि दर्द नही है। वह बाहर से कहता कि दर्द नही है। दर्द झूठ है, दर्द नहीं है। मरीज मन में सोचता कि दर्द नही हैं, दर्द नही है। अगर यह भाव गहरा प्रवेश कर जाए, तो दर्द मिट जाता है। मिट जाने के दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि निन्यानबे मौको पर दर्द होता नहीं, सिर्फ खयाल होता है। तो खयाल से मिट जाता है। दर्द हो भी, तो विपरीत खयाल से छिप जाता है। इमाइल कुवे को मुल्ला नसरुद्दीन-जैसा आदमी नहीं मिला।

मैने सुना है कि एक दूसरे सम्मोहन शास्त्री से मुल्ला नसरुद्दीन की मुलाकात हुई। नसरुद्दीन ने जाकर उससे कहा कि मैं बड़ी तकलीफ में पड़ा हुआ हूँ। मुझे घर मे बठे-बैठे सर्दी पकड़ जाती है। भली धूप निकली है, सब ठीक है, नही तो अचानक सर्दी पकड़ जाती है। उस सम्मोहनविद् ने कहा, कोई फिक्र नही। तुम घर मे बैठे, आँख बन्द किए सोचा करो कि सिर्फ सूरज की तेज किरणें पड़ रही हैं। सिर गरम हो रहा है। नसरुद्दीन ने कहा, ठीक है। सात दिन बाद नसरुद्दीन की पत्नी ने फोन किया कि महाशय, आपने क्या कर दिया। उनको घर मे बैठे-बैठे लू लग गई है। लग ही जाएगी।' वह सर्दी भी मन का खेल थी। यह लू भी मन का खेल थी। जो सर्दी लगा सकता है, वह लू भी लगा सकता है। इसमें कौन-सी कठिनाई है। कला तो वही है, ट्रिक तो वही है।

आदमी सम्मोहन से झूठे योग को भी सिद्ध कर सकता है। अपने मन मे सिर्फ भाव करके। वे सच्चे योग नहीं हैं। सम्मोहन का भी उपयोग किया जा सकता है सच्चे योग के मार्ग पर, और किया जाता है, लेकिन वह बड़ा भिन्न है। आदमी में जो बीमारियाँ से पैदा हुई हैं,

उनको सम्मोहन से काट दिया जाता है। डी-हिप्नोटाइज (प्रति सम्मोहित) किया जाता है। आदमी के जो रोग सम्मोहन से पैदा हुए हैं उन्हें सम्मोहन से जरूर काट देना चाहिए। लेकिन सम्मोहन से स्वास्थ्य नहीं पैदा करना चाहिए, वह तो झूठा होगा। फर्क समझ लें।

सम्मोहन से पैदा हुई बीमारी है झूठी, मन की मानसिक बीमारी है। मानसिक विचार से उसे तोड़ा जा सकता है। लेकिन अगर कोई मानसिक विचार से समझे कि मैं स्वस्थ हूँ, तो वह स्वास्थ्य भी मानसिक विचार होगा, वह स्वस्थ हो नहीं पाएगा। इसलिए हिप्नोटिज्म का निगेटिव उपयोग हो सकता है। योग में होता है; नकारात्मक, सिर्फ काटने के लिए। पुराने बंधे हुए सम्मोहन को काटने के लिए उपयोग होता है, लेकिन कोई नया सम्मोहन पैदा करने के लिए उपयोग नही होता। झूठे योग मे नया सम्मोहन पैदा करने के लिए उसका उपयोग होता है। आप बैठकर, एक पत्थर की मूर्ति को भगवान् मानकर अगर सम्मोहन करते रहें, करते रहें, करते रहें तो मूर्ति भगवान् मालूम होने लगेगी। बातचीत भी मूर्ति से हो सकती है। चर्चा भी हो सकती है, हालांकि और किसी को सुनाई नही पड़ेगी। सिर्फ आपको ही सुनाई पड़ेगी। लेकिन अगर दो-चार दिन भी अभ्यास छोड़ दें, तो चर्चा बन्द हो जाएगी, मूर्ति पत्थर मालूम होने लगेगी। वह जो सम्मोहन था, वह आपका प्रोजेक्शन (प्रक्षेपण) था।

पत्थर मे भी भगवान् खोजा जा सकता है। दो ढंग हैं — एक ढंग तो यह कि मैं पत्थर मे भगवान् मानूं और आरोपित करूं। निरंतर आरोपण करने से पत्थर मे भगवान् दिखाई पड़ने लगेंगे। वे भगवान् मेरे ही कल्पित भगवान् हैं, वह सच्चा योग नहीं है। नहीं, मैं पत्थर में भगवान् मानूं ही नहीं। मैं तो सिर्फ अपने को भीतर विचारों से खाली करूं, खाली करूं, खाली करूं और वह घड़ी ले आऊं, जब चित्त बिलकुल दर्पण की तरह शून्य हो जाए। पत्थर सामने होगा। भगवान् उसमें प्रकट हो जाएं, लेकिन यह भगवान् मेरे कल्पित नहीं हैं, क्योंकि कल्पना करने वाला चित्त और विचार तो मैं छोड़ चुका। कल्पना करने वाला मन तो मैं हटा चुका। अब तो वहाँ पत्थर है और यहाँ मेरी चेतना है। चेतना और पत्थर का मिलन हो जाए, तो पत्थर भगवान् हो जाता है। लेकिन बिना चेतना के मिलन के, मन के ही आधार पर अगर मैं निरन्तर चिन्तन करता रहूँ, मनन करता रहूँ, अभ्यास करता रहूँ कि यह

मूर्ति भगवान् है; भगवान् है, भगवान् है, ऐसा दोहराता रहूँ, दोहराता रहूँ, दोहराता रहूँ, तो एक दिन वह भ्रांति पैदा कर लूंगा जिस दिन मूर्ति भगवान् हो जाएगी। पत्थर में भगवान् प्रकट होते हैं, लेकिन उस आदमी के लिए, जिसका मन गिर जाता है; और जो मन से ही पत्थर में भगवान् प्रकट करता है, वह झूठा योग है।

तो ऋषि कहता है, सच्चा और सिद्ध हुआ योग—अनुभवित हो, अनुभव से टहरा हो, जाना हो और फिर भी जरूरी नहीं कि सच्चा हो, क्योंकि अनुभव काल्पनिक भी हो सकता है। अनुभव झूठा भी हो सकता है। अनुभव स्वप्नवत् हो सकता है। इसलिए एक शर्त और लगाई—सच्चा। दो तरह कीह मारी सम्भावनाएँ हैं। अगर हम मन से सत्य की तरफ चलें, तो जो भी होगा सच्चा नही, झूठा होगा। अगर हम मन को छोड़कर चलें, तो जो भी होगा वह सच्चा होगा। योग का अर्थ सत्य है, मन से साधा गया नहीं, मन के विसर्जन से पाया गया। झूठे योग का अर्थ है, मन से ही साधा गया। मन के पार का कुछ भी पता नहीं।

उस आत्म स्वरूप के बिना अमरपद नहीं। वह जो सच्चा और सिद्ध हुआ योग है, उससे मिलने वाला जो अनुभव है, अमरपद न तत् स्वरूपम्। उसे जाने बिना, उसे पाए बिना अमर पद नही, उसे पाए बिना अमृत की कोई उपलब्धि नही, मृत्यु बनी ही रहेगी। इसका अर्थ हुआ कि जहाँ तक मन होगा, वहाँ तक मृत्यु होगी। मन की सीमा मृत्यु की सीमा है। मन और मृत्यु एक ही अस्तित्व के नाम हैं। मन के पार अमृत्व है, मन की सीमा के पार अमृत्व है। अमृत को पाए बिना चैन नही मिल सकता— कोटि-कोटि जन्म भटक कर भी चैन नही मिल सकता। क्योंकि जब मृत्यु पीछा कर रही हो निरन्तर, तो कैसे चैन मिल सकता है ? मृत्यु गले में हाथ डाले खड़ी हो निरन्तर, तो कैसे चैन मिल सकता है? थोड़ी देर भुलावा हो सकता है, वह दूसरी बात है। लेकिन फिर-फिर याद आ जाती है, बार-बार याद आ जाती है। मौत फिर फिर घेर लेती है। अमृत को जाने बिना निश्चितता नहीं हो सकती। जब तक मुझे लगता है, मिट जाऊँगा, मिट सकता हूँ, तब तक प्राण कँपते ही रहेंगे।

एक बहुत कीमती विचारक हुआ पश्चिम में—सोरेन कीर्केगार्ड। उसने एक किताब लिखी है, जिसमें उसने कहा है कि मैन इज ए ट्रैम्बलिंग—आदमी

एक कंपन है। पर व्हाई मैन इज ए ट्रैम्बलिंग ? बिकॉज ऑफ डेथ। आदमी क्यों एक कम्पन है ? मृत्यु के कारण। मृत्यु चौबीस घंटे सामने खड़ी हो, कंपेंगे नहीं, तो क्या करेंगे ? अमृत को पाए बिना कंपन नहीं मिटेगा। कंपन के मिटे बिना स्वभाव की सरलता, निर्दोषता अज्ञात ही रहेगी। ऋषि कहता है, उस आत्म स्वरूप के बिना अमरपद नहीं। उस आत्म-पद को जानना ही पड़ेगा। उस आत्मस्वरूप को जानना ही पडेगा। उसे जानना हीपड़ेगा, जो है; उस मन को छोड़ना ही पडेगा, जो भरमाता है, भटकाता है, भ्रम पैदा करता है, स्वप्न जन्माता है।

आदि ब्रह्म स्व-संवित। वह जो ब्रह्म है, वह जो चैतन्य है, वह हमारे भीतर छिपा हुआ, आदि चैतन्य है, हमारे भीतर वह स्व संवित है। यह बहुत कीमती विचार है उपनिषद् का—स्व संवित, सेल्फ कांसस। यहाँ हम बैठे हैं, बिजली बुझ जाए, तो फिर हम एक दूसरे को निश्चित ही दिखाई न पड़ेंगे। क्योंकि एक दूसरे को देखना जो है, वह स्व प्रकाशित नहीं है, पर प्रकाशित है। प्रकाश पर निर्भर है। यह बिजली जलती है, तो मैं आपको देख रहा हूँ। बिजली बुझ गई, तो मैं आपको नहीं देख सकूँगा। सूरज है, तो मुझे रास्ता दिखाई पड़ रहा है, सूरज ढल गया, तो मुझे रास्ता दिखाई नहीं पड़ता, क्योंकि रास्ता स्व प्रकाशित नहीं है। दूसरे से प्रकाशित है।

मुल्ला नसरुद्दीन अपने कमरे में बैठा है। अमावस की रात है। एक मित्र मिलने आया है। सांझ थी, सूरज ढल रहा था, तब आया था। तब सब चीजें दिखाई पड़ती थीं। फिर गप-शप में काफी वक्त निकल गया। रात अँधेरी हो गई। मित्र ने मुल्ला नसरुद्दीन से कहा कि तुम्हारे बाएँ हाथ की तरफ दीया रखा है, ऐसा मैंने सांझ को देखा था। उसे जला क्यों नहीं लेते ? मुल्ला ने कहा, आर यू मैड, अँधेरे में पता कैसे चलेगा कि कौन-सा मेरा बायाँ हाथ है और कौन-सा मेरा दाहिना हाथ है। और अगर अँधेरे में पता चलता है कि कौन-सा बायाँ है और कौन-सा दायाँ, तो भीतर कोई शक्ति है जो स्व संवेदित है, स्व प्रकाशित है। कुछ पता न चले, इतना तो पता चलता है कि मैं हूँ अँधेरे में। कुछ पता न चले, इतना तो पता चलता है कि मैं हूँ। अपना तो पता चलता है अंधेरे में भी। इसका मतलब यह हुआ कि अपने होने में जरूर कोई प्रकाश होगा, जिससे कि अँधेरे में भी मैं अपने को दिखाई पड़ता हूँ। कोई चेतना होगी। इतना तो तय है कि मेरा होना किसी और चीज के आधार

से मुझे पता नहीं चलता, मेरे ही आधार पर मुझे पता चलता है। लेकिन हम भीतर तो कभी जाकर देखते नहीं कि वहाँ एक स्व संवित, स्व प्रकाशित, स्व ज्योतिर्मय तत्व मौजूद है। और कभी अगर देखें भी, तो हम ऐसी उलटी कोशिशें करते हैं, जिनका कोई हिसाब नहीं।

एक रात मुल्ला नसरुद्दीन अपने घर के बाहर पकड़ लिया गया। दो बजे थे। पुलिस वाले ने धीमे-धीमे आकर जोर से उसकी कमर पकड़ ली। मुल्ला एक खिड़की से झांक रहा था। घर उसी का था। अँधेरी रात थी, लेकिन पुलिस वाले को क्या पता? जब पुलिस वाले ने पकड़ा तो मुल्ला ने कहा, धीमे-धीमे बोलो, आवाज मत करो। कहीं वह जाग न जाए। पुलिस ने पूछा, कौन जाग न जाए, तुम खुद ही मुल्ला नसरुद्दीन मालूम पड़ते हो। उसने कहा, मैं ही हूँ लेकिन, चुप रहो। पुलिस ने कहा, कर क्या रहे हो? बड़ी देर से मैं देख रहा हूँ, मैं समझा कोई चोर है। इधर-उधर घूमते हो, खिड़की से झांकते हो। मुल्ला ने कहा, तू बकवास तो मत कर। जोर से तो मत बोल। सुबह आना, बता दूंगा। पुलिस ने कहा, मैं छोड़कर भी नहीं जा सकता। बात क्या है? नसरुद्दीन ने कहा, नहीं मानते हो, तो सुनो। बात यह है कि लोग कहते हैं कि मैं नींद में उठकर चलता हूँ। 'सो आई एम जस्ट चेकिंग।' वे ठीक कहते हैं कि नहीं। मैं खिड़की से देख रहा हूँ कि मुल्ला चल तो नहीं रहा है। लेकिन कोई नहीं चल रहा है, बिस्तर पर भी कोई नहीं है। कोई सो भी नहीं रहा है, चलने का तो सवाल ही नहीं। आधी रात खराब हो गई। अभी तक तो चलता हुआ दिखाई नहीं पड़ा। लोग कहते हैं, मैं सोते में चलता हूँ। जस्ट चेकिंग। कभी-कभी जब हम अपने को भी ऐसे ही खोजने जाते हैं, तो ऐसे ही दरवाजे-खिड़की से झांकते हैं। अपने ही भीतर दरवाजे-खिड़की से झांकते हैं। वहाँ कोई न मिलेगा, क्योंकि जिसको खोजने गए हैं, वह बाहर खड़ा है। स्व संवित होने का अर्थ है, जिसे हम बाहर से नहीं जान सकते। जिसे हमें भीतर से ही जानना पड़ेगा। जिसे हम भीतर से जान ही रहे हैं, पर भूल गए हैं, विस्मरण हो गया है, याद खो गई है।

मुल्ला अपने गधे पर बहुत तेजी से भागा जा रहा है। सारा गाँव चौकन्ना हो गया है। सड़क पर लोगों ने रास्ते छोड़ दिए हैं। लोगों ने चिल्ला कर पूछा कि मुल्ला जा कहाँ रहे हो। मुल्ला ने कहा, मेरा गधा

खो गया। तो लोगों ने कहा, ठहरो, तुम गधे पर सवार हो। मुल्ला ने कहा, अच्छा बताया। मैं इतनी तेजी में था कि मैं सारी जमीन खोज आता और पता न चलता कि गधे पर बैठा हुआ हूँ। तेजी में था, 'इन टू मच हरी'। बहुत जल्दी में था। ठीक किया जो तुमने याद दिला दिया। अन्यथा आज बड़ी भूल हो जाती, लौटना मुश्किल हो जाता, क्योंकि नीचे देखने की फुर्सत किसको ! मेरी आँखें तो आगे टिकी थी कि गधा कहाँ है। चारो तरफ देख रहा था और नीचे देखने का मौका निश्चित ही न आता। क्योंकि जो चारो तरफ देख रहा है, वह नीचे कैसे देखेगा ? जो बाहर देख रहा है, वह भीतर कैसे देखेगा ?

स्व संवित का अर्थ है कि हमारे भीतर वह जो आदि चेतना है, वह जो ओरीजनल कासस‌नेस है, वह जो चेतना सदा से हमारे भीतर है, हम उसे भूल गए हैं, क्योंकि हम उस पर ही सवार हैं और उसी को खोज रहे हैं। तो खोजते रहें। ऋषि चिल्ला कर कहते हैं कि जरा ठहरो, किसे खोजने निकले हो ? जरा रुको, जरा सुनो भी ! क्योकि तुम जिसे खोजने निकले हो, कहीं उसी पर सवार तो नहीं हो ! कही तुम वही तो नही हो, जिसको खोजने निकले हो। जो जानते हैं, वे कहते हैं, बी सीकर इज दी सॉट। वह जो खोज रहा है, उसकी ही खोज चल रही है, इसलिए खोज हो नही पाती, असफलता ही हाथ आती है। जेन फकीर कहते हैं, डोन्ट सीक, इफ यू वान्ट टु सीक। खोजो मत, अगर खोजना है। रुक जाओ, क्योकि खोजने मे तो दौड़ना पड़ेगा। ठहर जाओ। एक दफा देखो तो कि तुम कौन हो, तुम किसे खोजने निकले हो ? कहीं वह तुम्हारे भीतर ही तो नहीं है ?

स्व संवित का अर्थ होता है, जिसे जानने के लिए किसी और प्रकाश की जरूरत न पड़ेगी, और जिसे पहचानने के लिए किसी से पूछना न पड़ेगा। जिसके होने मे ही जिसकी पहचान छिपी है, जिसके होने में ही जिसका प्रकाश छिपा है, जो अपने से ही प्रकाशित है। दूसरे किसी प्रकाश की कोई भी जरूरत नही है।

'अजपा गायत्री विकार दण्डो ध्येयः।' गायत्री तो हम सब जानते हैं कि क्या है। लेकिन ऋषि कहता है, अपजा गायत्री। लेकिन जिस गायत्री को हम जानते हैं, वह तो जपी जाती है। वह तो 'जपा' है, 'अजपा'

नहीं है। यह ऋषि तो उलटी बात कर रहा है। यह कह रहा है, "अजपा गायत्री विकारदण्डो ध्येयः।" जिसे जपा ही नहीं जा सकता, उसमें ठहर जाना गायत्री है। जिसका कोई नाम ही नहीं, उसे जपोगे कैसे ? जिसका कोई शब्द नहीं, उसे जपोगे कैसे ? जिसका कोई रूप नहीं, उसे जपोगे कैसे ? सब छोड़कर, जप भी छोड़कर जहाँ पहुँचा जाता है, वहाँ गायत्री है। वहाँ मंत्र है, जहाँ मंत्र भी नहीं रह जाता। जहाँ प्रभु का नाम भी नहीं रह जाता, वहीं उसके नाम की उपलब्धि है।

हम अपने भीतर देखें। जब हम शब्द बोलते हैं, तो उसके पहले भी शब्द होता है एक परत नीचे। जब हम शब्द को सोचते हैं—बोला नहीं गया अभी शब्द, सिर्फ सोचा गया है। अभी बाहर प्रकट नहीं हुआ, अभी भीतर ही प्रकट हुआ—लेकिन सोचा गया शब्द भीतर प्रकट होता है, तो उसके पहले भी होता है। तब वह सोचा भी नहीं गया होता है। कई दफे आपको लगा होगा कि किसी का नाम भूल गए। याद है, लोग कहते हैं जीभ पर रखा है, फिर भी याद नहीं आता। बड़े अजीब लोग हैं। अगर जीभ पर ही रखा है, तो और क्या दिक्कत है ? मगर उनकी कठिनाई मैं समझता हूँ। उनकी कठिनाई सच्ची है, जीभ पर ही रखा है। उन्हें पक्का पता है कि याद है और याद नहीं आ रहा है। ये दोनों बातें एक साथ हो रही हैं। इसका मतलब यह हुआ, उन्हें याद है, पर यह याद कहाँ होगी ? यह याद उनके विचार के तल के नीचे है; और विचार के तल में पकड़ में नहीं आ रहा है। कई दफा अगर आप बहुत कोशिश करें—इन टू मच हरी, सवार हो जाएँ खोजने के लिए, तो न मिलेगा। घबड़ा जाएँगे, परेशान हो जाएँगे। सिर पीट लेंगे। फिर भूल जाएँगे। छोड़ देंगे कि जाने दो। चाय पी रहे हैं और अचानक, वह जो नहीं मिल रहा था, निकल आया और आ गया। यह कहाँ से आया, यह कहाँ था ? निश्चित ही यह विचार में तो नहीं था, नहीं तो आप पहले ही पकड़ लेते। यह विचार से नीचे के तल पर था।

तीन तल हुए—एक वाणी मे प्रकट हो, एक विचार में प्रकट हो, एक विचार के नीचे अचेतन में हो। ऋषि कहते हैं, उसके नीचे भी एक तल है। अचेतन में भी होता है, तो भी उसमें आकृति और रूप होता है। उसके भी नीचे एक तल है। उसे महा अचेतन कहें, जहाँ उसमें रूप

और आकृति भी नहीं होती। वह अरूप होता है। जैसे एक बादल आकाश में भटक रहा है। अभी वर्षा नहीं हुई। ऐसा एक कोई अज्ञात तल पर भीतर कोई संभावित, पोटेंशियल विचार घूम रहा है। वह अचेतन में आकर अंकुरित होगा, चेतन में आकर प्रकट होगा, वाणी में आकर अभिव्यक्त हो जाएगा। ऐसे चार तल हैं। गायत्री उस तल पर उपयोग के लिए है, जो अन्तिम तल है, सबसे नीचे। उस तल पर अजपा का प्रवेश है।

तो आप जप का नियम समझ लें। अगर कोई भी जप शुरू करें—समझें कि राम, राम जप शुरू करते हैं, या 'ओम्, ओम्', या 'अल्लाह, अल्लाह', कोई भी जप शुरू करें तो पहले उसे वाणी से शुरू करें। पहले कहें, राम, राम, राम—जोर से कहें। फिर जब यह इतना सहज हो जाए कि करना न पड़े और होने लगे—इसमे कोई एफर्ट (प्रयास) न रह जाए पीछे, प्रयत्न न रह जाए, यह होने लगे; जैसे श्वांस चलती है, ऐसा हो जाए कि राम, राम चलता ही रहे, तो फिर ओंठ बन्द कर लें। फिर उसको भीतर चलने दें। फिर न बोलें राम, राम—फिर भीतर ही बोल चले राम, राम, राम। फिर इतना इसका अभ्यास हो जाए कि उसमें भी प्रयत्न न करना पड़े, तब इसे वहाँ से भी छोड़ दें, तब यह और नीचे डूब जाएगा और अचेतन मे चलने लगेगा—राम, राम, राम। आपको भी पता न चलेगा कि चल रहा है, पर चलता रहेगा। फिर वहाँ से भी नीचे गिरा दिए जाने की विधियाँ हैं और तब वह अजपा मे गिर जाता है। फिर वहाँ राम, राम भी नहीं चलता। फिर राम का भाव ही रह जाता है—जस्ट क्लाउड लाइक, एक बादल की तरह छा जाता है। पहाड़ पर कभी बादल बैठ जाता है धुआँ-धुआँ, ऐसा भीतर प्राणों के गहरे मे अरूप छा जाता है। उसको कहा है ऋषि ने—अजपा। और अब कोई मन्त्र अजपा हो जाए, तब वह गायत्री बन गया। अन्यथा वह गायत्री नहीं है।

इस अजपा का उपयोग क्या है? इस अजपा से सिद्ध क्या होगा? इससे सिद्ध होगा विकारमुक्ति। विकार दण्डो ध्येय.। इस अजपा का लक्ष्य है विकार से मुक्ति। बहुत अद्भुत कीमिया है, कैमेस्ट्री है इसकी। मंत्र शास्त्र का अपना पूरा रसायन है। मंत्र शास्त्र यह कहता है कि अगर कोई भी मंत्र का उपयोग अजपा तक चला जाए, तो आपके चित्त से सब वासनाएँ क्षीण हो जाएँगी। सब विकार गिर जाएँगे। क्योंकि जो व्यक्ति अपने अंतिम

अचेतन तल तक पहुँचने में समर्थ हो गया, उसको फिर कोई चीज विकार, ग्रस्त नहीं कर सकती, क्योंकि सब विकार ऊपर-ऊपर हैं। भीतर जो निर्विकार बैठा हुआ है, हमें उसका पता नहीं, इसलिए हम विकार से उलझे रहते हैं।

ऐसा समझें कि एक घाटी है अंधेरी, सीलन और बदबू से भरी हुई। वहां जंगली जानवर हैं और सांप हैं और सब कुछ उपद्रव है। एक आदमी उस घाटी में है। वह बड़ा परेशान है कि सांपों से कैसे बचूं और सिंह न खा जाय और कोई हमला न कर दे और अंधेरा है और बदबू है और बीमारी है। फिर वह आदमी पहाड़ पर चढ़ना शुरू कर दे। वह थोड़ा ऊपर पहुँचता है, सूरज की रोशनी मिल जाती है। वहां अंधेरा नहीं है। वहां सांप नहीं सरकते। घाटी मे अब भी सरक रहे होंगे। पर वह आदमी घाटी से बाहर आ गया। वह आदमी और ऊपर चलता है, वह प्रकाश-उज्ज्वल शिखर पर पहुँच जाता है, जहां कोई भय नहीं। अब भी घाटी में सांप सरक रहे होंगे।

ठीक ऐसे ही जब कोई अजपा तक किसी ध्वनि को पहुँचा लेता है, तो वह अपने भीतर उस गहराई मे पहुँच जाता है, जहां विकार नहीं जमते, वे सतह पर चलते हैं – ऊपर, ऊपर। हम वहीं लड़ते रहते हैं, इसलिए परेशान रहते हैं। मन्त्र शास्त्र कहता है, वहां मत लड़ो, वहां से हट जाओ। तुम्हारे भीतर और भी बडी जमीन हैं। तुम्हारे भीतर और भी फैलाव हैं। तुम्हारे भीतर और गहराइयां, है, और शिखर हैं, वहां चले जाओ। लड़ो मत। एक दफा हट जाओ और अपने शिखरो को जान लो, फिर तुम लौटकर भी आ जाओगे उसी जगह पर, तो तुम वही आदमी नहीं हो। तब तुम अपने भीतर इतनी महिमा को जानकर लौटते हो कि तुम्हें क्षुद्र विकार पराजित न कर सकेंगे। तब तुम अपनी इतनी शक्ति से परिचित होकर लौटते हो कि तुम्हें अंधेरा भयभीत न कर सकेगा। तुमने अपने स्वरूप का दर्शन किया है और अब तुम्हें कोई लुभा न सकेगा, पर एक दफा वहां तक हो आओ।

तो अजपा का उपयोग है विकार-मुक्ति के लिए और प्रत्येक विकार से मुक्ति के लिए विशेष विशेष मंत्रों की व्यवस्था है। अगर कोई आदमी क्रोध से पीड़ित है, तो एक विशेष ध्वनि और मंत्र का आयोजन किया जाता है। उसको वह अजपा तक ले जाए, तो क्रोध के बाहर हो जाएगा। काम-वासना से पीड़ित है, तो दूसरा। भय से पीड़ित है, तो तीसरा। ध्वनियों के ऐसे समूह

हैं, जिनके माध्यम से आपके विकारों को चोट की जाती है और उसे तिरोहित किया जा सकता है। कुछ महाध्वनियाँ हैं। महाध्वनियाँ ऐसी औषधियाँ हैं, जो सभी विकारों पर काम करती हैं। जैसे अभी हम एक ध्वनि का उपयोग कर रहे हैं—हुंकार। वह महाध्वनि है। उसकी चोट इतनी गहरी है कि अलग-अलग विकारों से लड़ने की जरूरत नहीं है, अगर वह एक ही चोट अजपा तक पहुँच जाए, तो सब विकार विसर्जित हो जाते हैं।

'अल्लाह' शब्द से हम सब परिचित हैं। 'अल्लाह' शब्द में भी 'हुंकार' का ही उपयोग है। जब कोई साधक 'अल्लाह' का उपयोग करता है, तो जो उपयोग बनता है वह होता है: अल्लाहु, अल्लाहु, अल्लाहु। फिर 'अल्ला' छूट जाता है और लाहु, लाहु, लाहु बच रहता है। फिर 'ला' भी छूट जाता है। फिर "हु, हु, हु" रह जाता है। और आखिर में 'हु' भी टूटता चला जाता है और अजपा बन जाता है। जब 'हु' अजपा बन जाता है, तो सब विकार तिरोहित हो जाते हैं।

तिब्बती महामंत्र है: "ओम् मणि पद्मे हुं"। वह "हू, हू, हू" का ही रूप है। 'ओम्' भी 'हू' जैसा काम कर सकता है। लेकिन अब शायद नहीं। बहुत सरल लोग हों, तो 'ओम्' भी 'हू' का काम करता है, लेकिन बहुत जटिल लोगों पर काम नहीं करता। क्योंकि ओम् की जो चोट है, वह बहुत माइल्ड (हल्की) है। 'ओम्' की जो चोट है, वह बहुत माइल्ड है; 'हू' की चोट बहुत गहरी है। घाव गहरा है। 'ओम्' की चोट बहुत माइल्ड है। वह बहुत कम मात्रा की दवा है। वह उनके लिए उपयोग में लाई गई थी, जो ज्यादा बीमार ही न थे। सरल चित्त के लोग थे, निर्दोष लोग थे, चालाक न थे, 'कनिंग' न थे, बेईमान न थे। सरल थे। 'ओम्' उनके लिए काफी था। होमियोपैथी की छोटी-सी मात्रा उनकी बीमारी को ठीक करती थी। अब एलोपैथी के बिना नहीं चल सकता। 'हू' एलोपैथिक है, 'ओम्' होमियोपैथिक है। 'हू' की चोट भयंकर है। गहरे से गहरे तक जाने वाली है। वह अजपा में उतर जाए, तो 'हू' गायत्री बन जाएगा और विकार विसर्जित हो जाएगा। कोई भी मंत्र गायत्री बन जाता है, जब अजपा हो जाए। यही सूत्र का अर्थ है, अजपा गायत्री, विकार दण्डो ध्येयः।

मन का निरोध ही उनकी झोली है। वे जो संन्यासी हैं, उनके कन्धे पर एक ही बात टँगी हुई है चौबीस घंटे—मन का निरोध, मन से मुक्ति, मन के

पार हो जाना। आपने एक शब्द सुना होगा, खाना-बदोश। यह बहुत बढ़िया शब्द है। इसका मतलब होता है, जिनका मकान अपने कन्धे पर है—खाना बदोश। खाना का मतलब होता है मकान, जैसे दवाखाना में खाना, यानी मकान। 'दोश' का मतलब होता है कन्धा। 'बदोश' का मतलब होता है, कन्धे के ऊपर। जो अपने कन्धे पर ही अपना मकान लिये हुए हैं, उनको 'खानाबदोश' कहते हैं—घुमक्कड़ लोग, जिनका कोई मकान नहीं है, कन्धे पर ही मकान है। सन्यासी भी अपने कन्धे पर एक चीज ही लिये चलता है चौबीस घण्टे : मन का निरोध। वही उनकी श्वांस की सतत धारा है, मन के पार कैसे जाऊँ। क्योंकि मनातीत है सत्य। मन के पार कैसे जाऊँ, क्योंकि मनातीत है अमृत। मन के पार कैसे जाऊँ, क्योंकि मनातीत है प्रभु। जाया जा सकता है। ध्यान उनका मार्ग है।

●

दसवाँ प्रवचन

साधना-शिविर, माऊण्ट आबू, प्रातः, दिनांक ३० सितम्बर, १९७१

आनंद और आलोक की अभीप्सा, उन्मनी गति और परमात्म-आलम्बन

योगेनसदानन्दस्वरूप दर्शनम् ।

आनन्द भिक्षाशी ।

महाऽमशानेऽप्यानन्द वने वास. ।

एकान्तस्थान मठम् ।

उनमन्यवस्था शारदा चेष्टा ।

उन्मनी गति : ।

निर्मलगात्रम् निरालम्ब पीठम् ।

अमृतकल्लोलानन्द क्रिया ।

''योग द्वारा वे सदैव आनद-स्वरूप का दर्शन करते हैं ।

आनन्द-रूप भिक्षा का भोजन करते हैं ।

महाश्मशान मे भी आनन्ददायक वन के समान निवास करते हैं ।

'एकान्त ही उनका मठ है ।

प्रकाश-अवस्था के लिए वे नित नूतन चेष्टा करते हैं ।

अ-मन में ही वे गति करते हैं ।

उनका शरीर निर्मल है, निरालम्ब उनका आसन हैं ।

जैसे निनाद करती अमृत सरिता बहती है, ऐसी उनकी क्रिया है ।"

आनंद सदैव न हो तो आनंद नही है। दुख आता है, जाता है। सुख भी आता है और जाता है। जो न कभी आता है और न कभी जाता है, उसका नाम ही आनद है। जो है ही हमारे भीतर, जो हमारा स्वभाव है, स्वरूप है। जो भी आता है और जाता है, वह 'पर' भाव है। वह स्वभाव नही है। वह हम नही हैं। जो भी हम पर आ जाता है और चला जाता है, वह हम नहीं हैं। हम तो वह हैं, जिस पर दुख आता है, जिस पर सुख आता है। हम भिन्न हैं। जिस पर सुख-दुख आते हैं वह 'स्वभाव' आनन्दस्वरूप है। पर हमें उस स्वभाव का पता ही नहीं चलता। हम उसमें ही उलझे रहते हैं, जो आता है और जाता है। जैन फकीर कहते हैं, द होस्ट इज लॉस्ट इन द गेस्ट। वह जो मेजबान है, वह मेहमानों में खो गया। घर का जो मालिक है, जो आतिथेय है वह अतिथियों की सेवा करते-करते यह भूल ही गया है कि मैं भी हूँ—अतिथियों से अलग, भिन्न, पृथक्। ऐसे ही हम अतिथियों की सेवा करते-करते भूल ही गए है कि हम कौन हैं।

दुख जिसमे निवास कर लेता है, सुख जिसमें निवास कर लेता है, वह कौन है ? वह कौन है जो अनुभव करता है कि मैं दुखी हो रहा हूँ ? वह कौन है जो अनुभव करता है कि मैं सुखी हो रहा हूं ? निश्चित ही वह सुख और दुख से अलग है, क्योंकि अनुभव करने वाला अलग ही होगा। अनुभोक्ता पृथक् ही होगा। मैं इस वृक्ष को देखता हूँ, तो मैं इस वृक्ष से अलग हो गया। मैं

आपको देखता हूँ, तो आपसे अलग हो गया। मैं अपने शरीर को देखता हूँ, तो मैं अपने शरीर से अलग हो गया। वह जो देखनेवाला है, वह दृश्य से अलग हो गया। हो ही जाएगा, नहीं तो देख नहीं पाएगा। अगर द्रष्टा दृश्य से अलग न हो, तो देखेगा कैसे! देखने के लिए फासला चाहिए, डिस्टेंस चाहिए, दूरी चाहिए। तो जिसे भी हम देख पाते हैं, उससे हम भिन्न हो जाते हैं। इसीलिए हम परमात्मा को देख नहीं पाते। क्योंकि उससे हम भिन्न नहीं हैं। उससे हम अभिन्न हैं। देखेगा कौन, देखेगा किसको? उसके साथ हम एक हैं। जिसे हम छू पाते हैं, उससे अलग हो जाते हैं; जिसे सुन पाते हैं, उससे अलग हो जाते हैं। इंद्रियाँ जो भी जानती हैं, उससे हम अलग हो जाते हैं। मन जो भी पहचानता है, उससे हम अलग हो जाते हैं। सुख को भी जानते हैं, दुख को भी जानते हैं। जब सुख आता है, तब आप भलीभाँति जानते हैं कि सुख आया। दुख आता है, तब भलीभाँति जानते हैं कि दुख आया। दुख जाता है, तब भी जानते हैं कि दुख जा रहा है। यह जो जानने वाला है, यह अलग है। यह भिन्न है। यही स्वरूप है। इस स्वरूप में वे योग के द्वारा थिर हो जाते हैं और सदैव आनन्द का अनुभव करते हैं।

जो व्यक्ति इस भीतर के स्वरूप में थिर हो जाता है, रमण को उपलब्ध हो जाता है, स्वयं में स्वस्थ हो जाता है, स्वयं में स्थित हो जाता है, ऐसा व्यक्ति (उपनिषद् का ऋषि कहता है) सदैव आनन्द में डूबा रहता है। क्या फिर उसके ऊपर दुख नहीं आते? क्या फिर बीमारी नहीं आती? क्या फिर जरा नहीं आती? क्या फिर मृत्यु नहीं आती? नहीं, मृत्यु तो फिर भी आती है लेकिन उस पर नहीं आती। वह पार और दूर और अछूता (अनटच्ड) खड़ा रह जाता है। दुख तो अब भी आते हैं, बीमारियाँ अब भी आती हैं, पैरों में अब भी काँटे गड़ते हैं, बुढ़ापा अब भी आता है, लेकिन अब उस पर नहीं आता। वह दूर खड़ा रह जाता है, अस्पर्शित—कमल के पत्ते-जैसा। पानी की बूँद उस पर पड़ी है, लेकिन फिर भी छूती नहीं। पानी में डूबा है पत्ता, फिर भी दूर। पानी और पत्ते के बीच एक बारीक फासला है।

जीसस को सूली लगती है, तो शरीर तो मर जाता है, पर जीसस दूर खड़े रह जाते हैं। मंसूर को काटा जाता है, शरीर तो टुकड़े-टुकड़े हो जाता है, लेकिन मंसूर हँसता रहता है। जब कोई भीड़ में से पूछता है कि मंसूर, हँसने-जैसा इसमें कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। हाथ-पैर काटे जा रहे हैं।

मंसूर कहता है, तुम जिसे काटते हो, अगर वह मैं होता, तो निश्चित ही न हँसता, न हँस पाता। हँस रहा हूँ, इसलिए कि तुम जिसे समझ रहे हो कि मैं हूँ, वह मैं नहीं हूँ। और जो मैं हूँ, उसे तुम काट न पाओगे।

स्वरूप को, आनन्द को अनुभव करनेवाला व्यक्ति दुख से घिर सकता है लेकिन दुख के तादात्म्य में नहीं पड़ता। अंधेरा उसे घेर ले सकता है, लेकिन वह स्वयं अंधकार कभी नहीं होता। हमारे और उसके बीच एक ही फर्क है। जो हमें घेरता है, हम उसके साथ अपने को एक ही मान लेते हैं। ऐसा हम नहीं कहते कि मुझ पर दुख आया, कहते हैं, मैं दुखी हो गया। एक तादात्म्य (आइडेन्टिटी) बना लेते हैं।

गुरजिएफ की सारी साधना एक ही बात की थी। वह कहता था, नॉन-आइडेंटिफिकेशन, तादात्म्य तोड़ना—बस यही साधना है। हम चीजों से जुड़ जाते हैं और इतने जुड़ जाते हैं कि लगने लगता है, यही मैं हूँ। जैसे दर्पण में कोई तस्वीर बने और दर्पण समझ ले कि यह तस्वीर मैं ही हूँ। जैसे झील में चाँद दिखाई पड़ने लगे और झील कहने लगे, मैं चाँद हूँ। ऐसे हम हो जाते हैं। दुख झलकता है भीतर। दुख की छाया बनती है, तो मैं दुख हो जाता हूँ। सुख आता है, तो मैं सुख हो जाता हूँ। अशांति आती है, तो मैं अशांति हो जाता हूँ। शांति आती है, तो मैं शांति हो जाता हूँ। अपने को पार नहीं रख पाता, दूर नहीं रख पाता कि जो आ रहा है, वह मैं नहीं हो सकता, क्योंकि मैं तो उसके आने के पहले से ही मौजूद हूँ। जब दुख नहीं आया था, तब भी मैं था और जब दुख चला जाएगा, तब भी मैं होऊँगा, तो मेरा होना दुख के साथ एक नहीं हो सकता। कितना ही दुख घेर ले, तब भी मैं किसी तल पर दूर ही खड़ा रह जाता हूँ। इस दूरी की प्रतीति, इस तादात्म्य का टूट जाना (नॉन-आइडेंटिफिकेशन) ही योग है। ऋषि कहता है, 'योगेन', योग के द्वारा वे सदैव आनन्दस्वरूप में स्थित, सदैव आनन्द का दर्शन करते रहते हैं। क्षण भर को भी फिर आनन्द स्खलित नहीं होता। क्षण भर को भी आनन्द से सम्बन्ध नहीं टूटता। अभी भी टूटा नहीं है। सिर्फ स्मरण नहीं है। आइडेंटिफिकेशन, तादात्म्य स्मृति को नष्ट करता है, स्थिति को नहीं।

विवेकानन्द निरन्तर एक कहानी कहा करते थे। बहुत पुरानी कथा है भारतीय मनीषियों की। एक सिंहनी ने छलांग लगाई एक पर्वत से। छलांग

के बीच ही उसको बच्चा हो गया। वह गर्भिणी थी। नीचे से भेड़ों की एक भीड़ गुजरती थी, वह बच्चा उसमें गिर गया। भेड़ों ने उसे बड़ा किया। भेड़ों के बीच ही वह रहा। भेड़ों का ही दूध पीया, भेड़ें ही उसकी माँ थीं, पिता थे, संगी-साथी थे, मित्र थे। उस सिंह को कभी पता ही नहीं चला कि वह सिंह है। पता चलता भी कैसे ! पता चलने का कोई उपाय भी न था। वह सिंह अपने को भेड़ मानकर बड़ा हुआ। हालाँकि उसके मानने से कुछ फर्क न पड़ा। रहा वह सिंह ही। लेकिन फिर भी फर्क पड़ा। फर्क यह पड़ा कि वह भेड़-जैसा व्यवहार करने लगा। भेड तो था नहीं, हो भी नहीं सकता था। लेकिन भेड-जैसा व्यवहार उसका हो गया। एक दिन बड़ी अनूठी घटना घटी। एक सिंह ने उस भेड़ों की भीड पर हमला किया। वह सिंह यह देखकर चकित हुआ कि उस भेड़ों की भीड में भेड़ो से बहुत ऊपर उठा हुआ एक सिंह भी चल रहा है। भेड़ो-जैसा ही वह उनके साथ चल रहा था। न भेड भागती है उससे, न वह सिंह। इस सिंह को देखकर भेड़ें भागीं, वह सिंह भी भागा। सिंह तो बहुत चकित हुआ कि इस सिंह को क्या हो गया ! आइडेंटि-फिकेशन, तादात्म्य हो गया। भेड़ों के बीच रहते-रहते, भेड़ों की आकृति मन में बनते-बनते सिंह ने समझा कि मैं भेड हूँ।

सिंह ने भेड़ों की तो फिक्र छोड दी। इस दूसरे सिंह ने उस सिंह को पकड़ने की चेष्टा की। बामुश्किल पकड पाया, क्योंकि था तो वह सिंह, और भागता भी सिंह की तरह था। गति उसकी सिंह की थी, मान्यता उसकी भेड़ की थी। बाकी तो किसी भी भेड को पकड़ लेना उस दूसरे सिंह को बडा आसान था। इस सिंह को तो घण्टों बाद बामुश्किल पकड़ पाया। पकडते ही सिंह तो मिमियाने लगा, जैसा भेड़ें मिमियाती हैं। उसको गर्जन का कोई पता ही न था। लेकिन गर्जन अब भी उसके हृदय के किसी कोने मे पडा था। अभी भी बीज थी, पर अंकुरित नहीं हुई थी। उसे सिंह-गर्जन का कोई अनुभव ही नहीं था। कर सकता था, कैपेसिटी थी, क्षमता थी, लेकिन योग्यता न थी। कैपेबिलिटी और एबिलिटी का फर्क था। कैपेबिल था। कोई कारण न था, जब चाहे तब सिंह-गर्जन कर सकता था। लेकिन योग्यता न थी, क्योंकि योग्यता को तादात्म्य ने नष्ट कर दिया था। खयाल में नहीं था। दूसरे सिंह ने पकड़ा, तो हाथ-पैर जोड़ने लगा, सिर रखने लगा, उसके पैरों पर मिमियाने लगा। आँखों से आँसू बहने लगे। कहने लगा,

क्षमा करो। छोड़ दो। दूसरे सिंह ने कहा, तुझे हो क्या गया है ? तू भेड़ नहीं है। उसने कहा, नहीं, मैं भेड़ हूँ। मैं भेड़ ही हूँ। तुम भूल मे पड़े हो। सिंह ने बहुत समझाने की कोशिश की, लेकिन समझाने से कहीं कुछ समझ मे आता है ? जितना वह समझाने लगा, उतना वह और घबराने लगा। वह कहने लगा, तुम मुझे सिर्फ छोड़ दो। मुझे ज्ञान की कोई जरूरत नही। मुझे मेरे मित्रों के पास जाने दो। उनके बिना मैं बहुत घबरा रहा हूँ। भेड़ भीड़ के बिना नहीं जी सकती। एकांत में तो सिंह ही जी सकता है। भेड़ तो भीड़ में ही जी सकती है, क्योंकि भीड़ में उसे सुरक्षा मालूम पड़ती है, सब तरफ अपने हैं। परिवार, प्रियजन, पत्नी, मित्र, बेटे सब अपने हैं। तो भीड़ के बीच में भेड़ सुरक्षित है, कोई डर नहीं है। अपने पर जिसे भरोसा नही है, उसे सदा भीड़ पर भरोसा होता है। भीड़ ही उसका सहारा है। सिंह अकेला जी सकता है, लेकिन सिंह होने का पता हो तब न। सिंह को भीड़ में नहीं रखा जा सकता।

कोई उपाय न देखकर उस सिंह ने उसको घसीटा। घसिट गया, क्योंकि वह भेड़ था। ऐसे यह जवान था और सिंह बूढ़ा था। लेकिन जवान सिंह बूढ़े सिंह से घसिट गया, क्योंकि बूढ़ा होने पर भी सिंह था। यह जवान होने पर भी भेड़ था। घसीट लिया उसने उसे। नदी के किनारे ले गया और कहा, देख पानी में। मेरी शकल और तेरी शकल में कोई फर्क है ? झांका, झांकते ही गर्जन निकल आया। वह बीज की तरह जो संभावना पड़ी थी, वह अंकुरित हो गई। झांककर देखा, दोनो शकलें एक-सी थीं। रोमाच हो गया होगा, रोएँ खड़े हो गए होंगे। भूल गया कि वह भेड़ है, गर्जन फूट पड़ा भीतर।

गुरु का काम समझाना कम, दिखाना ज्यादा है। कही किसी प्रतिबिम्ब द्वारा समझाना ज्यादा है कि जो मेरी शकल है, वही तुम्हारी भी है। जो मेरे भीतर छिपा हैं, वही तुम्हारे भीतर भी छिपा है। किसी भी क्षण गर्जना निकल सकती है, क्योंकि वह भीतर का स्वभाव है।

ऋषि कहता है, सदैव उस आनन्द का अनुभव हो सकता है, लेकिन योग के द्वारा। योग का अर्थ है वे प्रक्रियाएँ, जिनके द्वारा आप अपनी असली शकल को पहचान लेंगे। अपने मौलिक दशा को, ओरीजिनल स्टेट को समझ लेंगे। बड़े आइडेंटिफिकेशन्स (तादात्म्य) हैं। उस सिंह पर तो ज्यादा मुसीबत न थी, एक ही उसका तादात्म्य था कि मैं भेड़ हूँ। हमारे तादात्म्य का कोई

अन्त नहीं। हजार-हजार तादात्म्य हैं। मैं हिन्दू हूँ, मैं मुसलमान हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं शरीर हूँ, मैं मन हूँ, मैं यह हूँ, मैं वह हूँ। कितने हजार! मैं धनी हूँ, मैं निर्धन हूँ, मैं सुन्दर हूँ, मैं कुरूप हूँ, मैं दुर्बल हूँ, मैं सबल हूँ। उस सिंह को तो ज्यादा कठिनाई न थी, इसलिए गुरु को बहुत आसानी पड़ी। सिर्फ नदी मे चेहरा दिखा दिया। आपके इतने चेहरे हैं कि आपको पक्का पता ही नहीं कि आपका असली चेहरा क्या है। अगर आपको नदी मे भी झुकाया जाए, तो आप कोई दूसरी ही मास्क (मुखौटा) जो उस वक्त अपने चेहरे पर ओढे होगे, वही दिखाई पड़ेगा पानी मे भी। और चेहरे इतने हैं हमारे पास कि हम चेहरो के एक संग्रह हैं। सब तादात्म्य तोड़ने पडें, तो स्वरूप का पता चलता है। सब मुखौटे उतारने पडें, तो स्वरूप का पता चलेगा।

योग प्रक्रिया है हमारे झूठे चेहरो को तोड़ डालने की, फाड़ डालने की—सब चेहरो को, जो चेहरे भी हटाये जा सकते हैं, उन्हें हटा डालने की। जो नही हटाया जा सकता, वही हमारा 'ओरीजनल फेस,' वही हमारा मौलिक चेहरा है। जो नहीं हटाया जा सकता। जो नही काटा जा सकता। न कोई योग काट सकता, न कोई तलवार काट सकती। न कोई विधि मिटा सकती। सब उपाय मिटाने के, करने के बाद भी जो पीछे सदा शेष रह जाता है, जिसको मिटाने का कोई उपाय नही, हटाने का कोई उपाय नही, वही मेरा स्वभाव है। जिसको भी आप हटा सकते हैं, समझना वह चेहरा है। आप कहते हैं, मैं हिन्दू हूँ, मैं मुसलमान हूँ, मैं ईसाई हूँ। इसे हटाने में कोई दिक्कत है! ईसाई को हिन्दू होने में कोई अड़चन है? हिन्दू को मुसलमान होने मे कोई दिक्कत है? जाकर चोटी कटा ले, मस्जिद मे चला जाए, नमाज पढने लगे, तो मुसलमान हो गया। जिस चेहरे के बदलने में इतनी सुविधा हो, वह 'ओरीजनल फेस' नहीं हो सकता। वह मुखौटा है। अभी हिन्दू का मुखौटा लगाए थे, अभी मुसलमान का मुखौटा लगा लिया। गरीब को अमीर होने में कोई बड़ी अड़चन है? डाका डालना भर आना चाहिए। अमीर को गरीब होने मे कोई अड़चन है?

मुल्ला नसरुद्दीन के दरवाजे पर एक भिखारी एक सुबह खड़ा हुआ भीख माँग रहा था। मुल्ला ने उससे कहा, तेरी यह हालत कैसे हो गई? ऐसे तो स्वस्थ दिखाई पड़ते हो। तेरी यह हालत कैसे हो गई? आँख से उस भिखारी

के आंसू गिरने लगे। उसने कहा, मत पूछो मेरा हाल। बड़ी बेहाली का है। मुल्ला ने जल्दी से सौ रुपए का एक नोट निकाला और उसको दिया। उसने आंसू पोंछकर जेब में नोट रख लिया और मुल्ला से कहा, यही कर-कर के मैं भी गरीब हो गया हूँ। सावधान रहना, ऐसे ही बांट-बांट कर मैं फंस गया। जरा सरलता हो, तो अमीर को गरीब होने में कोई दिक्कत है? जरा बेईमानी हो, तो गरीब को अमीर होने में कोई कठिनाई है?

चेहरा बदलना जहाँ इतना आसान हो, वह चेहरा हमारा मौलिक चेहरा नहीं हो सकता, वह हमारा स्वरूप नहीं हो सकता। एक बात ध्यान रखें कि जो भी बदला जा सकता है वह हमारा स्वभाव नहीं है। लेकिन कुछ बातें हम सोचते हैं, नहीं बदली जा सकती। आप गलती में हैं। गरीब का अमीर होना मुश्किल है, हिन्दू का मुसलमान होना मुश्किल, पुरुष का स्त्री हो जाना बहुत ही सुगम है। एक इंजेक्शन से हो सकता है। एक ग्लैंड काट देने से हो सकता है। और जल्दी ही, जो अभी जवान हैं, पैंतीस साल के इस तरफ हैं वह अपनी जिन्दगी मे यह देख पाएंगे कि आदमी के लिए सुविधा हो जाएगी अल्टरनेटिव की (विकल्प की) कि कोई आदमी पुरुष होने से थक गया, तो स्त्री हो जाएगा। स्त्री होने से थक गया, तो पुरुष हो जाएगा। थक तो जाते हैं सभी। स्त्रियाँ सोचती हैं, पता नहीं पुरुष कौन-सा आनन्द ले रहे हैं; पुरुष सोचते हैं, स्त्रियाँ, पता नहीं, कौन-सा आनन्द ले रही हैं। बदलाहट जल्दी हो जाएगी। अब तो उपाय खोज लिये गए हैं, अब कठिनाई नहीं है। जरा से ही हार्मोन्स का फर्क है, और कुछ बात नहीं है। हार्मोन बहुत ज्यादा भी नहीं, एक सीरिंज मे समा जाए इतना। उनको डाल देने से पुरुष स्त्री हो सकता है, स्त्री पुरुष हो सकती है। तब स्त्री पुरुष का यह चेहरा फिर मौलिक नहीं रह गया। यह स्त्री या पुरुष होना कोई बडी मतलब की बात नहीं है। यह बडी ऊपरी है, कपडों जैसी है। अब तक हम कपड़े बदलना नहीं जानते थे, यह बात दूसरी है। अब हम जानते हैं। लेकिन ऋषि तो बहुत पहले से कहते रहे हैं जब कि स्त्री पुरुष नही बनाई जा सकती थी, तब भी वे कहते थे, तुम न स्त्री हो, न तुम पुरुष हो। तुम तो वह हो, जो भीतर मे जानता है कि मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ। तुम तो वह ज्ञाता हो।

प्रवेश करना है भीतर वहाँ, जहाँ कोई आवरण नहीं रह जाता। जहाँ सिर्फ वही रह जाता है, जो जानने की क्षमता है। बस जानना मात्र एक ऐसी

चीज हूं जिससे हम अपने को अलग नहीं कर सकते, जिससे हमारा तादात्म्य नहृ ! है, जो हमारा स्वरूप ही है। और जिस दिन कोई जानने की शुद्ध क्षमता को उपलब्ध होता हूं, उसी दिन आनन्द से भर जाता हूं। उसी दिन अमृत से भर जाता है। इसलिए ऋषियों ने उस स्थिति के लिए कहा है, सच्चिदानन्द। सत्, चित्, आनन्द। सत् का अर्थ है, वह जो सदा रहेगा—" इटरनल, द इटरनली ट्रू, शाश्वत रूप से जो सत्य होगा,। सत् का अर्थ है जो कभी भी अन्यथा नहीं होगा। चित् का अर्थ है चैतन्य, ज्ञान, बोध। जो सदा बोध से भरा रहेगा, जिसका बोध कभी नही खोएगा। और आनन्द का अर्थ है 'ब्लिस', जो सदा सुख-दुख के पार, एक परम रहस्य में, आनन्द मे, मस्ती मे डूबा रहेगा। एक ऐसी मस्ती में, जो बाहर से नही आती, जिसके स्रोत भीतर हैं। उस स्वभाव को कहा "सच्चिदानन्द"।

उपनिषद् का यह ऋषि कहता है, वे आनन्द-रूप भिक्षा का ही भोजन करते हैं। आनन्द भिक्षा है, आनन्द ही भोजन है। एक ही चीज मांगते हैं भिक्षा मे आनन्द, और कुछ भी नही मांगते। एक ही मांग है, एक ही अभीप्सा है—आनन्द, और एक ही भोजन है, एक ही आहार है—आनन्द।

इसे दो तरह से खयाल मे ले लेना जरूरी है। हम भी मांगते हैं, लेकिन हम आनन्द कभी नही मांगते। हम वे वस्तुएँ मांगते हैं जिनसे आनन्द मिल सके। इसमे फर्क है। हम मांगते हैं वे वस्तुएँ, जिनसे आनन्द मिल सके, जिनसे हमे खयाल है, आनन्द मिलेगा। सीधा आनन्द हम कभी नही मांगते। इसलिए कुछ विचारक हुए हैं, जिनका कहना है कि यह बात ही गलत है कि आदमी आनन्द चाहता है। पश्चिमी दार्शनिक डेविड ह्यूम कहता है, "नहीं, कोई आदमी आनन्द नही चाहता। मैने ऐसा आदमी नही देखा, जो आनन्द चाहता हो। कोई आदमी कार चाहता है, कोई आदमी बगला चाहता है, कोई आदमी पत्नी चाहता है, कोई आदमी बेटा चाहता है। कोई आदमी स्वास्थ्य चाहता है आनन्द तो मैंने किसी आदमी को चाहते नहीं देखा। वह ठीक कहता है, क्योंकि उपनिषद् के ऋषि से मिलना तो बहुत मुश्किल है। हम ही मिल जाते हैं। हम ही मिल जाते हैं सब तरफ। ह्यूम ठीक कहता है। जिससे भी पूछता है, कोई कहता है, जमीन चाहिए; कोई कहता है, धन चाहिए; कोई कहता है पद चाहिए। आनन्द तो कोई भी नहीं चाहता। कोई ऐसा मिलता नही जो कहता हो आनन्द चाहिए। पर क्यो ? कोई कार क्यों चाहता है, मकान क्यों चाहता

है, धन क्यों चाहता है, पद क्यों चाहता है ? क्या कारण है ? खयाल है उसका कि इसको चाहने से आनन्द मिलेगा। कार तो मिल जाती है, आनन्द नहीं मिलता। मकान मिल जाता है, आनन्द नहीं मिलता। धन मिल जाता है, आनन्द नहीं मिलता। जो हमने सोचा था कि वे साधन तो मिल जाते हैं लेकिन साध्य हमें नही मिलता। असल मे आनन्द का कोई भी साधन नहीं है। इसे थोड़ा समझ लें।

आनन्द का कोई भी साधन नहीं है। क्योंकि साधन उसके लिए होते हैं, जो हम से दूर हो। अगर मुझे उस पहाड़ की चोटी पर जाना है, तो साधन की जरूरत पड़ेगी ही। चढने के लिए, जाने के लिए, पहुँचने के लिए मार्ग चाहिए, विधि चाहिए, कोई बताने वाला चाहिए, कोई गाड़ी चाहिए, घोड़ा चाहिए, पैर चाहिए, कोई साधन चाहिए। लेकिन मुझे अपने ही भीतर जाना है, तो वहाँ कोई साधन नही जाएगा। अगर पराए के पास पहुँचना है, 'पर' के पास पहुँचना है तो बीच में सेतु चाहिए, लेकिन अगर अपने ही पास पहुँचना है, तो किसी सेतु की कोई जरूरत नही है। अगर दूर जाना है, तो चलना पड़ेगा और अगर अपने ही पास आना है, तो चलने की कोई भी जरूरत नही। चले कि भटक जाएंगे। चले कि दूर निकल जाएँगे। जो अपने को खोजने के लिए चलेगा, वह दूर निकल जाएगा, पास नहीं आएगा।

आनन्द सीधा ही चाहा जा सकता है, उसका कोई साधन नहीं है। क्योंकि वह हमारा स्वभाव है। हमे मिला ही हुआ है—आलरेडी गिवेन। जो मिला ही हुआ है उसे सिर्फ पहचानना पड़ता है, उसे पाना नहीं पड़ता। लेकिन मकान तो मिला ही हुआ नही है, जमीन तो मिली हुई नहीं है, धन तो मिला ही हुआ नहीं है। उसे लाना पड़ेगा, खोजना पड़ेगा, बनाना पड़ेगा, निर्मित करना पड़ेगा, अर्जित करना पड़ेगा। जो भी कमाया जा सकता है, वह आनन्द नही है। आनन्द तो 'अन-अर्न्ड' है, ऑलरेडी गिवेन है।

आनन्द को अर्जित करना नही होता, वह है ही। सिर्फ उस तल पर जा कर देखना ही काफी है। आँख भर भीतर मुड जाए तो काफी है। खजाना घर में ही गढ़ा है। हम बाहर खोजते हैं। मकान के चारो तरफ दौड़ रहे हैं, पूरी जमीन का चक्कर लगा रहे हैं। वह नही मिल रहा है। मिलेगा भी नही। जितना ही चक्कर में हम पड़ते जाएँगे, मिलने की संभावना उतनी ही

क्षीण होती जाएगी। क्योंकि चक्कर का एक तर्क है। जब आदमी दौड़ता है उसे खोजने जो उसके भीतर है, और दौड़कर नही पाता—(क्योंकि दौड़कर पा नहीं सकता। ठहर कर पा सकता है।) जब दौड़ता है और नहीं पाता है तो दौड़ का तर्क यह कहता है कि तुम जरा धीरे दौड़ रहे हो। इसलिए नहीं मिल रहा है। तेजी से दौड़ो, पूरी ताकत लगाओ।

दौड़ने का एक दूसरा तर्क भी है। जब वह पूरी ताकत लगा देता है तब भी नहीं मिलता, तो दौड़ने का तर्क कहता है कि तुम गलत रास्ते पर दौड़ रहे हो। रास्ता बदलो। रास्ता बदल दे और तेजी से दौड़ता रहे, अनेक रास्तों की पहचान कर ले तब भी आनन्द न मिले, तो दौड़ने का एक आखरी तर्क काम करता है। अगर फिर भी आनन्द न मिले, (मिलेगा ही नहीं, मिलने का तो कारण ही नहीं है) तो दौड़ने का तर्क कहता है, आनन्द है ही नही। इसलिए नहीं मिलता है।

ये तीन तर्क हैं दौड़ने के। पहले वह कहता है, जोर से दौड़ो तो मिलेगा, ऐसे धीरे-धीरे चलने से कहीं मिलता है? देखो पड़ोस के लोग कितनी तेजी से दौड़ रहे हैं। देखो फलां आदमी को मिल गया, वह दिल्ली पहुँच गया। उसको मिल गया आनन्द, तुम भी तेजी से दौड़ोगे, तो तुमको भी मिल जाएगा। तेजी से दौड़ो। फिर अगर तेजी से दौड़कर दिल्ली भी पहुँच जाओ और वहाँ न मिले, तो उसका मतलब है, रास्ता बदलो। गलत रास्ते पर दौड़ रहे हो। रास्ते जन्म-जन्म बदलोगे, क्योंकि अनंत रास्ते हैं जो कहीं नहीं ले जाते। कम से कम आनन्द तक तो नहीं ले जाते। क्योंकि आनन्द तक किसी रास्ते की जरूरत नही है। वह है भीतर, वहाँ आप खड़े हैं। सिर्फ आपकी नजर बहुत दूर के रास्तों पर भटक गई है, बहुत दूर चली गयी है—अपने से बहुत दूर चली गयी है। तो फिर आखीर में थका हुआ तर्क कहता है कि आनन्द होगा ही नहीं, इसलिए नहीं मिलता है। क्योंकि अगर होता, तो हमने सब रास्ते खोज डाले, सब साधन प्रयोग कर लिये, सब राजधानियाँ तलाश डाली, सब महलो मे रह चुके। नही, आनन्द है ही नहीं।

नीत्से ने कहा है, आनन्द है ही नहीं। जिसे तुम खोजते हो वह है ही नही, इसलिए मिलेगा कैसे! आनन्द सिर्फ आशा है। नीत्से ने कहा है, सिर्फ कल्पना है। नीत्से ने कहा है लेकिन जरूरी कल्पना है, क्योंकि उसके बिना आदमी को जीना बहुत मुश्किल पड़ेगा—ए नेसेसरी अनट्रुथ। नीत्से के लिए

सत्य है। एक आवश्यक झूठ। है नहीं कहीं आनन्द। लेकिन अगर ऐसा पता चल जाए कि आनन्द नहीं है तो आदमी यहीं गिरकर मिट्टी का ढेर हो जाएगा। चलेगा कैसे, बैठेगा कैसे, दौड़ेगा कैसे !

नीत्से ने कहा है, सत्य से नहीं जीता है आदमी, आदमी असत्य से जीता है। असत्य जरूरी है। नहीं तो जी नहीं सकता। उन्हीं के सहारे तो जीता है। और नीत्से पागल होकर मरा, मरेगा ही। क्योंकि यह आखिरी तर्क है दौड़ की बात। तीसरा तर्क है—अल्टीमेट। नीत्से बहुत विचारशील व्यक्ति था, बहुत विचारशील, अति विचारशील। कहा जा सकता है, इन सौ वर्षों में इतना तर्कयुक्त और इतना गहन विचार करनेवाला व्यक्ति दूसरा नहीं हुआ। लेकिन मरा बहुत दुख में। दुख में जिया, विक्षिप्त हुआ। इन सौ वर्षों में इतनी पेनिट्रेटिंग, इतनी गहरे प्रवेश कर जाने वाली बातें किसी दूसरे आदमी ने नहीं कहीं। लेकिन इस आदमी को क्या फल मिला ? वह आखिरी तर्क पर था। प्रतिभा थी, तो तर्क को उसने बिलकुल साफ-सुथरा कर लिया। उसने कहा, जो नहीं मिलता है इतना खोजने से, वह है ही नहीं। मिलेगा कैसे ?

ऋषि कहते हैं, नहीं मिलता है, फिर भी है। नहीं मिलता है, क्योंकि तुम खोजते हो, क्योंकि तुम दौड़ते हो। मिल सकता है, रुक जाओ, ठहर जाओ। मत दौड़ो, मत भागो, दृष्टि को मत भटकाओ। रोक लो, दृष्टि को भीतर डूब जाने दो। मिलता है, लेकिन खोजने से नहीं। क्योंकि वह पहले से ही मिला हुआ है। स्वरूप का यह अर्थ होता है, जो है ही। इसलिए आनन्द माँगना चाहिए, साधन नहीं। जो साधन माँगेगा, वह दौड़ता रहेगा, दौड़कर तर्कों में उलझता रहेगा और अनंत जन्मों तक यह दौड़ चल सकती है। इस दौड़ का कोई अन्त नहीं आता। और बुद्धि हो, विवेक हो, तो क्षण में यह दौड़ छूट सकती है और आदमी उसी क्षण भीतर प्रवेश कर सकता है। एक क्षण में भी यह घटना घट सकती है। और अनत काल में भी न घटे। अगर आप गलत दिशा में निकल पड़े हैं, तो अनंत काल चलने पर भी नहीं पहुँचेंगे और ठीक दिशा में एक कदम उठा लेने से भी पहुँचना हो जाता है। मंजिल दूर नहीं है। मंजिल बिलकुल भीतर है। यही उपद्रव है। अगर मंजिल दूर होती, तो हम पहाड़ चढ़ लेते, एवरेस्ट चढ़ जाते। प्रशान्त महासागर में दबी होती, तो डूब जाते। चाँद पर होती, पहुँच जाते। उपद्रव यही है कि मंजिल हमारे भीतर है। खोजी के भीतर गन्तव्य है। वही तकलीफ है।

तो ऋषि साधन नहीं मांगता। वह यह नहीं कहता कि हे प्रभु, मुझे धन दो, ताकि मैं आनन्द पा सकूं। मुझे बड़ा भवन दो कि मैं आनन्दित हो सकूं। वह कहता है, न भवन, न धन, तुम मुझे आनन्द ही दो। मुझे सीधा आनन्द ही दो। जब साधन से कोई आनन्द मिलता है, तो वह आनन्द नहीं होता है, सुख होता है।

ध्यान रखना, साधन से जब भी कुछ मिलता है, तो वह सुख होता है। और सुख थिर नहीं हो सकता। आता है, जाता है। इसलिए साधन से जो भी मिलता है, उससे दुख पैदा होता है, क्योंकि सुख आएगा और जब जाएगा तो दुख छोड़ जाएगा। असाधन से, बिना साधन के जो मिलता है, वह आनन्द है। इसलिए ध्यान को साधन मत समझना। ध्यान साधन नहीं है—नॉट ए मेथड। कहते हैं, क्योंकि कहने की तकलीफें हैं, कोई उपाय नहीं है। कहते हैं साधना कर रहे हैं। साधना का मतलब साधन का उपयोग कर रहे हैं। कहते हैं कि ध्यान एक साधन है। तो कहने की तकलीफें हैं, कोई उपाय नहीं, लेकिन ध्यान असाधन है—नो मेथड है।

ध्यान कोई साधन नहीं है, वस्तुतः कोई विधि नहीं है। ध्यान सब विधियों को छोड़कर अपने भीतर डूब जाने का नाम है। इसलिए जब तक विधि चलती है, तब तक ध्यान नहीं होता। विधि सिर्फ 'जंपिंग बोर्ड' (कूदने के लिए आधार) है। एक आदमी नदी में कूदता है, तख्ते पर खड़ा है। उछल रहा है, अभी नदी नहीं आई, अभी 'जंपिंग बोर्ड' पर है। फिर जंपिंग बोर्ड ने उसे फेंक दिया, छलांग मारी, वह नदी में चला गया। लेकिन एक मजे की बात है, जंपिंग बोर्ड नदी में छलांग लगाने के लिए सहयोगी बनता है। लेकिन अगर जंपिंग बोर्ड पर ही कूदते रहें, तो एक जिन्दगी नहीं, अनन्त जिन्दगी कूदते रहें, नदी में नहीं पहुँचेंगे। "मेथड कैन बी यूज्ड ओनली टु जम्प इन टु द नो-मेथड। विधि का उपयोग करना है, अविधि में कूदने के लिए।

हम जो ध्यान करते हैं, उसमें जो पहले तीन चरण हैं, वे सिर्फ जंपिंग बोर्ड हैं। चौथा चरण ध्यान है। तीन तो सिर्फ तैयारी है उछलने की, कूदने की, इतने जोश से भर जाने की कि हिम्मत जुटा कर कूद ही जाएं तो पानी में पहुंच जाएं। जहां ध्यान है, वहां कोई साधन नहीं, और जब तक साधन है, तब तक ध्यान नहीं। लेकिन ध्यान के लिए भी साधन का उपयोग करना पड़ता है, पर ध्यान स्वयं साधन नहीं है। ध्यान अवस्था है—ए स्टेट ऑफ

माइण्ड।

ऋषि कहता है आनन्द की ही वे भिक्षा माँगते हैं, वही उनका भोजन है। वही उनका आहार है, वही उनका जीवन है। साधन वे नहीं माँगते। जिसने साधन माँगा, वह गृहस्थ है। जिसने साध्य माँगा, वह संन्यासी है। जिसने रास्ते मागे, उसे मंजिल कभी न मिलेगी; जिसने मंजिल माँगी, उसके लिए मजिल यही है।

अगर आपसे कोई कहे कि आनन्द सीधा ही मिल जाता है, मत माँगो कार। तो जरा आंख बन्द करके भीतर सोचना। मन कहेगा, छोड़ो ऐसे आनन्द को, जो बिना कार के ही मिल जाता है। हम तो कार वाला, मकान वाला, महल वाला, स्त्री वाला, पुरुष वाला आनन्द चाहते हैं। छोड़ो ऐसे आनन्द को। ऐसे आनन्द में क्या रस होगा? करोगे क्या ऐसे आनन्द का? ऐसे आनन्द से विवाह करोगे? ऐसे आनन्द के साथ रहोगे, करोगे क्या ऐसे आनन्द को छोड़ो! ऐसे आनन्द में क्या हो सकता है जो बिना किसी चीज के मिल जाता है! चीज तो चाहिए ही। कण्टेनर तो चाहिए ही। डब्बा तो चाहिए ही, चाहे वह खाली ही हो। कण्टेंट से किसी को प्रयोजन नही। सन्यासी आत्मा ही माँगता है, काया नहीं। साधन नहीं, साध्य ही माँगता है। वस्तु नही, अस्तित्व ही माँगता है।

महाश्मशान मे भी वे ऐसे विचरण करते हैं, जैसे आनन्द-वन मे हो। मरघट मे भी ऐसे जीते हैं, जैसे महल में हों। असल मे मरघट और महल का फासला उनके लिए ही है, जिनके मन मे महल की आकाक्षा है। ध्यान रखना, मरघट और महल में कोई फासला नहीं है। फासला हमारी आकांक्षा का है। महल हम चाहते हैं, मरघट हम नही चाहते। इसी से फासला है, अन्यथा महल और मरघट मे क्या फासला है! जहाँ महल खड़े हैं, वहाँ मरघट बहुत दफे बन चुके। और जहाँ मरघट बने हैं, बहुत दफे महल बनकर गिर चुके हैं। सब महल अन्ततः मरघट बन जाते हैं और मरघटों पर महल खड़े हो जाते हैं। फर्क क्या है, फासला क्या है? हमारी आकांक्षा में फासला है।

महल हम चाहते है, मरघट हम नहीं चाहते। इसलिए महल तो हम बस्ती के बीच में बनाते हैं, और मरघट गाँव के बाहर, कि दिखाई भी न पड़े। उधर से गुजरना भी न पड़े। ऐसी जगह बनाते हैं, जहाँ से कोई रास्ता भी न गुजरता हो, आगे न जाता हो, मरघट पर ही खत्म हो जाता हो। और

मरघट हम सदा दूसरों को पहुँचाने जाते हैं। दूसरों को पहुँचाने में तो बड़ा रस भी आता है। अपने को पहुँचाने का तो मौका नहीं आता। दूसरे करते हैं वह काम। जब हमने उनकी इतनी सेवा की, तो वे भी हमारी कुछ सेवा करेंगे ही।

मुल्ला नसरुद्दीन के पड़ोस में किसी की पत्नी मर गई। यह तीसरी पत्नी थी। पहले दो और मर चुकी थीं। ऐसी अच्छी पत्नियाँ मुश्किल से मिलती हैं। मुल्ला मित्र की दो पत्नियों को मरघट तक पहुँचा आया था। तीसरी मर गई। मरघट पर ले जाने की तैयारी हो गई। मुल्ला की पत्नी बार-बार देखती है कि मुल्ला बैठा ही हुआ है। उसने कहा, जाना नहीं है, लोग बिलकुल तैयार हो गए, बैण्ड-बाजा बजने लगा। मुल्ला ने कहा, मैं बार-बार जाता हूँ और उसको मैंने अभी तक एक बार भी मौका नहीं दिया—नॉट ए सिंगल अपरचुनिटी। अच्छा भी तो नहीं लगता है, संकोच भी होता है। उसकी पत्नियों को मैं दो बार पहुँचा आया और मैंने उसे एक भी मौका नहीं दिया, तो बार-बार जाना अच्छा नहीं है, जब तक चुका न दें। एकाध तो कम से कम हम भी मौका दें। फिर मर जाना ठीक होगा। उसका काफी ऋणी हो गया हूँ।

तो दूसरों को हम पहुँचाते हैं, बड़े दुख से पहुँचाते हैं। बड़ा दुख प्रकट करते हुए पहुँचाते हैं, लेकिन एक भीतरी सुख मन में मिलता है कि मैं अभी भी जिन्दा हूँ। यह सदा दूसरा ही मर रहा है। हम तो जिन्दा ही हैं। आज 'अ' मरा, कल 'ब' मरा, परसों 'स' मरा। हम? हम जिन्दा हैं! न मालूम कितनों को मरा हुआ देखा, लेकिन हम नहीं मरते। एक भीतरी रस मिलता है कि फिर कोई दूसरा मरा। अपने मरने का तो पता भी नहीं चलता, क्योंकि जब आप मर ही गए, तो पता कैसा! इसलिए अपने मरने का किसी को पता नहीं चलता। अपने को मरघट कोई नहीं पहुँचाता। पर संन्यासी वही है, जो अपने को मरघट पहुँचा देता है। जो कहता है, मरघट भी हमारा आवास है। महल और मरघट में उसे फर्क नहीं रह जाता। मरघट ही उसके लिए आनन्द है, विहार है। वहाँ भी ऐसे जीने लगता है, जैसे घर हो।

मृत्यु और जीवन में फर्क हटे, तभी महल और मरघट का फर्क गिर सकता है। जिसे हम जीवन कहते हैं, वह मृत्यु ही मालूम होने लगे, तभी जिसे हम मरघट कहते हैं, वह आवास बन सकता है। जिसे हम दुख कहते हैं, जिसे

हम सुख कहते हैं, जब उनके बीच का फासला गिर जाए और दुख सुख मालूम होने लगे और सुख दुख मालूम होने लगे, दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू मालूम होने लगें, उस दिन मरघट आनन्द-वन हो सकता है। उसके पहले नहीं। तो यह केवल सूचना है कि संन्यासी को महाश्मशान भी आवास ही मालूम पड़ता है, आनन्द-विहार ही मालूम पड़ता है। कोई फर्क नहीं रह जाता।

एकान्त ही उनका मठ है। एकान्त के दो अर्थ हैं। एक तो 'टू बी लोनली', अकेलापन। और दूसरा एकाकी, 'टू बी अलोन'। दोनों में बड़ा फर्क है। यहाँ ऋषि जब कहता है, एकान्त ही उनका मठ है तो उसका अर्थ है एकाकीपन — अकेलापन नहीं। (इट मीन्स टू बी एलोन, नॉट लोनलीनेस।) ध्यान रहे, जब हमें अकेलापन लगता है, लोनलीनेस लगती है तो उसका मतलब है कि दूसरे की अपेक्षा अभी मौजूद है। इसीलिए तो अकेलापन लगता है। आदमी कहता है कि बहुत अकेलापन लग रहा है। कल मुझे किसी ने खबर दी कि एक साधिका (मैं कहता हूँ साधिका, अपनी तरफ से, ऐसे वह साधिका नहीं हो सकती) रोती हुई पाई गई, क्योंकि उसकी बाकी साथिनें चुप और मौन हो गई हैं। और उसने कहा, जब कोई बात ही न करेगा, तो यहाँ सात दिन कैसे गुजरेंगे। सात दिन बिना बात किए अकेलापन लगेगा। मुश्किल मालूम पड़ेगी, क्योंकि हम दूसरे में अपने को उलझाए रहते हैं। इसलिए कोई अकेला नहीं होना चाहता। यह बहुत मजे की बात है, आप अपना साथ कभी पसन्द नहीं करते। आप खुद ही अपने को इतना पसन्द नहीं करते कि अपना साथ पसन्द करें। अपने साथ आनन्दित होने का मतलब तो तभी हो सकता है, जब मैं अपने को चाहूँ, प्रेम करूँ, अपने को पसन्द करूँ। हम सब अपने को घृणा करते हैं। कहते हैं लोग, लेकिन सब अपने को घृणा करते हैं। कोई अकेला नहीं होना चाहता, क्योंकि अकेले में अपने से ही साथ रह जाता है।

मुल्ला नसरुद्दीन कम बात करना पसन्द करने लगा। लोग चकित थे, क्योंकि कि वह अकेले में भी कभी-कभी बहुत बात करता था। मित्र चिन्तित हुए कि उसका दिमाग तो खराब नहीं हुआ जाता है। क्योंकि जब भी लोग होते, तब वह चुप बैठा रहता और जब भी अकेला होता, तो बात करता। मित्रों ने एक दिन इकट्ठा होकर पूछा कि बात तो बताओ, राज क्या है इसका, दिमाग तो खराब नहीं हो गया तुम्हारा! जब हम आते हैं, तो तुम

चुप हो जाते हो; जब हम चले जाते हैं, तो हमने दीवाल और खिड़कियों से झांक कर देखा कि तुम अकेले में बात करते हो। मुल्ला ने कहा, आइ वान्ट टु टॉक विथ ए वाइज मैन, (मैं बुद्धिमान आदमी से बात करना चाहता हूँ।) आई वान्ट टु हियर ए वाइज मैन (और मैं बुद्धिमान आदमी की ही बात सुनना चाहता हूँ।) इसलिए अपने से ही बात करता हूँ।

अपना साथ हम नहीं चाहते। कोई अपने साथ हो, तो हमें पागल मालूम होगा। मुल्ला नसरुद्दीन दूसरों को पागल लगा। अपने साथ मजा ले रहे हो, यह भी कोई बात हुई ? मजा सदा दूसरे के साथ लिया जाता है। अपने ही साथ मजा ले रहे हो, दिमाग खराब हो गया है, मालूम होता है।

सन्यासी वही है, जो अपने साथ मजा ले लेने मे समर्थ हो गया है। दूसरे की जरूरत न रही। अकेला ही काफी है—एनफ। इसका नाम है एकान्त। अकेला ही काफी है, (टु बी अलोन, इज एनफ) लोनलीनेस (अकेलेपन) का कहीं कोई पता नही है। पता ही नही है कि मैं अकेला हूं। यह तो पता तभी चलता है, जब दूसरे की आकांक्षा मन में सरकती है कि दूसरा होना चाहिए था और नहीं है। दूसरे का अभाव अकेलापन पैदा करता है। अपना आविर्भाव एकान्त पैदा करता है। दूसरे की मौजूदगी नही है, तो खलती है, अकेलापन लगता है और मे मौजूद हूँ पूरी तरह तो आनन्द प्रकट होता है। यही एकांत हुआ। भाषा-कोश में तो 'लोनलीनेस' और 'एलोननेस' एक ही हैं। लेकिन जीवन के कोश में एक नहीं हैं। जीवन के कोश मे बड़ी उलटी बातें हैं। अगर कोई आदमी कहता है कि अकेलापन लगता है, तो जानना कि उसे एकान्त का पता ही नही चला है। कोई आदमी कहता है कि एकान्त मे दूसरे की याद ही नहीं आती, अपना ही होना पर्याप्त है, तो ऐसा एकान्त मठ है संन्यासी का। वही उसका मन्दिर है। वही उसका आवास है।

प्रकाश के लिए सतत उनकी चेष्टा है, नित्य नूतन वे निरन्तर, निरन्तर, रोज, प्रतिपल प्रकाश के लिए ही आतुर और चेष्टा में रत हैं। यह बड़े मजे की बात कही है ऋषि ने नित, नूतन। यह थोड़ा कठिन पड़ेगा समझना। क्योंकि हम जो भी करते हैं, उसे हम सदा कल किए हुए से जोड लेते हैं। वह पुराना हो जाता है। कल भी किया था ध्यान, आज भी कर रहे हैं ध्यान। तो कल जो ध्यान किया था, वह अतीत की स्मृति बन गई। उसी से इसको भी जोड़ लेते हैं। एक मित्र मुझसे पूछने आए थे कि क्या सात दिन यही ध्यान

करना है या कुछ दूसरा भी होगा ? अगर अतीत से जोड़ेंगे, तो सब पुराना हो जाता है। अगर अतीत से नहीं जोड़ेंगे और पल-पल जियेंगे, मोमेन्ट टू मोमेन्ट, तो सब नया है। कल जो ध्यान किया था, वह आज किया ही कैसे जा सकता है ? क्योंकि न आज वह आकाश है, न आज वे किरणें हैं, न आज वह आप हैं, सब तो बदल गया। कल जो किया था, आज उसे करने का उपाय कहाँ है ! सब बदल गया है। इस जगत् में पुराने को करने का उपाय कहाँ है। तो संन्यासी नित्य नूतन चेष्टा करता है। उसकी कोई चेष्टा पुरानी नहीं पड़ती। पुरानी पड़ने से ऊब भी पैदा हो जाती है कि इसी को कब तक करते रहेंगे। वह जानता है कि यहाँ तो सब प्रवाह है, सब बहा जा रहा है और जो अप्रवाह है उसका हमे पता नही, उसकी हम खोज कर रहे हैं। संसार तो परिवर्तनशील है और संसार में जो भी किया जाता है, वह परिवर्तनशील है। सब चेष्टाएँ परिवर्तनशील हैं, वही फिर नही किया जा सकता।

बुद्ध से कोई मिलने आता, नमस्कार करता, जाते वक्त बिदा लेता, तो बुद्ध कहते, ध्यान रखना ! जिसने नमस्कार किया था, वही बिदा नहीं दे रहा है। घण्टे भर मे नदी का बहुत पानी बह गया। संन्यासी वह है, जो मोमेन्ट टू मोमेन्ट, क्षण-क्षण जीता है। एक क्षण काफी है। न पीछे के क्षण से जुड़ता है, न आगे के क्षण से जुड़ता है। तब सब चेष्टा नई है। जब वह सुबह उठकर फिर हाथ जोड़कर परमात्मा के सामने खड़ा होता है, तो सब बिलकुल नया है—ताजा, फ्रेश। कुछ पुराना नही, कल की धूल है ही नहीं। कल भी हाथ जोड़े थे, इसका खयाल किसको है, इसका हिसाब किसको है ? लेकिन हम बड़ा हिसाब रखते हैं।

मुल्ला नसरुद्दीन ने किसी मेहमान को भोजन के लिए निमंत्रण दे दिया था। काफी देर चल चुका था भोजन। मुल्ला नसरुद्दीन फिर भी आग्रह कर रहा था कि एक पूड़ी तो और ले लें। मेहमान ने कहा, मैं कोई पाँच-सात पूड़ियाँ ले चुका हूँ, अब बहुत हो गया। मुल्ला ने कहा, "पाँच-सात नहीं, बाईस पूड़ियाँ हो गई हैं। बट हू इज कैलक्युलेटिंग ?—हिसाब कौन रख रहा है ? हिसाब ही कौन रख रहा है ! बाईस हो गई हैं, मजे मे खाओ।" मगर हिसाब भीतर चलता है। तीन दिन हो गए ध्यान करते, अभी कुछ नहीं हुआ। (हू इज कैलक्युलेटिंग !) लेकिन तीन दिन हो गए। कैलक्युलेशन (हिसाब) चलता ही रहता है। माइन्ड इज कनिंग ऐण्ड कैलक्युलेटिंग। मन

चालाक है, बहुत चालाक है। और सब चालाकियाँ कैलक्युलेशन (हिसाब-किताब) होती हैं।

संन्यासी कुछ जोड़ता नहीं, वह परमात्मा से यह नहीं कहता कि पन्द्रह दिन हो गए प्रार्थना करते, कहाँ हो? नित्य नूतन चेष्टा करता रहता है। कल की बात छोड़ देता है। कल का कोई सवाल नहीं है और यह क्षण काफी है। और सवाल यह नहीं है कि ध्यान से कुछ मिले, ध्यान ही काफी है। यह भी सवाल नहीं है कि कोई फल मिले, ध्यान ही फल है। इसलिए वह रोज नई-नई चेष्टा करता चला जाता है। उसकी चेष्टा कभी पुरानी नहीं पड़ती। वह जन्मों-जन्मों तक प्रतीक्षा करता है, चेष्टा करता है। कभी यह नहीं कहता कि इतने दिन कर चुका, अभी तक दर्शन नहीं हुआ, अन्याय हो रहा है। इतने उपवास किए, इतने ध्यान किए, इतनी प्रार्थनाएँ हो चुकीं, अभी तक कुछ फल नहीं मिला। नहीं, जिसने ऐसा सोचा, वह गृहस्थ है, वह संन्यासी नहीं है। वह हिसाब-किताब रख रहा है। वह एक दुकान का हिसाब है। वही खाता-बही है, वह बैलेंस कर रहा है कि इतना नुकसान, इतना लाभ। इतना दिया, इतना लिया। वह लगा है हिसाब-किताब में।

संन्यासी सब हिसाब-किताब छोड़कर जीता है। कोई हिसाब-किताब नहीं। किसी दिन परमात्मा उसे मिले तो वह कहेगा, कैसे मिल गए तुम, मैंने कुछ भी तो नहीं किया! इसीलिए जिन्होंने परमात्मा को जाना, उन्होंने कहा, वह प्रसाद-रूप मिलता है—जस्ट एज ए ग्रेस। हमारे करने का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। हमने जो किया, उससे कुछ सम्बन्ध नहीं बनता। वह तो उसकी अनुकम्पा है, इसलिए मिलता है। उसकी दया है, करुणा है इसलिए वह मिलता है। हमारे किए हुए का क्या मूल्य? लेकिन यह वही कह सकता है, जिसनेहिसाब न रखा हो, नहीं तो किए हुए का मूल्य मालूम पड़ता है।

उनकी चेष्टा प्रकाश के लिए है। एक ऐसी अवस्था के लिए, जहाँ कोई अन्धकार न हो। क्योंकि अन्धकार के कारण ही तो सारा भटकाव है। अन्धकार के कारण ही तो हमें टटोलकर जीना पड़ता है। और अंधकार के कारण ही तो कुछ पता नहीं चलता कि हम कहाँ खड़े हैं, क्यों खड़े हैं, कहाँ जा रहे हैं, कहाँ से आ रहे हैं। अंधकार के कारण ही तो जीवन के सारे विकार हैं। अंधकार के कारण ही तो सारी उलझन और सारा उपद्रव है

और सारा रोग और सारी विक्षिप्तता है। प्रकाश का अर्थ है, एक ऐसी चित्त की दशा जहाँ सब साफ है—क्रिस्टल क्लियर—सब दिखाई पड़ता है, जैसा है, वैसा दिखाई पड़ता है, सब स्वच्छ है, आलोकित है। कहाँ जा रहे हैं, दिखाई पड़ता है; कहाँ से आ रहे हैं, दिखाई पड़ता है, कहाँ खड़े हैं, दिखाई पड़ता है; कौन हैं, दिखाई पड़ता है; क्या है चारों तरफ, दिखाई पड़ता है।

प्रकाश की आकांक्षा मूलत: सत्य के दर्शन की आकांक्षा है। क्योंकि दर्शन प्रकाश के बिना नहीं हो सकेगा। बाहर प्रकाश होता है, तो चीजें दिखाई पड़ती हैं और जब भीतर प्रकाश होता है, तो परमात्मा दिखाई पड़ता है। बाहर अन्धेरा हो जाता है, तो पदार्थ नहीं दिखाई पड़ता, भीतर अँधेरा छा जाता है, तो परमात्मा नहीं दिखाई पड़ता।

प्रकाश की आकांक्षा, भीतर जो छिपा है, उसके दर्शन की आकांक्षा है। और जिसे भीतर का छिपा हुआ दिखाई पड़ गया, अपने भीतर का, उसे सबके भीतर का दिखाई पड़ना शुरू हो जाता है। क्योंकि हम दूसरे के भीतर वहीं तक देख सकते हैं, जहाँ तक हम अपने भीतर देख सकते हैं। हम दूसरे के भीतर उससे ज्यादा गहरा कभी नहीं देख सकते, जितनी गहराई में हमने अपने भीतर झाँका है। जब हम अपने को शरीर ही मालूम पड़ते हैं, तब दूसरा भी शरीर ही दिखाई पड़ता है। जो हम अपने को जानते हैं, वही हम दूसरे में भी देख पाते हैं। जिस दिन हम अपने भीतर परमात्मा को देख लेते हैं, उस दिन इस जगत् में कोई कण परमात्मा से खाली नहीं रह जाता। वह सबकी आंतरिकता में दिखाई पड़ जाता है। लेकिन भीतर प्रकाश चाहिए। उस प्रकाश की आकांक्षा, अभीप्सा, उसकी ही पुकार, उसकी ही प्यास, इसी की नित नूतन चेष्टा वे करते हैं। वे थकते नहीं—अथक हैं। ऐसा कोई दिन नहीं आता कि वे निराश हो जाएँ और कहें कि बस, हो गया बहुत। अब तक नहीं हुआ, तो आगे क्या होगा? नहीं, वे थकते ही नहीं।

सूफी फकीर हसन जब मरा और उसके मित्रों और शिष्यों ने पूछा कि हसन, तुमने कभी बताया नहीं कि तुम्हारा गुरु कौन था। जानने का मन होता है कि तुम इतने अलौकिक हो, तुम्हारा गुरु कौन था? हसन ने कहा, "नहीं बताने का कारण यह नहीं है कि मैं गुरु को छिपाना चाहता हूँ। नहीं बताने का कारण यह है कि इतने गुरु थे कि बताना मुश्किल है। और ऐसे-

ऐसे गुरु थे कि बताने में थोड़ी दुविधा भी होती है।" शिष्यों ने कहा, बहुत गुरु हों तो बताना मुश्किल मालूम पड़ता है। किस किसका नाम लें ! लेकिन यह दूसरी बात समझ में नहीं आती कि बताने में थोड़ी दुविधा भी होती है। हसन ने कहा 'दुविधा होती है। जैसे उदाहरण के लिए—एक गाँव में आधी रात पहुँचा। भटक गया रास्ता। सारा गाँव सो गया था। सराय का दरवाजा खटखटाया, कोई उठा नहीं। कहाँ ठहरूँ। एक मकान के पास से गुजरता था। एक चोर दीवाल में सेंध लगा रहा था। वही अकेला जागा हुआ आदमी था। उससे मैंने कहा कि भाई, बड़ी मुश्किल में पड़ा हूँ। ठहरने की कोई जगह है? उसने कहा, जरूर ठहरा दूँगा। फकीर मालूम पड़ते हो। मेरे घर ठहरने की हिम्मत हो, तो मेरे घर ही ठहर जाओ। मैं एक चोर हूँ। लेकिन हसन ने कहा, इतना ईमानदार आदमी मुझे इससे पहले नहीं मिला था, जिसने कहा हो कि मैं एक चोर हूँ। हसन ने कहा, 'मेरा मन भी डरा कि ठहरूँ इसके घर कि नहीं, क्योंकि कल सुबह गाँव के लोग क्या कहेंगे'। मगर जब चोर ने आमन्त्रण इतने प्रेम से दिया है और कहकर दिया कि मैं चोर हूँ, तो इनकार करते नहीं बना। चोर के घर जाकर ठहर गया। चोर ने कहा, तुम विश्राम करो। मैं भोर होते-होते आ जाऊँगा और तुम्हारी सेवा मे उपस्थित हो जाऊँगा।

कोई पाँच बजे चोर आया, हसन ने दरवाजा खोला। हसन ने पूछा, 'कुछ पाया? चोर ने कहा, आज तो कुछ नहीं मिला। लेकिन जिन्दगी लम्बी है और रातों की क्या कमी है। हसन ने कहा, मैं महीने भर उस चोर के घर रहा। रोज चोर घर आता और मैं पूछता, कुछ मिला? वह कहता, नहीं। लेकिन कल मिलेगा। जिन्दगी लम्बी है और रातों की क्या कमी है। महीने भर बाद जिस दिन हसन ने उसका घर छोड़ा, उस दिन भी यही बात थी, उस दिन भी कुछ नहीं मिला।

हसन ने कहा, जब मैं परमात्मा को खोजता था, तो बार-बार थक जाता था। सोचता था, अब तक नहीं मिला; तब वह चोर मेरे सामने खड़ा हो जाता और वह कहता, रातों की क्या कमी, जिन्दगी लम्बी है। तब फिर मैं हैरान होता कि जब एक चोर नहीं थकता और साधारण धन की तलाश, इतनी आशा से, इतने अथक धैर्य से करता है, तो मैं परम धन को खोजने निकला हूँ और इतनी जल्दी! तो जिस दिन मुझे परमात्मा की प्रतीति हुई, तो मैंने परमात्मा

को पहले धन्यवाद नहीं दिया, पहले उस चोर को आंख बन्द करके नमस्कार किया कि सत्य तुझे मिला हो या न मिला हो, बाकी तू मेरा गुरु है। इसलिए तुम्हें बताने में दुविधा होती है "

ऋषि कहता है, संन्यासी थकते नहीं, वे निरन्तर उस प्रकाश की खोज में लगे रहते हैं। और अ-मन मे ही वे गति करते हैं— उन्मनी गतिः। बडा अद्‌भुत सूत्र है। यह सूत्र वैसा ही जैसा कि आइन्सटीन ने एनर्जी का फार्मूला खोजा। यह सूत्र उतना ही कीमती है, उससे भी ज्यादा क्योंकि आइन्सटीन के बिना दुनिया मे कुछ बडा फर्क न पड़ेगा। अगर एनर्जी का फार्मूला न हो तो भी आदमी हो सकता है। मजे से था। इन्हीं के फार्मूले के बाद ही दिक्कत शुरू हुई है। हिरोशिमा नही होता, अगर एनर्जी का फार्मूला नहीं होता। नागासाका नहीं बनता।

अ-मन में ही वे गति करते हैं—"उन्मनी गतिः" एक ही उनकी गति है, उस दिशा में, जहाँ मन नहीं है। एक ही उनकी यात्रा है, उस तरफ जहाँ मन नही। वे मन को छोड़कर चलते चले जाते हैं। एक दिन आता है कि वे मन से बिलकुल नग्न हो जाते हैं। मन गिर जाता है। हम भी गति करते है, पर मन में और मन के लिए। हम जो भी करते हैं, वह मन का पोषण है। मन को हम बढाते हैं, मजबूत करते हैं। हमारे अनुभव, हमारा ज्ञान-हमारा संग्रह सब हमारे मन को मजबूत और शक्तिशाली करने के लिए हैं। बूढा आदमी कहता है, मुझे सत्तर साल का अनुभव है। मतलब? उसके पास सत्तर साल का पुराना मजबूत मन है,जैसे शराब पुरानी अच्छी होती है, लोग सोचते हैं पुराना मन भी अच्छा होता है। वैसे शराब और मन में कुछ तादात्म्य है, एकरसता है, जैसे पुरानी शराब और नशीली हो जाती है, वैसे ही मन जितना पुराना होता है, उतना नशीला होता है। चेतना नहीं बदलती, चेतना तो वही बनी रहती है। मन की परत चारो तरफ घिर जाती है। मांग वही बनी रहती है, वासना वही बनी रहती है।

सुना है मैंने, एक रात मुल्ला नसरुद्दीन की पत्नी ने कहा कि चालीस साल हो गए विवाह हुए। जब शुरू-शुरू में विवाह हुआ था तो तुम मुझे इतना प्रेम करते थे कि कभी मेरी उंगुलियाँ काट लेते थे, कभी मेरे ओंठों पर घाव हो जाता था। लेकिन अब तुम वैसा प्रेम नहीं करते। और कल मेरा जन्म दिन है, आज तो कुछ वैसा प्रेम करो। मुल्ला ने कहा, सो भी जा। रात

खराब मत कर। पत्नी नाराज हो गई। उसने कहा, मेरा कल जन्म दिन है। मुल्ला ने कहा, बाहर बहुत सर्दी है। उठना ठीक नहीं। पत्नी ने कहा, उठने की जरूरत क्या है। मैं यहां पास ही हूँ। एक बार तो तुम मेरी उँगुलियों को फिर वैसा काटो, जैसा चालीस साल पहले प्रेम में तुमने काटा था। मुल्ला ने कहा, ठीक, नहीं मानती। मुल्ला बिस्तर से उठा। पत्नी ने कहा, कहाँ जाते हो? उसने कहा, बाथरूम से दांत तो ले आऊँ।

उम्र ढल जाती है, वासनाएं वहीं की वहीं चली आती है। दांत गिर जाते हैं। काटने का मन, कटवाने का मन नहीं गिरता। शरीर सूख जाता है। वासना हरी ही बनी रहती है। नहीं, अनुभव वगैरह कुछ नहीं है हमारा। जिसको संसार का अनुभव कहते हैं, वह मन का पोषण है।

संन्यासी अ-मन की तरफ चलता है। गृहस्थ मन की तरफ चलता है। सभी लोग मन लेकर पैदा होते हैं, लेकिन धन्य हैं वे, जो मन के बिना मर जाते है। सभी लोग मन लेकर जन्मते हैं, लेकिन अभागे हैं वे, जो मन को लेकर ही मर जाते हैं। तो जीवन मे कोई फायदा न हुआ। फिर यह यात्रा बेकार गई। अगर मृत्यु के पहले मन खो जाए, तो मृत्यु समाधि बन जाती है। अगर मृत्यु के पहले मन खो जाए, तो मृत्यु के बाद फिर दूसरा जन्म नहीं होता, क्योंकि जन्म के लिए मन जरूरी है। मन ही जन्मता है। मन ही उन अपूर्ण वासनाओं के कारण, जो पूरी नहीं हो सकीं, उनके लिए पुनःपुनः जन्म की आकांक्षा करवाता है। जब मन ही नहीं रहता, तो जन्म नहीं रहता। मृत्यु पूर्ण हो जाती है। हम सब भी मरते हैं, परन्तु हम अधूरे मरते हैं, क्योकि वहाँ जन्म की आकांक्षा भीतर जीती चली जाती है। वह जन्म की वासना फिर नया शरीर ग्रहण करती है। संन्यासी जब मरता है, तो पूरा मरता है— टोटल डेथ। शरीर ही नहीं मरता, मन भी मरता है। भीतर कोई और जीने की वासना नहीं रह जाती है। और जो पूरा मर जाता है, वह उस जीवन को उपलब्ध हो जाता है, जिसका फिर कोई अन्त नहीं। लेकिन मार्ग क्या है? मार्ग है अ-मन—नो-माइण्ड।

धीरे-धीरे मन को गलाना, छुड़ाना, हटाना, मिटाना है—ऐसा कर लेना है कि भीतर चेतना तो रहे, मन न रह जाए। चेतना और बात है। चेतना हमारा स्वभाव है। मन हमारा संग्रह है। इसलिए दुनिया जितनी सुशिक्षित और सभ्य होती जाती है, ध्यान उतना ही मुश्किल होता चला जाता है। क्योंकि

सुशिक्षा और सभ्यता का मतलब क्या है? एक ही मतलब है—मन का प्रशिक्षण (ट्रेनिंग ऑफ द माइण्ड)। मन और ट्रेण्ड (प्रशिक्षित) हो जाता है। इसलिए मनुष्य जितना सुशिक्षित और जितना सभ्य होता जाता है, उतना ही मन से छूटना मुश्किल होता जाता है, क्योंकि मन का प्रशिक्षण लम्बा होता जाता है।

हमारी सारी शिक्षा, हमारी सारी व्यवस्था, हमारा सारा अनुशासन मन की मजबूती के लिए तैयारी है। ताकि बाजार में मन सफल हो सके, ताकि धन्धे में मन सफल हो सके, ताकि संघर्ष में, प्रतियोगिता में, प्रतिस्पर्धा में मन सफल हो सके, इसलिए मन को ट्रेण्ड कर रहे हैं। ऋषि तो उलटी बात कहते हैं। वे कहते हैं, मन को विसर्जित करना है। ट्रान्सेण्ड ,द माइन्ड। यह ठीक है। अगर संसार में गति करनी हो, तो मन प्रशिक्षित होना चाहिए। अगर परमात्मा में गति करनी हो, तो मन विसर्जित होना चाहिए। अगर पदार्थ को पाने जाना हो, तो बहुत सुशिक्षित होना चाहिए। सुआयोजित, सुसंगठित, 'वेल आर्गनाइज्ड' मन चाहिए। लेकिन अगर परमात्मा में जाना हो, तो मन चाहिए ही नहीं—शिक्षित-अशिक्षित कोई भी नहीं, संगठित-असंगठित कोई भी नहीं। मन चाहिए ही नहीं।

अ-मन उनकी गति है। वे निरन्तर इस चेष्टा में ही लगे रहते हैं कि मन कैसे कम होता चला जाए। बढ़ता कैसे है मन? मन को बढ़ने का ढग क्या है? उसे समझ लें, तो घटने का ढग खयाल में आ जाएगा। मन कैसे बढ़ता है ?

मन को हम सहारा देते हैं, उससे को-आपरेट करते हैं। रास्ते से गुजर रहे हैं, भूख बिलकुल नहीं है, लेकिन रेस्तराँ दिखाई पड़ गया। मन कहता है, भूख लगी है। पैर रेस्तराँ की तरफ बढ़ने लगते हैं। पूछते भी नहीं अपने से कि भूख तो जरा भी नहीं लगी थी, जब तक यह बोर्ड दिखाई नहीं पड़ा था। बोर्ड दिखाई पड़ने से भूख लगती है। यह मन है। मन से भूख का कोई सम्बन्ध नहीं है, स्वाद की आकांक्षा है। मन को शरीर से प्रयोजन नहीं शरीर से, न मन को स्वास्थ्य से प्रयोजन है। भूख तो बिलकुल नहीं लगी थी, लेकिन रेस्तराँ देखकर भूख लग गई। यह भूख झूठी है। अब आप पैर रेस्तराँ की तरफ बढ़ाते हैं, तो मन उनको बढ़ाते हैं, उन्हें मजबूत करते हैं।

अंकुशो मार्गः। होश से, विवेक से खड़े होकर ठहर जाएँ एक क्षण। भीतर खोजें, भूख है कि नहीं। एक क्षण भी अगर रुक सके, तो रेस्तरां में प्रवेश नहीं करना पड़ेगा। क्योंकि मन कितना ही शक्तिशाली दिखाई पड़े, बहुत निर्बल है विवेक के सामने। लेकिन विवेक हो ही न, तो मन बहुत सबल है। जैसे अँधेरा कितना ही हो, छोटा सा दीया पर्याप्त है। हाँ, दीया हो ही नहीं तो अँधेरा बहुत सघन है। एक क्षण के लिए भी विवेक हो, तो पैर ठहर जाएँगे।

शरीर मे कही कोई काम-वासना की लहर न थी, एक सुन्दर स्त्री दिखाई पड़ गई, एक सुन्दर पुरुष दिखाई पड गया और लहर उठ गई। यह मन है। इसलिए आदमी को छोड़कर इस पृथ्वी पर कोई भी जानवर सेक्सुअलिटी, कामुकता से पीडित नही है। काम-वासना है, कामुकता नही है। सेक्स है, सेक्सुअलिटी नही है। इसलिए मनुष्य को छोड़कर सभी जानवरो का सेक्स पीरिआडिकल है। उसकी एक अवधि है। वर्ष में एक महीने, दो महीने या तीन महीने काम आता है, बाकी नौ महीने काम से रिक्त हो जाते हैं। लेकिन आदमी चौबीस घण्टे कामुक है—चौबीस घण्टे, तीन सौ पैंसठ दिन; और दुखी होता है कि साल मे तीन सौ पैंसठ दिन ही क्यो होते हैं। थोड़े ज्यादा भी हो सकते थे, इतनी कृपणता की क्या जरूरत है? क्या बात क्या होगी? मनुष्य अकेला काम-वासना को मन से जी रहा है, शरीर से नहीं।

शरीर से सारे पशु जी रहे हैं, पौधे जी रहे हैं, सारी प्रकृति जी रही है, पर मनुष्य मन से ही जी रहा है। काम-वासना तो प्राकृतिक है, लेकिन कामुकता विकृति है। काम-वासना से ऊपर उठ जाना परम क्रान्ति है, लेकिन आदमी काम-वासना से भी नीचे गिर गया है। वह कामुकता में, सेक्स से भी नीचे, सेक्सुअलिटी में गिर गया है। जब एक सुन्दर स्त्री या एक सुन्दर पुरुष को देखकर मन में कामवासना जगने लगती है, तब एक क्षण खड़े हो जाना और कहना, यह बायलॉजिकल है, यह कहीं कोई जैविक-प्राण की गति है या मन का ही खेल है। हाँ, मन का ही खेल है। तो जहाँ-जहाँ मन का खेल दिखे, डोन्ट को-आपरेट विथ इट, नॉन को-आपरेशन विथ इ। सहयोग न करें—असहयोग करें। सिर्फ खड़े रह जाएँ और कहें कि यह मन की बात है। वासना एकदम गिर जाएगी। इस प्रकार मन क्षीण होगा, नहीं तो सहयोग से मन बढ़ता चला जाएगा।

बैठे हैं खाली। मन बेकार के विचार कर रहा है, जिससे कुछ लेना-देना नहीं और आप उसमें भी सहयोग दिए चले जाते हैं। रुकें और कहें कि इसकी क्या जरूरत है। यह सब मैं क्या कर रहा हूँ? यह कैसा पागलपन है, जो भीतर में ही चलता है? असहयोग करो तो मन धीरे-धीरे विसर्जित होता जाता है। और अगर चौबीस घण्टे असहयोग चले और उसके साथ ध्यान हो, तो अ-मन में गति हो जाती है।

उनका शरीर निर्मल है और निरवलम्ब उसका आसन है। जिसका मन शान्त हो जाए, मन अ-मन हो जाए, उसका शरीर बड़ा निर्मल हो जाता है क्योंकि शरीर में सारा मल मन से आता है। इसे थोड़ा खयाल ले लेना। शरीर बिलकुल स्वच्छ चीज है। शरीर में कोई मल नहीं है। शरीर में जो भी विकार आते हैं, वे मन से आते हैं। लेकिन हम बड़े होशियार हैं। हम कहते हैं, शरीर हममे विकार पैदा करवाता है। नहीं, गलत है यह बात। शरीर विकार पैदा नही करवाता है। शरीर मे विकार तो मन डालता है। हां, शरीर सहयोग देता है। लेकिन शरीर आपका सेवक है। आप, जो चाहते हैं, वह कर देता है। आप कहते हैं, चोरी करनी है, तो पैर खजाने की तरफ चल पड़ते हैं। आप कहते हैं, प्रार्थना करनी है और पैर मन्दिर की तरफ चल पड़ते हैं। न तो पैरो का आग्रह है कि हम चोरी करने जाएँगे, न पैरो का आग्रह है कि हम प्रार्थना करने जाएँगे। पैरों का कोई आग्रह ही नही है। अगर आप काम-वासना मे उत्सुक होते हैं, तो शरीर की ग्रन्थियाँ काम-वासना के लिए तैयार हो जाती हैं। अगर आप ब्रह्म की तरफ यात्रा करते हैं, तो शरीर की वे ही ग्रन्थियाँ ब्रह्म-यात्रा के लिए तैयार हो जाती हैं।

शरीर का कोई भी आग्रह नहीं है। शरीर बिलकुल तटस्थ शक्ति है— ऐब्सोल्यूटली न्यूट्रल। जो भी होता है, वह मन से होता है। इसलिए अ-मन के बाद ऋषि कहता है, शरीर उनका निर्मल है क्योंकि जब मन न बचा, तो शरीर में कौन-सा पाप बच जाएगा। शरीर ने कोई पाप कभी किया ही नहीं है। सब पाप मन के हैं। शरीर ने कोई पुण्य भी नहीं किया, ध्यान रखना। सब पुण्य मन के हैं। शरीर ने न शुभ किया है, न अशुभ किया है, लेकिन शरीर को अकारण बड़े दण्ड भोगने पड़ते हैं, और हम शरीर को जिम्मेवार ठहराते हैं।

सुना है मैंने कि मुल्ला नसरुद्दीन पर चोरी का एक मुकदमा चला।

उसके वकील ने बड़ी जिरह की। मुल्ला तो चुप ही खड़ा रहा। आखीर में वकील ने एक दलील दी और उसने मजिस्ट्रेट को कहा कि आप यह तो मानेंगे कि मेरा मुवक्किल, पूरा का पूरा चोरी के लिए जिम्मेवार नहीं है, सिर्फ उसका दायाँ हाथ जिम्मेवार है। वह निकलता था खिड़की के पास से और खिड़की में कोई चीज रखी दिखाई पड़ गई। दायाँ हाथ बढ़ा और उसने खिड़की से चीज निकाल ली। इसके पैरों का तो कोई कसूर नहीं है। मजिस्ट्रेट ने कहा, बात तो तर्कयुक्त है। वकील ने कहा, आप पूरे मुल्ला नसरुद्दीन को दो साल की सजा दे रहे हैं, यह अन्याय है। सिर्फ इसके दाएँ हाथ को सजा देनी चाहिए। मजिस्ट्रेट ने कहा, यह बात भी ठीक है, क्योंकि वह होशियार आदमी है। हम सिर्फ दाँएँ हाथ को दो साल की सजा देते हैं। मुल्ला नसरुद्दीन दाएँ हाथ के साथ जेल में रहना चाहे रहे, न रहना चाहे, न रहे। तत्काल नसरुद्दीन ने दायाँ हाथ निकाल कर टेबुल पर रख दिया और दरवाजे के बाहर हो गया। वह लकड़ी का हाथ था।

मन कुछ भी करे, तो वह यह भी कहता है कि जिम्मेदार वह नहीं है। शरीर पर जिम्मेदारी ठहराता है। जो अ-मन में पहुँच गये, उनका शरीर निर्मल हो जाता है, स्वच्छ जल की भाँति, शरीर बहुत ही निर्मल है। मन ही सारा विकार पैदा करता है।

निर्मल उनका शरीर और निरालम्ब उनका आसन है। और जब मन नहीं रह जाता, तो उनका कोई आलम्बन नहीं रह जाता। वे किसी चीज का सहारा नहीं लेते, वे किसी चीज के सहारे नहीं जीते, वे किसी चीज को साधन नहीं बनाते। और जब कोई व्यक्ति सब भाँति निरालम्ब हो जाता है, तो उसे परमात्मा का आलम्बन मिलता है। उसके पहले नहीं। जब तक हम सोचते हैं कि हम ही अपने सहारे खड़े कर लेंगे, तब तक परमात्मा प्रतीक्षा करता है। ठीक भी है। सहारा तभी मिल सकता है हमें, जब हम बिलकुल बेसहारे हो जाएँ—टोटली हैल्पलेस। उसके पहले नहीं।

लेकिन मन कहता है, क्या जरूरत है बेसहारा होने की, सहारा हम देते हैं। क्या चाहिए तुम्हें? ज्ञान चाहिए? तो चलो शास्त्र का अध्ययन कर लो, ज्ञान मिल जाएगा। मन कहता है, शास्त्र का अध्ययन कर लो, ज्ञान मिल जाएगा। नहीं मिलेगा। मन शास्त्र से जो इकट्ठा करेगा, वह सिर्फ

स्मृति होगी, ज्ञान नहीं, मेमोरी होगी ज्ञान नहीं। वह आत्म अनुभव नहीं होगा। वह पराए का अनुभव होगा। मन धोखा दे देगा, कहेगा कि अपना ही अनुभव है। मन सब सहारे देने को तैयार है। वह कहता है कि क्या जरूरत है, मैं तो हूँ, मैं सब कर दूंगा। मन परमात्मा बनने को तैयार है। वह कहता है कि क्या जरूरत है, हम पूरा करने के लिए तैयार हैं। परमात्मा के लिए प्रार्थना करने जाने की क्या जरूरत है।

एक नाव डूबने के करीब है। सभी यात्री हाथ जोड़कर, घुटने टेक कर प्रार्थना कर रहे हैं। सिर्फ मुल्ला नसरुद्दीन शांत बैठा हुआ है। कोई यात्री कह रहा है कि हे प्रभु, बचाओ। मेरा जो मकान है, वह मैं दान कर दूंगा। कोई कह रहा है कि बचाओ, अब मैं व्रत-उपवास रखूंगा, नियम से जीऊँगा, कोई बुराई न करूंगा। कोई कुछ कह रहा है, कोई कुछ कह रहा है। आखीर में मुल्ला नसरुद्दीन जोर से चिल्लाया कि ठहरो, जरूरत से ज्यादा वचन मत दे देना। जमीन दिखाई पड़ रही है। नमाज-प्रार्थना टूट गई। लोग उठ गए। सामान-बिस्तर बांधने लगे। सब वचन, सब प्रतिज्ञाएँ भूल गईं।

एक बार मुल्ला खुद ऐसी मुसीबत मे पड़ गया था। उस वक्त उसने वचन दे दिया था। उसने कहा, उसी अनुभव से मैंने तुमको रोका। एक बार मेरी नाव भी इसी तरह डूबने लगी, तो मैंने कहा कि अगर मैं बच जाऊँगा तो अपना मकान बेच दूंगा और बेचकर सारा धन गरीबों को बांट दूंगा। बड़ा मकान था, दस लाख उसका दाम था। कहने के बाद मैं सोचने लगा कि अब नहीं बेचूं, तो अच्छा। लेकिन दुर्भाग्य ने पीछा किया। झंझट फिर आ गई। मकान बेचना पड़ा, और धन गरीबों में बांटना पड़ा। लेकिन मैंने तरकीब की। मकान जब नीलाम किया और सारा गाँव इकट्ठा हुआ, तो मैंने मकान के साथ एक छोटी-सी बिल्ली भी बांधी और कहा कि दोनो साथ बिकेंगे। मकान का दाम एक रुपया है, बिल्ली का दाम दस लाख रुपया है। कई लोगों ने कहा, हम तो मकान खरीदने आए हैं। मुल्ला ने कहा, हम तो दोनो साथ ही बेचेंगे। फिर लोगों ने देखा कि कोई हर्ज तो है नहीं, दस लाख में बिल्ली खरीद लो, तो भी एक रुपए मे मकान मिल रहा है। मकान के दाम इतने थे ही। मुल्ला ने दस लाख में बिल्ली बेच दी, एक रुपए में मकान। एक रुपया गरीबों में बाँट दिया।

उसने कहा, एक दफे मैं भी फँस गया था, तो बड़ी झंझट हुई। जरूरत से ज्यादा वचन मत दे देना। जमीन दिखाई पड रही है।

मन सब भाँति के सहारे देता है। जो मन से रहित हो जाते हैं, वे ही निरालम्ब हो पाते हैं। वे कहते हैं, अब परमात्मा ही है। अब वह जो करे ठीक। अब अपनी तरफ से करने को कुछ नहीं बचता।

जैसे निनाद करती अमृत-सरिता बहती है, वैसे ही उनके जीवन की प्रक्रियाएँ हो जाती हैं। जैसे निनाद करती हुई गंगा उतरती है हिमालय से—गीत गाती हुई, नाचती हुई, आनन्दमग्न, जैसे अपने प्रियतम से मिलने जाती हो, जैसे घुंघरु बँधे हों उसके पैरों में, जैसे हृदय में उसके गीत हो, ऐसा ही उनका सारा जीवन है। आनन्द, अमृत के कल्लोल करता हुआ। उनका उठना, उनका बैठना सब प्रभु-मिलन है। उनका चलना, उनका बोलना, उनका चुप होना सब प्रभु-मिलन है। उनका होना एक अमृत की सरिता है। वह किल्लोल करती, आनन्द के गीत गाती सागर की ओर भागती रहती है।

●

ग्यारहवां प्रवचन

साधना-शिविर, माऊण्ट आबू, रात्रि, दिनांक ३० सितम्बर, १९७१

अन्तर-आकाश में उड़ान, स्वतन्त्रता का दायित्व और शक्तियाँ प्रभु-मिलन की ओर

पाण्डरगगनम्, महासिद्धान्तः
शमदमादि दिव्यशक्त्याचरणे क्षेत्र पात्र पटुता
परावर संयोगः तारकोपदेशः ।
अद्वैतसदानन्दो देवता नियमः
स्वान्तरिन्द्रिय निग्रहः ।

"शुद्ध परमात्मा उनका आकाश है। वही सिद्धान्त है।
शम-दम आदि दिव्य शक्तियों के आचरण में क्षेत्र और पात्र का अनुसरण करना ही चतुराई है।
परात्पर से संयोग ही उनका तारक उपदेश है।
अद्वैत सदानन्द ही उनका देव है।
अपने अन्तर की इन्द्रियों का निग्रह ही उनका नियम है।"

'पाण्डरगगनम् महासिद्धान्तः।' परमात्मा ही उनका आकाश है, यही महा-सिद्धान्त है। एक आकाश, एक स्पेस तो बाहर है, जिसमें हम चलते हैं, उठते हैं, बैठते हैं, जहाँ भवन निर्मित होते हैं और खंडहर हो जाते हैं, जहाँ आकाश में पक्षी उडते, पृथ्वियाँ जन्मलेती और विलुप्त होती हैं। एक आकाश हमारे भीतर भी है। यह जो बाहर है हमारा आकाश, यह जो बाहर फैला है हमारा आकाश, यही अकेला आकाश नही है। दिस स्पेस इज नॉट द ओनली स्पेस। एक और भी आकाश है। वह हमारे भीतर है। जो आकाश हमारे बाहर फैला है, वह असीम है। वैज्ञानिक कहते हैं, उसकी सीमा का कोई पता नहीं लगता। लेकिन जो आकाश हमारे भीतर फैला है, उसके सामने यह बाहर का आकाश कुछ भी नहीं है। वह असीम से भी ज्यादा असीम है। अनंत आयामी उसकी असीमता है— मल्टी डायमेंशनल इनफिनिटी है। बाहर के आकाश में चलना, उठना होता है, भीतर के आकाश में जीवन है। बाहर के आकाश में क्रियाएँ होती हैं, भीतर के आकाश में चैतन्य है।

तो जो बाहर के ही आकाश में खोजता रहेगा, वह कभी भी जीवन से मुलाकात न कर पाएगा। चेतना से उसकी कभी भेंट न होगी। उसका परमात्मा से कभी मिलन न होगा। ज्यादा से ज्यादा पदार्थ मिल सकता है बाहर, परमात्मा का स्थान तो भीतर का आकाश है, अन्तराकाश है, इनर स्पेस है। ऋषि कहता है, यही महासिद्धान्त है। और तो सब सिद्धान्त ही हैं, यह

महा सिद्धान्त है कि अगर जीवन के सत्य को पाना हो, तो अन्तर-आकाश में उसकी खोज करनी पड़ती है। लेकिन हमें अन्तर-आकाश का कोई भी अनुभव नहीं है। हमने कभी भीतर के आकाश मे कोई उड़ान नहीं भरी। हमने भीतर के आकाश में एक चरण भी नहीं रखा है, हम भीतर की तरफ गए ही नहीं। हमारा सब जाना बाहर की तरफ है। हम जब भी जाते हैं, बाहर ही जाते हैं। उसके कुछ कारण हैं।

एक मित्र ने प्रश्न पूछा है इस सम्बन्ध मे। उन्होने पूछा है कि जब भीतर की, स्वरूप की स्थिति परम आनन्द है, तो यह मन कहाँ से आ जाता है। जब भीतर नित्य आनन्द का वास है, तो ये मन के विकार कैसे जनम जाते हैं? ये कहाँ से अंकुरित हो जाते हैं।

इस अन्तर-आकाश के सम्बन्ध मे समझ लेना उपयोगी है। यह प्रश्न सदा ही साधक के मन मे उठता है कि जब मेरा स्वभाव ही शुद्ध है, तो यह अशुद्धि कहाँ से आ जाती है, और जब मैं स्वभाव से ही अमृत हूँ, तो यह मृत्यु कैसे घटित होती है। और जब भीतर कोई विकार ही नहीं है, भीतर निर्विकार, निराकार का आवास है सदा से, सदैव से, तो ये विकार के बादल कैसे घिर जाते हैं? कहाँ से इनका जन्म होता है? कहाँ इनका उद्गम है? ये अंकुरित कैसे होते हैं? इसे समझने के लिए थोड़ी-सी गहराई में जाना पड़ेगा।

पहली बात तो यह समझनी पड़ेगी कि जहाँ भी चेतना है, वहाँ चेतना की स्वतन्त्रताओं में एक स्वतन्त्रता यह भी है कि वह अचेतन हो सकेगी। ध्यान रखें, अचेतन का अर्थ जड़ नहीं होता। अचेतन का अर्थ होता है, चेतन, जो कि सो गया। चेतन, जो कि छिप गया। यह चेतना की ही क्षमता है कि वह अचेतन हो सकती है। जड़ की यह क्षमता नहीं है। आप पत्थर से यह नहीं कह सकते कि तू अचेतन है। जो चेतन नहीं हो सकता, वह अचेतन भी नहीं हो सकता। वह जाग नहीं सकता, वह सो भी नहीं सकता। और ध्यान रखें, जो सो भी नहीं सकता, वह जागेगा कैसे!

चेतना की ही एक क्षमता है, अचेतन हो जाना। अचेतन का अर्थ चेतना का नाश नहीं है। अचेतन का अर्थ है चेतना का प्रसुप्त हो जाना, छिप जाना, अप्रकट हो जाना। चेतना की यह मालकियत है कि चाहे तो प्रकट हो, चाहे तो अप्रकट हो जाए। यही चेतना का स्वामित्व है। या कहें, यही चेतना की स्वतन्त्रता है। अगर चेतना अचेतन होने को स्वतन्त्र न हो, तो चेतना

परतन्त्र हो जाएगी। फिर आत्मा की कोई स्वतन्त्रता न होगी।

इसे ऐसा समझें कि अगर आपको बुरे होने की स्वतन्त्रता ही न हो, तो आपके भले होने का अर्थ क्या होगा? अगर आपको बेईमान होने की स्वतन्त्रता ही न हो, तो आपके ईमानदार होने का कोई अर्थ नहीं होता? और जब भी हम किसी व्यक्ति को कहते हैं कि वह ईमानदार है, तो इसमें निहित है, इम्प्लायड है, कि वह चाहता तो बेईमान हो सकता था और नहीं हुआ। अगर हो न सकता हो बेईमान, तो ईमानदारी दो कौड़ी की हो जाती है। ईमानदारी का मूल्य बेईमानी होने की क्षमता और संभावना में छिपा है। जीवन के शिखर छूने का मूल्य, जीवन की अँधेरी घाटियों में उतरने की भी हमारी क्षमता है, इसमें छिपा है। स्वर्ग पहुँच जाना इसीलिए संभव है कि नर्क की सीढ़ी भी हम पार कर सकते हैं। प्रकाश इसीलिए पाने की आकांक्षा है कि हम अँधेरे में भी हो सकते हैं।

ध्यान रहे, अगर आत्मा के लिए बुरा होने का उपाय ही न हो, तो आत्मा के भले होने में बिलकुल ही नपुंसकता, इम्पोटेन्सी हो जाएगी। विपरीत की सुविधा होनी चाहिए। अगर चेतना को भी विपरीत की सुविधा नहीं है, तो चेतना गुलाम है। गुलाम चेतना का क्या अर्थ होता है? उससे तो अचेतन होना, जड़ होना बेहतर है।

यह जो हमारे भीतर छिपा हुआ परमात्मा है, यह परम स्वतन्त्र है, ऐब्सोल्यूट फ्री है। इसलिए शैतान तक को होने का उपाय है और परमात्मा होने की भी सुविधा है। एक छोर से दूसरे छोर तक हम कहीं भी हो सकते हैं और जहाँ भी हम हैं, वहाँ होना हमारी मजबूरी नहीं, हमारा निर्णय है (आवर ओन डिसीजन)। अगर मजबूरी है, तो बात खत्म हो गई। अगर मैं पापी हूँ और पापी होना मेरी मजबूरी है, पापी मुझे परमात्मा ने बनाया है या मैं पुण्यात्मा हूँ और पुण्यात्मा मुझे परमात्मा ने ही बनाया है, तो मैं पत्थर की तरह हो गया, मुझमें चेतना न रही। मैं एक बनाई हुई चीज हो गया, फिर मेरे कृत्य का कोई दायित्व मेरे ऊपर नहीं है।

कुछ दिन हुए, एक मुसलमान मित्र मुझसे मिलने आए थे। बहुत समझदार व्यक्ति हैं। वृद्ध हैं। वे मुझसे कहने लगे कि मैं बहुत लोगों से मिला हूँ, बहुत साधु-संन्यासियों के पास गया हूँ, लेकिन कोई हिन्दू मुझे यह नहीं समझा सका कि आदमी पाप में क्यों गिरा। हिन्दू, जैन या बौद्ध, इस भूमि पर पैदा हुए।

तीनों धर्म यह मानते हैं कि 'अपने कर्मों के कारण'। उस मुसलमान मित्र का पूछना बिलकुल ठीक था। वे कहने लगे, अगर आदमी अपने कर्मों के कारण गिरा, तो पहले जन्म में जब उसकी शुरुआत ही हुई होगी, तब तो उसके पहले कोई कर्म नहीं थे। ठीक है, जब पहला ही जन्म हुआ होगा चेतना का, तब तो वह निष्कपट, शुद्ध पैदा हुई होगी। उसके पहले तो कोई कर्म नहीं थे। इस जन्म में हम कहते हैं कि फलाँ आदमी बुरा है, क्योंकि पिछले जन्म में बुरे कर्म किए। लेकिन कोई प्रथम जन्म तो मानना ही पड़ेगा। उस प्रथम जन्म के पहले तो कोई बुरे कर्म नहीं हुए, फिर बुरे कर्म आ कैसे गए?

मैंने उन मुसलमान मित्र से कहा कि यह बात बिलकुल तर्कयुक्त है। लेकिन क्या इस्लाम और ईसाइयत जो उत्तर देते हैं उन पर आपने विचार किया? उन्होंने कहा, वह ज्यादा ठीक मालूम पड़ता है कि ईश्वर ने आदमी को बनाया, जैसा चाहा वैसा बनाया। तो मैंने कहा, यही थोड़ी-सी बात समझनी है। इस देश में पैदा हुआ कोई भी धर्म ईश्वर पर जिम्मेवारी नहीं डालना चाहता, मनुष्य पर डालना चाहता है। यह मनुष्य की गरिमा की स्वीकृति है। रिस्पॉंसिबिलिटी इज ऑन मैन, नॉट ऑन गॉड। ध्यान रहे, गरिमा तभी है, जब दायित्व हो।

अगर दायित्व नहीं है—अगर मैं बुरा हूँ तो परमात्मा ने बनाया, भला हूँ तो परमात्मा ने बनाया, जैसा हूँ परमात्मा ने बनाया—तो सारी जिमेवारी परमात्मा की हो जाती है। और तब और भी उलझन खड़ी होगी कि परमात्मा को बुरा आदमी बनाने में क्या रस हो सकता है? और परमात्मा ही अगर बुरा बनाता है, तो हमारी अच्छे बनने की कोशिश परमात्मा के खिलाफ पड़ती है। परमात्मा आदमी को बुरा बनाता है और तथाकथित साधु-सन्यासी आदमी को अच्छा बनाते हैं, यह तो मुश्किल है।

गुरजिएफ कहा करता था कि दुनिया के सब महात्मा परमात्मा के खिलाफ मालूम पड़ते हैं, दुश्मन मालूम पड़ते हैं। वह आदमी को बुरा बनाता है या जैसा भी बनाता है, फिर आप कौन हैं सुधारनेवाले! कर्म का सिद्धान्त कहता है, व्यक्ति पर जिम्मेवारी है, लेकिन व्यक्ति पर जिम्मेवारी तभी हो सकती है जब व्यक्ति स्वतन्त्र हो। स्वतन्त्रता के साथ दायित्व है—फ्रीडम इम्प्लाइज रिस्पॉंसिबिलिटी। अगर स्वतन्त्रता नहीं है, तो दायित्व बिलकुल नहीं है। अगर स्वतन्त्रता है, तो दायित्व है। लेकिन हमारी स्वतन्त्रता द्विमुखी है। हम दोनों

तरफ की स्वतन्त्रता चाहते हैं—कर्म की स्वतन्त्रता और दायित्व से स्वतन्त्रता।

मुल्ला नसरुद्दीन का बेटा जब बड़ा हो गया, तो मुल्ला ने उससे कहा बेटा तिजोरी तेरी है, चाभी भर मेरे पास रहेगी। ऐसे तू जितना भी खर्च करना चाहे, खर्च कर सकता है, लेकिन ताला भर मत खोलना। स्वतन्त्रता पूरी दी जा रही मालूम पडती है पर जरा भी नही दी जा रही है।

मैंने एक मजाक सुना है कि जब पहली दफा फोर्ड ने कारें बनाई, पहली दफा मोटरें बनी अमरीका मे तो एक ही रंग की बनाई, काले रंग की। और फोर्ड ने अपने दरवाजे पर, अपनी फैक्ट्री मे, एक वचन लिख छोड़ा था—यू कैन चूज एनी कलर प्रोवाइडेड इट इज ब्लैक। आप कोई भी रंग चुन सकते हैं, अगर वह काला है। काले रंग की कुल गाड़ियाँ ही थीं, कोई दूसरे रंग की तो गाडियाँ थीं नही, लेकिन स्वतन्त्रता पूरी थी; आप कोई भी रंग चुन लें। बस, काला होना चाहिए। इतनी शर्त थी पीछे।

अगर आदमी से परमात्मा यह कहे कि यू आर फ्री प्रोवाइडेड यू आर गुड, आप स्वतन्त्र हैं, अगर आप अच्छे हैं—तो स्वतन्त्रता दो कौड़ी की हो गई। स्वतन्त्रता का अर्थ ही यही होता है कि हम बुरे होने के लिए भी स्वतन्त्र है। और जब स्वतन्त्रता हो, तभी दायित्व है। तब फिर जिम्मा मेरा है, अगर मैं बुरा हूँ, तो मैं जिम्मेवार हूं। और अगर भला हूँ, तो मे जिम्मेवार हो जाता हूँ। जिम्मेवारी मुझ पर पड़ जाती है।

फिर भारत यह भी कहता है कि परमात्मा हमसे बाहर नही है। वह हमारे भीतर छिपा है। इसलिए हमारी स्वतन्त्रता अन्ततः उसकी ही स्वतन्त्रता है। इसे और समझ लेना चाहिए। क्योंकि परमात्मा अगर बाहर बैठा हो हमसे और हमसे कहे कि 'आई गिव यू फ्रीडम', मै तुम्हें स्वतन्त्रता देता हूँ, तो भी वह परतन्त्रता हो जाएगी, क्योंकि किसी दूसरे के द्वारा दी गई स्वतन्त्रता कभी स्वतन्त्रता नहीं है, क्योंकि वह किसी भी दिन कैंसिल कर सकता है। वह किसी भी दिन कह देगा, अच्छा, बस बन्द। इरादा बदल दिया है। अब स्वतन्त्रता नहीं देते। तब हम क्या करेंगे? नहीं, स्वतन्त्रता आत्यंतिक है, अल्टीमेट है, क्योंकि देने वाला और लेने वाला दो नहीं है। वह हमारे भीतर ही बैठी हुई चेतना परम स्वतन्त्र है, क्योंकि वही परमात्मा है। वह जो अन्तरस्थ आकाश है, वही परमात्मा है। परमात्मा को भी अगर बुरे होने

की सुविधा न हो, तो परमात्मा की परतन्त्रता के अतिरिक्त और क्या घोषणा होगी। इसलिए मन पैदा हो सकता है। वह हमारा पैदा किया हुआ है। वह परमात्मा का पैदा किया हुआ नहीं है।

एक और बात खयाल में ले लेनी जरूरी है कि जीवन के प्रगाढ़ अनुभव के लिए विपरीत में उतर जाना अनिवार्य हो जाता है। प्रौढ़ता के लिए, मैच्योरिटी के लिए विपरीत में उतर जाना अनिवार्य होता है। जिसने दुख नहीं जाना, वह सुख कभी जान नहीं पाता। जिसने अशांति नहीं जाती, वह शांति भी कभी नहीं जान पाता। जिसने संसार नहीं जाना, वह स्वयं परमात्मा होते हुए भी परमात्मा को नहीं जान पाता। परमात्मा की पहचान के लिए संसार की यात्रा पर जाना अनिवार्य है। अनिवार्य है, उससे कोई बचाव नहीं है। और जो जितना गहरा संसार में उतर जाता है, उतने ही गहन परमात्मा के स्वरूप को अनुभव कर पाता है। उसे उतरने का भी प्रयोजन है।

कोई चीज जो हमारे पास सदा से हो, उसका हमे तब तक पता नहीं चलता, जब तक वह खो न जाए। खोने पर ही पता चलता है। मेरे पास कुछ था, इसका अनुभव भी खोने पर पता चलता है। खोना भी पाने की प्रक्रिया का हिस्सा है। खोना भी ठीक से पाने का उपाय है। खोना भी पाने की प्रक्रिया का हिस्सा, अनिवार्य अंग है। जो हमारे भीतर छिपा है, उसे अगर हमें ठीक-ठीक अनुभव करना हो, तो हमें उसे खोने की ही यात्रा पर जाना पड़ता है।

लोग कहते हैं कि जब तक कोई परदेश नही जाता, तब तक अपने देश को नहीं पहचान पाता। वे ठीक कहते हैं। कहते हैं कि जब तक दूसरों से कोई परिचित नही होता, तब तक अपने से परिचित नही हो पाता। 'ईवन द वे टु वनसेल्फ पासेस थ्रू द अदर'? जॉनपाल सार्त्र का बहुत प्रसिद्ध वचन है कि दूसरे को जाने बिना स्वयं को जानने का कोई उपाय नही। दूसरे से गुजरना पड़ता है स्वयं की पहचान के लिए। शिक्षक काले ब्लैक बोर्ड पर सफेद खड़िया से लिखता है। सफेद दीवाल पर भी लिख सकता है, लिखने में कोई अड़चन नहीं है, लेकिन तब दिखाई नहीं पड़ेगा। लिखा भी जाएगा और दिखाई भी नहीं पड़ेगा। लिखा तो जाएगा, पढ़ा नहीं जा सकेगा। और ऐसे लिखने का क्या

प्रयोजन, जो पढ़ा न जा सके।

मैंने सुना है कि एक आदमी सुबह-सुबह मुल्ला नसरुद्दीन के द्वार पर आया। नसरुद्दीन गाँव में अकेला ही पढ़ा-लिखा आदमी था। जहाँ एक ही आदमी पढ़ा-लिखा होता है, समझ लेना चाहिए, पढ़ा-लिखा कितना होगा! उस आदमी ने कहा, जरा एक चिट्ठी लिख दो मुल्ला। मुल्ला ने कहा, मेरे पैर में बहुत दर्द है, मैं न लिख सकूँगा। उस आदमी ने कहा, हद हो गई। कभी हमने सुना नहीं कि लोग पैर से चिट्ठी लिखते हैं। हाथ से लिखो। पैर में दर्द है, हाथ में क्या अड़चन है? नसरुद्दीन ने कहा, यह जरा रहस्य की बात है, यह न पूछो तो अच्छा। हम लिख न सकेंगे, चिट्ठी हम न लिखेंगे, पैर में बहुत तकलीफ है। उस आदमी ने कहा, जरा रहस्य ही बता दें। बात क्या है, मेरी समझ में नहीं आता। नसरुद्दीन ने कहा, बात यह है कि हमारी लिखी चिट्ठी हमारे सिवा और कोई नहीं पढ़ पाता। फिर दूसरे गाँव की यात्रा करने की अभी हमारी हैसियत नहीं। पैर में तकलीफ बहुत है। जो पढ़ा ही न जा सके उसके लिखने का क्या फायदा; इसलिए हाथ तो फुर्सत में है। लेकिन पढ़ेगा कौन?

सफेद दीवाल पर हम लिख तो सकते हैं, लेकिन पढ़ा नहीं जा सकता। और जो पढ़ा नहीं जा सकता, वैसा लिखने का कोई अर्थ नहीं। इसलिए काले ब्लैक बोर्ड पर लिखना पड़ता है। उस पर दिखाई पड़ता है। आकाश पर जब काले बादल होते हैं, तो कौंधती बिजली साफ दिखाई पड़ती है। भीतर जो छिपा है परमात्मा, उसके अनुभव के लिए पदार्थ की गहनता में उतरना अनिवार्य है। संन्यास को भी जानने के लिए गृहस्थ हुए बिना कोई मार्ग नहीं। सत्य को भी जानने के लिए असत्य के रास्तों से गुजरना पड़ता है। और इसे जब कोई अनिवार्यता समझता है और इस रहस्य को समझ जाता है तो फिर जिस असत्य से गुजरा, उसके प्रति भी धन्यवाद मन में उठता है। क्योंकि उसके बिना सत्य तक नहीं पहुँचा जा सकता था। जिस पाप से गुजर कर पुण्य तक पहुँचे, उस पाप की भी अनुकम्पा ही मालूम होती है, क्योंकि उसके बिना पुण्य तक नहीं पहुँचा जा सकता था।

बोधिधर्म इस पृथ्वी पर दस-पाँच लोगों में एक है, जिसने गहनतम सत्य के अनुभव को जाना। बोधिधर्म ने कहा है मरने के क्षण में, कि संसार,

तेरा धन्यवाद। क्योंकि तेरे बिना निर्वाण को जानने का कोई उपाय नहीं। शरीर, तुझे धन्यवाद, क्योंकि तेरे बिना आत्मा को पहचानने की सुविधा भी नहीं। पाप, तुम्हारी अनुकम्पा मुझ पर है, क्योंकि तुमसे गुजर कर मैं पुण्य के शिखर तक पहुँचा। तुम सीढ़ियाँ थे। तब जीवन विपरीत रहकर भी विपरीत नहीं रह जाता। तब जीवन विपरीत होकर भी एक रस हो जाता है और विपरीत में भी एक हार्मनी और एक संगीत उत्पन्न हो जाता है। संगीत पैदा होता है विभिन्न स्वरों से। और अगर संगीत के किसी स्वर को बहुत उभारना हो, तो उसके पहले बहुत धीमा स्वर पैदा करना पड़ता है। तब उभर कर सगीत प्रगट होता है।

सब अभिव्यक्ति विपरीत के साथ हैं, इसलिए चेतना मन को पैदा करती है। यह चेतना का ही काम है। चेतना ही बाहर जाती है। बाहर ही भटक-भटक कर उसे पता चलता हैं कि बाहर कुछ नही है। तब चेतना भीतर वापस आती है और ध्यान रहे, जो चेतना कभी बाहर नही गई उस चेतना में और जो चेतना बाहर भटक कर भीतर आती है उसमें 'रिचनेस' का, समृद्धि का बहुत फर्क है। इसलिए जब पापी कभी पुण्यात्मा होता है, तो उसके पुण्य की जो गहराई है, वह साधारण आदमी के पुण्य की गहराई नही होती, जो कभी पापी नही हुआ। क्योंकि पापी बहुत जानकर पुण्य तक पहुँचता है।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं, अच्छे आदमी की कोई जिन्दगी नही होती। अगर आप नाटककारों से पूछें, उपन्यासकारों से पूछें, फिल्म-कथा लिखनेवालों से पूछें, तो वे कहेंगे कि अच्छे आदमी पर तो कोई कथा ही नहीं लिखी जा सकती। अगर आदमी बिलकुल अच्छा हो, तो कोरा सपाट होता है। रामायण मे से राम को छोड़ने में बहुत असुविधा नही है, रावण को छोड़ने में सब कथा गड़बड़ हो जाती है. क्योंकि राम के बिना चल सकता है, रावण के बिना नहीं चल सकता। कोई कितना ही कहे कि राम नायक हैं, पर जो कथा लिखना जानते हैं, वे कहेंगे, रावण नायक हैं, क्योंकि सारी कथा उसके इर्द-गिर्द घूमती है। अगर राम भी प्रखर होकर प्रकट होते हैं, तो रावण के सहारे और रावण के कन्धे पर। रावण के बिना राम भी सफेद दीवाल पर खींची गई सफेद रेखा हो जाएँगे। वह काला ब्लैक बोर्ड तो रावण है। लेकिन स्कूल में शिक्षक जब काले ब्लैक बोर्ड पर लिखता है, तो बच्चे ब्लैक बोर्ड का विरोध नहीं करते। वे जानते है कि सफेद रेखा उसी पर उभरती है।

लेकिन जब रावण के ब्लैक बोर्ड पर राम उभरते हैं, तो हम नाहक विरोध करते हैं कि रावण को नहीं होना चाहिए। रावण को दुनिया से मिटा दो। जिस दिन आप रावण को दुनिया से मिटा देंगे, उस दिन राम तिरोहित हो जाएंगे। वह कहीं खोजने से भी नहीं मिलेंगे।

जीवन विपरीत स्वरों के बीच एक सामंजस्य है। चेतना ही पैदा करती है मन को। चेतना ही विचार को पैदा करती है, ताकि निर्विचार को जान सके। परमात्मा ही संसार को बनाता है, ताकि स्वयं को अनुभव कर सके। यह आत्म-अन्वेषण की यात्रा है। इसमें भटकना जरूरी है।

इस कहानी को मैं निरन्तर कहता रहा हूँ। एक गाँव के बाहर एक आदमी अपने घोड़े से उतरा। झाड़ के पास बैठे नसरुद्दीन के सामने उसने अपने हाथ की झोली पटकी, और कहा कि करोड़ों के हीरे-जवाहरात इस झोली में हैं। इसे मैं लेकर घूम रहा हूँ गाँव-गाँव। मुझे कोई रत्ती भर भी सुख दे, दे तो मैं यह सब हीरे उसे सौंप दूं, लेकिन अब तक मुझे कोई रत्ती भर सुख नहीं दे पाया।

नसरुद्दीन ने पूछा, क्या तुम बहुत दुखी हो? उसने कहा, मुझसे ज्यादा दुखी कोई और नहीं हो सकता। तभी तो मैं रत्ती भर सुख के लिए करोड़ों के हीरे देने को तैयार हूँ। नसरुद्दीन ने कहा, तुम ठीक जगह आ गए हो, बैठो। वह जब तक बैठा, तब तक नसरुद्दीन उसकी थैली लेकर भाग खड़ा हुआ। वह आदमी स्वभावतः नसरुद्दीन के पीछे चिल्लाता हुआ भागा कि मैं मर गया, मैं मर गया। यह आदमी डाकू है, यह लुटेरा है। किसी ने कहा कि यह फकीर है, किसी ने कहा कि यह ज्ञानी है। लेकिन गाँव के गली-कूचे नसरुद्दीन के परिचित थे। उसने काफी चक्कर खिलाए। पूरा गाँव जग गया। सारा गाँव दौड़ने लगा। करोड़ों का मामला था। नसरुद्दीन आगे और वह धनपति छाती पीटता हुआ जार-जार चिल्ला रहा है कि मेरी जिन्दगी भर की कमाई वही है। मैं सुख खोजने निकला हूँ, और यह दुष्ट मुझे दुख दिए दे रहा है।

भाग कर नसरुद्दीन उसी झाड़ के पास पहुँच गया, जहाँ उसका घोड़ा खड़ा था। झोला घोड़े के पास रखकर वह उस झाड़ के पीछे खड़ा हुआ। दो क्षण बाद ही अमीर भागा हुआ पहुँचा, पूरा गाँव भागा हुआ पहुँचा। अमीर ने झोला पड़ा हुआ देखा, उठाकर छाती से लगा लिया और कहा, हे परमात्मा,

तेरा बड़ा धन्यवाद है। नसरुद्दीन ने झाड़ के पीछे से पूछा, कुछ सुख मिला? पाने के लिए खोना जरूरी है। उस आदमी ने कहा, कुछ? कुछ नहीं, बहुत मिला। इतना सुख मैंने जीवन में जाना ही नहीं। नसरुद्दीन ने कहा, अब तू जा। नहीं तो इससे ज्यादा अगर मैं सुख दूँगा, तो तुम मुसीबत में पड़ सकते हो। अब तू एकदम चला जा।

पाने के लिए खोना बहुत जरूरी है। असली सवाल यह नहीं है कि हमने क्यों अपने को खोया। असली सवाल यह है कि या तो हमने पूरा अपने को नहीं खोया या हम खोने के इतने अभ्यासी हो गए कि लौटने के सब रास्ते टूट गए मालूम पड़ते हैं। असली सवाल यह नहीं है कि क्यों हमने खोया। खोना अनिवार्य है। असली सवाल यह है कि कब तक हम खोए रहेंगे? इसलिए बुद्ध से अगर कोई पूछता था कि यह आदमी अंधकार मे क्यों गिरा। तो बुद्ध कहते, व्यर्थ की बातें मत करो। अगर पूछना हो तो यह पूछो कि अंधकार के बाहर कैसे आया जा सकता है। यह संगत सवाल है। बुद्ध कहते थे, इस बेकार की बातचीत में मुझे मत खींचो कि आदमी अन्धकार में क्यों गिरा? वह तुम बाद में खोज लेना। अभी तुम मुझसे यह पूछ लो कि प्रकाश कैसे मिल सकता है?

बुद्ध कहते कि तुम उस आदमी-जैसे हो, जिसकी छाती में जहरीला तीर घुसा हो और मैं उसकी छाती से तीर खींचने लगूं तो वह आदमी कहे कि रुको, पहले यह बताओ कि यह तीर किसने मारा? पहले यह बताओ कि यह तीर पूरब से आया कि पश्चिम से? और पहले यह बताओ कि यह तीर जहर-बुझा है या साधारण है? तो बुद्ध कहते, मैं उस आदमी से कहता कि यह सब तुम पीछे पता लगा लेना, अभी मैं तीर को खींचकर बाहर निकाल दे रहा हूँ। लेकिन वह आदमी कहता है कि जब तक जानकारी पूरी न हो, तब तक कुछ भी करना क्या उचित है?

यह फिक्र मत करें कि मन कैसे पैदा हुआ? यह फिक्र करें कि मन कैसे विसर्जित हो सकता है। और ध्यान रहे, बिना विसर्जन किए आपको कभी पता न चलेगा कि कैसे इसका सर्जन किया। उसके कारण हैं। उसके कारण हैं, क्योंकि सर्जन किये अनन्त काल बीत गया। इस स्मृति को खोजना आज आपके लिए आसान नहीं होगा। रास्ता है। अगर आप लौटें अपने पीछे जन्मों में। लौटते जाएँ, लौटते जाएँ। आदमी के जन्म चुक जाएँगे, पशुओं के जन्म होंगे। पशुओं

के जन्म चुक जाएँगे, मकोड़ों के जन्म होंगे। कीड़े मकोड़ों के जन्म चुक जाएँगे, पौधों के जन्म होंगे। पौधों के जन्म चुक जाएँगे, पत्थरों के जन्म होंगे। लौटते जाएँ उस जगह जहाँ पहले दिन आपकी चेतना सक्रिय हुई और मन का निर्माण शुरू हुआ। लेकिन वह बड़ी लम्बी यात्रा है और अति कठिन है। इसमें मत पड़ें कि यह मन कैसे बना। हाँ, लेकिन एक सरल उपाय है कि इस मन को विसर्जित करें। और विसर्जन को अभी आप देख सकते हैं। और जब आप विसर्जन को देख लेंगे तो आप जान जाएँगे कि विसर्जन की जो प्रक्रिया है उससे उल्टी प्रक्रिया सर्जन की है।

बुद्ध एक दिन अपने भिक्षुओं के बीच सुबह जब बोलने गए, तो उनके हाथ में एक रेशम का रूमाल था। बैठकर उन्होंने उस पर पाँच गाँठें लगाईं। भिक्षु बड़े चिन्तित हुए क्योंकि बुद्ध कभी कुछ हाथ में लेकर न आते थे। रेशम का रूमाल क्यों ले आए और फिर बोलने की जगह बैठकर उस पर गाँठें लगाने लगे। बड़ी उत्सुकता, बड़ी आतुरता हो गई। क्या कोई जादू दिखाने का ख्याल है? क्योंकि जादूगर रूमाल वगैरह लेकर आते हैं। बुद्ध से क्या रूमाल लेकर आने की बात? लेकिन बुद्ध ने शांति से, सन्नाटे में पाँच गाँठें लगाईं और फिर उन्होंने कहा भिक्षुओ, रूमाल में गाँठें लग गई। मैं तुमसे दो सवाल पूछना चाहता हूँ। एक तो यह कि जब रूमाल में गाँठे नहीं लगी थीं तब के रूमाल में, और अब रूमाल में गाँठें लग गई हैं, अब के रूमाल में क्या कोई स्वरूपगत फर्क है? एक भिक्षु ने कहा, स्वरूपगत तो फर्क बिलकुल नहीं है, रूमाल वही का वही है। जरा भी, इंच भर भी तो रूमाल के स्वरूप में फर्क नहीं है, लेकिन आप हमें फँसाने की कोशिश कर रहे हैं। फर्क हो गया, क्योंकि तब रूमाल में गाँठें न थीं और अब गाठें हैं। लेकिन फर्क बहुत ऊपरी है, क्योंकि गाँठें रूमाल के स्वभाव पर नहीं लगतीं, केवल शरीर पर लगती हैं।

संसार और निर्वाण में इतना ही फर्क है। निर्वाण में भी वही स्वरूप होता है, जो संसार में। सिर्फ संसार में रूमाल पर पाँच गाँठें होती हैं। बुद्ध ने कहा, भिक्षुओ, यह जो रूमाल है गाँठ लगा हुआ, ऐसे ही तुम हो। तुममें और मुझमें बहुत फर्क नहीं। स्वरूप एक-जैसा है। सिर्फ तुम पर कुछ गाँठें लगी हैं।

बुद्ध ने कहा, इन गाँठों को मैं खोलना चाहता हूँ। उस रूमाल को

पकड़ कर बुद्ध ने खींचा। स्वभावतः खींचने से गाँठें और मजबूत हो गईं। एक भिक्षु ने कहा, आप जो कर रहे हैं, इससे गाँठें खुलेंगी नहीं, खुलना और मुश्किल हो जाएगा। बुद्ध ने कहा, तो इसका यह अर्थ हुआ कि जब तक गाँठों को ठीक से न समझ लिया जाय, तबतक खींचना खतरनाक है। हम सब गाँठों को खींच रहे हैं बिना समझे कि गाँठें कैसे लगी हैं।

एक भिक्षु से बुद्ध ने कहा, तो मैं क्या करूँ? उस भिक्षु ने कहा, जानना जरूरी है कि गाँठ कैसे लगी। तभी गाँठ खोला जा सकता है, क्योंकि लगने का जो ढंग है, उससे विपरीत खुलने का ढंग होगा। बुद्ध ने कहा, गाँठें अभी लगी हैं, इसलिए तुम्हारे खयाल मे है कि कैसे लगी, लेकिन गाँठें अगर बहुत काल पहले लगी होती, तो तुम कैसे पता लगाते कि गाँठें कैसे लगी। लग चुकीं। तब उस भिक्षु ने कहा, तब तो हम खोलकर ही पता लगाते। खोलने से पता लग जाएगा। क्योंकि खोलने का जो ढंग है, उसका उलटा ढंग लगने का होगा।

तो आप इस फिक्र में न पड़ें कि यह मन कैसे पैदा हुआ, आप इस फिक्र मे पड़ें कि यह मन कैसे चला जाए। जिस क्षण चला जाएगा, उसी क्षण आप जानेंगे कि कैसे पैदा हुआ था। जो विसर्जन करता है, वह सर्जन करने वाला है और जो विसर्जन कर सकता है, वह सर्जन कर सकता था। विसर्जन की जो प्रक्रिया है, उससे उलटी प्रक्रिया सर्जन की है।

ऋषि कहता है, 'शुद्ध परमात्मा ही उनका आकाश है।' यही महासिद्धान्त है। जब भीतर का आकाश बादलरहित, मेघरहित, विचाररहित, मनरहित हो जाता है, तभी परमात्मा का पता चलेगा। जब आकाश में बादल घिर जाते हैं, तो बादलो का पता चलता है, आकाश का पता नही चलता। हालांकि आकाश मिट नहीं गया होता। सदा बादलों के पीछे खड़ा रहता है। बादल भी आकाश मे ही होते हैं, आकाश के बिना नहीं हो सकते। लेकिन जब बदलियों से घिरा होता है आकाश, तो बदलियों का पता चलता है, आकाश का पता नही चलता। विचारों से और मन से घिरे हुए होने पर भीतर के आकाश का पता नहीं चलता।

डेविड ह्यूम ने कहा है कि ये बातें सुनकर कि भीतर भी कोई है, मैं बहुत बार खोजने गया, लेकिन जब भी भीतर गया, तो मुझे कोई आत्मा न मिली, कोई परमात्मा न मिला। कभी कोई विचार मिला, कभी कोई वासना मिली,

कभी कोई वृत्ति मिली, कभी कोई राग मिला लेकिन आत्मा कभी भी न मिली। वह ठीक कहता है। अगर आप अपने हवाई जहाज को उड़ाएँ, या अपने पंखों को फैलाएँ आकाश की तरफ और बदलियाँ आपको मिलें और बदलियों को ही खोज करके आप वापस लौट आएँ, बदलियों को पार न करें, तो लौटकर आप भी कहेंगे, आकाश कोई भी न मिला। बदलियाँ ही बदलियाँ थीं, धुआँ ही धुआँ था, बादल ही बादल थे, कहीं कोई आकाश न था। अपने भीतर भी हम सिर्फ बदलियों तक जाकर लौट आते हैं। उनके पार प्रवेश नहीं हो पाता। जब तक उनके पार प्रवेश न हो, तब तक अन्तर आकाश का अनुभव न हो सकेगा। जैसे आप कभी हवाई जहाज पर बादलों के ऊपर उड़े हों, और बादल नीचे छूट जाते हैं, वैसे ही ध्यान में भी उड़ान होती है, जब विचार नीचे छूट जाते और आप ऊपर हो जाते हैं, तब अन्दर का खुला आकाश मिलता है। इसे ऋषि कहता है, महा सिद्धान्त। क्योंकि इस पर सब कुछ निर्भर है।

ऋषि ने कहा है, शम, दम आदि दिव्य शक्तियों के आचरण में क्षेत्र और पात्र का अनुसरण करना चतुराई है। मनुष्य के पास शक्तियाँ हैं। मनुष्य के पास शक्तियाँ तो जरूर हैं, लेकिन समझ जागी हुई नहीं है। इसलिए शक्तियों का दुरुपयोग होता है। शक्ति के साथ समझ न हो, तो खतरनाक है। हाँ, समझ के साथ शक्ति न हो, तो कोई खतरा नहीं। लेकिन होता ऐसा है कि समझ के साथ अक्सर शक्ति नहीं होती और नासमझी के साथ अक्सर शक्ति होती है। इस दुनिया का दुर्भाग्य यही है कि नासमझों के हाथ में काफी शक्ति होती है। उसका कारण है कि नासमझ शक्ति की ही तलाश करते हैं। समझदार तो शक्ति की तलाश बन्द कर देते हैं।

नीत्से ने अपने जीवन का सार-सिद्धान्त जिस किताब में लिखा है, उसका नाम है, "द विल टु पावर," (शक्ति को खोजने की वासना, आकांक्षा, अभीप्सा, संकल्प)। नीत्से कहता है, इस जगत् मे पाने योग्य एक ही चीज है, वह है शक्ति, पावर। नीत्से कहता है, कोई सुख पाना नहीं चाहता। सब लोग शक्ति पाना चाहते हैं। और जब शक्ति मिलती है, तब सुख एक बाय-प्रोडक्ट है। और शक्ति पाने के लिए आदमी कितने दुख उठा लेता है। अनंत दुख उठाने को राजी हो जाता है।

नीत्से की बात, जहाँ तक साधारण आदमी का सवाल है, सौ प्रतिशत सही है। आपको जब भी सुख का अनुभव हुआ है, वह वही क्षण है, जब आपको

शक्ति का अनुभव हुआ है। अगर चार आदमी की गर्दन आपकी मुट्ठी में है, तो आपको बड़ा सुख मालूम पड़ता है। राष्ट्रपतियों को, प्रधानमंत्रियों को कौन-सा सुख मालूम पड़ता होगा ? कितने आदमियों की गर्दन है उनकी मुट्ठी में। प्रधान मंत्री पद से नीचे उतर जाता है तो ऐसी हालत हो जाती है क्रीज मिट गई हो कपड़े की। सब लुंज-पुंज हो जाता है। जान निकल जाती है, रीढ़ टूट जाती है, बिना रीढ़ के सरकने वाले पशु-जैसी हालत हो जाती है। कोई रीढ़ नहीं रह जाती। यही आदमी राजसिंहासन पर ऐसा रीढ़ वाला मालूम पड़ता था, लेकिन वह रीढ़ इसकी नहीं थी, वह सिंहासन के पीछे की हड्डी है, इसकी अपनी हड्डी नहीं है।

धन पाकर आदमी को क्या मिलता होगा ? और उस धन को पाकर जिससे कुछ खरीदने को नहीं बचता, क्या मिलता होगा ? धन पोटेंशियल पावर है। एक रुपया मेरी जेब में पड़ा है, तो बहुत चीजें पड़ी हैं एक साथ। चाहूं तो एक आदमी से रातभर पैर दबवा लूं। चाहूं तो एक आदमी से कहूं कि रात भर कहते रहो, हुजूर, हुजूर, तो वह हुजूर, हुजूर कहता रहेगा। इस एक रुपए में बहुत कुछ, बहुत शक्ति छिपी है। वह बीज में छिपी है। इसलिए रुपया जेब में होता है, तो भीतर आत्मा मालूम पड़ती है कि मैं भी हूं। क्योंकि अभी कुछ भी करवा लूं। जेब में रुपया नहीं होता है, तो भीतर से आत्मा सरक जाती है। हालत उलटी होती है, कि जिसकी जेब में रुपया है, वह मुझ से कुछ करवा ले।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन पर, एक अंधेरे रास्ते पर, चार चोरों ने हमला कर दिया। मुल्ला ऐसा लड़ा जैसा कोई लड़ सकता था। चारों को पस्त कर दिया। वे भी चार थे, चारों की हड्डी-पसली तोड़ दी। मुश्किल से वे चार मुल्ला पर कब्जा पा सके। जेब में हाथ डाला, तो केवल एक अठन्नी निकली। उन्होंने नसरुद्दीन से कहा, भई, अगर रुपया तेरी जेब में होता, तो आज हम जिन्दा न बचते। हद कर दी तूने भी। अठन्नी के पीछे ऐसी मार-काट मचाई! और हम इसलिए सहते गए और लड़ते चले गए कि तेरी मार-पीट से ऐसा लगा कि बहुत माल होगा। मुल्ला ने कहा, सवाल बहुत माल का नहीं है। आई कैन नॉट एक्सपोज माई फाईनेंसियल कण्डीशन टु टोटल स्ट्रेंजर्स। अपनी माली हालत मैं बिलकुल अजनबी लोगों के सामने प्रकट नहीं कर सकता। *अठन्नी ही है,* लेकिन इससे माली हालत

खराब हो गई न ! तुम चार आदमियों के सामने पता चल गया कि अठन्नी है। सब बात ही खराब हो गई। इसलिए लड़ा। अगर मेरी जेब में लाख-दो लाख रुपए होते, तो लडता ही नहीं। कहता निकाल लो।

माली हालत पावर है, सम्बल है। धन चाहते हैं शक्ति से, पद चाहते हैं शक्ति से। लेकिन नीत्से को पता नहीं है कि कुछ लोग हैं जो शक्ति नही चाहते, शान्ति चाहते हैं। बहुत थोड़े हैं, न्यून हैं। ऐसा कभी कोई ऋषि होता है, जो शांति चाहता है। और जो शांति चाहता है, उसे समझ मिलती है और जो शक्ति चाहता है, वह नासमझ होता चला जाता है। इसलिए इस दुनिया मे शक्तिशाली लोगो से ज्यादा नासमझ और स्टुपिड (मूढ) आदमी खोजना कठिन है। चाहे वह हिटलर हो, चाहे माओ हो और चाहे निक्सन हो, इससे कोई फर्क नही पड़ता। असल मे शक्ति की खोज ही मूढता है। उससे कुछ मिलने वाला नही। उससे सिर्फ दूसरे को दबाने की सुविधा मिलती है, अपने को पाने की नहीं। दूसरे को मैं कितना ही दबाऊँ, इससे क्या हल होता है ? समझदार खोजता है शांति, शक्ति नहीं। शांति में समझ का फूल खिलता है।

यह दुर्भाग्य है कि जिनके पास समझ होती है, उनके पास शक्ति नहीं होती; जिनके पास शक्ति होती है, उनके पास समझ नहीं होती। यह इतिहास की दुर्घटना है। इससे हम पीड़ित हैं। क्योंकि समझदार राह के किनारे खड़ा रहता है और बुद्धू राजसिंहासनों पर चढ़ जाते हैं। फिर उपद्रव होने ही वाला है। यह जो सारा उपद्रव है, उसका कारण यही है। यह उपद्रव मिट नहीं सकता। क्योंकि शक्ति मिलते ही, जिसके पास बुद्धि नहीं है, वह भी शक्ति की गर्मी में बुद्धिमान मालूम पड़ने लगता है। वह भी बुद्धिमान की बातें करने लगता है।

सुना है मैंने कि नसरुद्दीन एक सम्राट् के घर सेवक हो गया था। भोजन के लिए पहले ही दिन बैठा था, तो सम्राट् ने कहा, देखो, यह सब्जी कैसी बनी है ? नसरुद्दीन ने कहा, यह सब्जी, यह अमृत है। रसोइए ने सुना, दूसरे दिन भी वही सब्जी बना लाया। सम्राट् थोड़ा बेचैन हुआ, लेकिन नसरुद्दीन उसकी तारीफ हांके जा रहा था कि बिलकुल अमृत है। इसको जो खाता है, वह कभी मरता ही नही। सम्राट् किसी तरह खा गया। रसोइए ने तारीफ सुनी। तीसरे दिन फिर बना लाया। सम्राट् ने कहा, हटाओ इस अमृत को

यहाँ से। यह मरने के पहले ही मुझे मार डालेगा। हाथ मारकर उसने थाली नीचे पटक दी। मसखरीन ने कहा, हुजूर, यह बिलकुल जहर है। इससे सावधान रहना। सम्राट् ने कहा, तू आदमी कैसा है? तू दो दिन तक अमृत कहता रहा, अब जहर कहने लगा? उसने कहा, मैं सब्जी का गुलाम नहीं, आपका गुलाम हूँ। 'यू पे मी', तुम मुझे तनखाह देते हो, सब्जी मुझे तनखाह नही देती। जब तुम खा रहे थे तो अमृत थी, जब तुम फेंक रहे हो, तो जहर है। हमें क्या लेना-देना है। न हम खा रहे हैं, न हम फेंक रहे हैं।

जिसके हाथ मे ताकत है, उसके आस-पास ऐसे लोग इकट्ठे हो जाते हैं, जो कहते है, आप ईश्वर हैं।

हिटलर ने एक नाटक मण्डली में काम करने वाले एक अभिनेता को पकड़वा कर बुलवाया। वह वहाँ मजाक का काम करता था। नाट्य मण्डली में मसखरे का काम करता था। जर्मनी में जब हिटकर ताकत मे था, तो 'हेल हिटलर, की जय हो, वह महामंत्र था। जर्मनी का वह गायत्री मन्त्र-जैसा था। यह जो अभिनेता था, मसखरा, यह मंच पर आकर कहता था 'हेल....? और फिर कहता, 'क्या नाम है उस नालायक का? इतना ही कहकर रुक जाता। 'हेल....क्या नाम है उस मूरख का!' सारे लोग समझ तो जाते थे कि 'हेल' के बाद 'हिटलर' होना चाहिए क्योंकि इसमे कोई शक तो था नही। पूरा हॉल हँसता।

हिटलर ने उसको बुलवा लिया। उसने कहा, तूने मेरा व्यंग्य किया? उसने कहा, मैंने कभी जिन्दगी में आपका नाम ही नही लिया। मैं तो सिर्फ इतना ही कहता हूँ, 'हेल! क्या नाम है उस मूरख का?' इससे ज्यादा मैंने कभी कुछ कहा नहीं। उसको जेल में डाल दिया गया, वह जेल मे सड़ा और मरा, क्योंकि शक्ति के अन्धे लोग व्यंग्य भी तो नहीं समझते। हिटलर की जगह कोई बुद्धिमान होता, तो हँसता, प्रसन्न होता, पुरस्कार देता। भारी चोट पड़ गई। यह जो शक्ति की तलाश है, हिंसक मन की तलाश है।

ऋषि कहता है, शक्तियों का समुचित उपयोग चतुराई है। शक्तियाँ सब दिव्य हैं। जो भी हैं, सब दिव्य हैं। अगर आज एटम बम हमारे हाथ में है, तो वह भी दिव्य है। उससे विराट शुभ फलित हो सकता है, मंगल की वर्षा हो सकती है। लेकिन दिव्य शक्तियों का सम्यक उपयोग चतुराई, बुद्धिमत्ता, विजडम है। वह 'विजडम' (बुद्धिमत्ता) उस व्यक्ति को ही उपलब्ध होती है,

जो अपनी इंद्रियों, अपनी वासनाओं, अपनी इच्छाओं के पार खड़े होकर देख पाता है, जो अपने मन से दूर होकर देख पाता है। तब बुद्धिमान होता है। बुद्धिमान वही होता है, जो तटस्थ होता है स्वयं से भी। अगर अपने से भी बहुत लगाव है, तो आदमी तटस्थ नहीं हो पाता। तटस्थ होने के लिए अपने मन से भी लगाव नहीं चाहिए।

अन्तर-आकाश में जो मन की बदलियों के पार जाता है, वही अपनी शक्तियों का सम्यक उपयोग कर पाता है, बुद्धिमानीपूर्वक उपयोग कर पाता है। शक्तियाँ हम सबके पास समान हैं—बुद्ध हो या हिटलर, महावीर हो या स्टैलिन, मुहम्मद हो या माओ, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। शक्तियाँ सबके पास बराबर हैं। लेकिन बुद्धिमानीपूर्ण उपयोग करने की क्षमता सबके पास नहीं दिखाई पड़ती। अधिक लोग अपनी ही शक्तियों के दुरुपयोग में दबते हैं और नष्ट होकर मर जाते हैं। काम-वासना शक्ति है। वह ब्रह्मचर्य बन सकती है, लेकिन व्यभिचार बनकर समाप्त हो जाती है। जो भी हमारे पास है, अगर उसका प्रज्ञापूर्वक उपयोग न हो सके, तो दिव्यशक्ति आत्मघाती हो जाती है। हम उपयोग करने को स्वतन्त्र हैं। कोई कहेगा नहीं कि ऐसा मत करो। हम स्वतन्त्र हैं।

मुल्ला नसरुद्दीन एक पेड़ पर बैठा है कालिदास के पोज (मुद्रा) में। काट रहे हैं उसी शाखा को जिस पर बैठे हुए हैं। बिलकुल गिरने के करीब हैं। नीचे से एक आदमी गुजरता है। वह कहता है, देखो महानुभाव, आप गिर जाएँगे। मुल्ला ने कहा, तुम कोई ज्योतिषी हो? अभी हम गिरे नहीं, तो तुम भविष्य बता रहे हो और मुफ्त में बता रहे हो। बिना पूछे बता रहे हो। जाओ अप ने रास्ते, ज्योतिष में मेरा विश्वास नहीं! ज्योतिष का कुछ लेना-देना नहीं है। काट रहे थे शाखा, काटते चले गए, क्योंकि ज्योतिष में उनका भरोसा नहीं था। फिर गिरे। नीचे गिरे तो कहा कि मान गया, आदमी ज्योतिषी था। भागे उस आदमी के पीछे। दूर निकल गया था, दो मील वह आदमी। उसे पकड़ा, पैरों पर गिर पड़े। कहा, जरा हाथ देख कर बता, मेरी मौत कब होगी। उस आदमी ने कहा कि मैं कोई ज्योतिषी नहीं हूँ। मुल्ला ने कहा, अब मैं छोडूंगा नहीं। हम समझ गए, भविष्य तू देख लेता है। बताना ही पड़ेगा। उसने कहा, ज्योतिष से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। साधारण आँखों का, छोटी सी-बुद्धि का उपयोग किया है। मुझे कुछ पता नहीं

भविष्य का। लेकिन इतना कोई भी कह सकता है कि जिस डाल पर बैठे हो, उसको काटोगे तो गिरोगे, मरोगे।

करीब-करीब हम सभी जिस डाल पर बैठे हैं, उसी को काट रहे हैं। सभी कालिदास के 'पोज' में हैं। यह कालिदास, कहना चाहिए, ऐसा आदमी है जो हम सबके भीतर के टाइप की खबर देता है। हम सब उसी डाल को काटते रहते हैं। पर पता नहीं चलता, क्योंकि डालें सूक्ष्म हैं, काटने का ढंग सूक्ष्म है। एक साधारण वृक्ष पर कोई बैठकर काटता है, तो हमको भी दिख जाता है कि गिरेगा। लेकिन हम सब काट रहे हैं। न हमें उन डालों का पता है, जिन पर हम बैठे हैं; न हमें उन हथियारों का पता है, जिनसे हम काट रहे हैं। न हमें नीचे की गहराई का पता है, जहाँ हम गिरेंगे और अगर कोई नीचे से कहता हुआ भी निकले कि देखो गिर जाओगे, तो हम उससे कहते हैं, तुम कोई ज्योतिषी हो? भविष्य बता रहे हो और बिना पूछे बता रहे हो।

हम अपनी शक्तियों के साथ क्या कर रहे हैं? स्वोसाइड, आत्मघात कर रहे हैं। तर्क, एक दिव्य शक्ति है हमारे पास, लेकिन हम करते क्या हैं? तर्क हमे परमात्मा तक पहुँचा सकता है, अगर हम उसका ठीक उपयोग कर पाएँ। लेकिन तर्क का हम उपयोग करते हैं परमात्मा से दूर रहने के लिए, बचने के लिए। हम तर्क का ठीक उपयोग करें जैसा कि सुकरात ने किया। सुकरात ने तर्क का बहुत उपयोग किया। और आखीर मे उसने कहा कि तर्क का उपयोग करके मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि तर्क से मैं दोनो ही बातें सिद्ध कर सकता हूँ, इसलिए उसके सिद्ध करने का कोई अर्थ नहीं। दोनो ही बातें सिद्ध कर सकता हूँ। कह सकता हूँ ईश्वर है और सिद्ध कर सकता हूँ, और कह सकता हूँ ईश्वर नहीं है और सिद्ध कर सकता हूँ। ऐसा हुआ है।

मुल्ला नसरुद्दीन को एक आदमी ने चैलेंज कर दिया, चुनौती दे दी कि विवाद होकर रहेगा। तुम बड़े ज्ञानी बने हो। तुम जो बातें कह रहे हो, उसका खंडन किया जाएगा। दिन तय हो गया, भीड़ इकट्ठी हो गई। नसरुद्दीन आया। नसरुद्दीन ने उस आदमी से कहा कि बोलो मेरे खिलाफ। तुम्हें जो कहना है, कहो। उस आदमी ने नसरुद्दीन का खूब खण्डन किया। जो-जो नसरुद्दीन के विचार थे, उनको तोड़ा। एक-एक को टुकड़े-टुकड़े कर डाला। गौरव से, जीत के भाव से उसने नसरुद्दीन की तरफ देखा। नसरुद्दीन ने कहा, आश्चर्य है। कुशल हो, प्रतिभाशाली हो। अब एक काम और कर दो। अब

जितनी चीजें तुमने खण्डित की हैं, उनको सिद्ध करके बताओ। तब तुम्हारे तर्क की पूरी कुशलता का पता चलेगा। वह आदमी तो आ गया था जोश में। गर्मी में था, होश में तो था नहीं। वह नसरुद्दीन की ट्रिक समझ न पाया। उसने नसरुद्दीन सही है, यह सिद्ध करना शुरू कर दिया। घण्टे भर में जिसे तोड़ा था जमीन पर, घण्टे भर में फिर उसी नसरुद्दीन को बना कर खड़ा कर दिया। नसरुद्दीन ने लोगों से कहा कि देखो। यह आदमी पागल है। इसकी तुम कौन-सी बात में भरोसा करते हो—पहली कि दूसरी? उन लोगों ने कहा, इसकी हम अब कभी भी किसी बात में भरोसा न करेंगे। नसरुद्दीन ने कहा कि जाओ, तुम हार गए। नसरुद्दीन ने एक तर्क भी न दिया।

असल में तर्क दोनों ही काम कर सकता है। तर्क दुधारी तलवार है। वह दोनों काम बराबर करता है। सागर युनिवर्सिटी के निर्माता डॉक्टर हरीसिंह गौड़ के सम्बन्ध में एक बहुत प्रसिद्ध घटना है कि वह प्रिवी कौंसिल में एक मुकदमा लड़ रहे थे। सम्भवतः भारत में उन जैसा कानूनविद् उस समय नहीं था। हिन्दुस्तान के शायद वह अकेले वकील थे, जिनके तीन आफिस थे—एक पेकिंग में, एक लंदन में और एक दिल्ली में। पूरे साल यहाँ से वहाँ भागते रहते थे। करोड़ों रुपए उन्होंने कमाए और सब सागर विश्वविद्यालय पर लगाए, लेकिन कभी किसी भिखारी को एक पैसा दान नहीं दिया। सागर में ऐसा कहा जाता था कि अगर कोई भिखारी उनके घर की तरफ चला जाए, तो लोग समझ जाते थे कि नया भिखारी है। नया भिखारी है, परिचित नहीं है गाँव से, क्योंकि हरीसिंह गौड़ के घर से कभी एक पैसा किसी को नहीं मिला। लोग सोचते नहीं थे, कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि यह आदमी चुकता दान कर देगा।

वे एक बड़े मुकदमे में थे। भूल-चूक हो गई कुछ। जल्दी में थे, रात काम में उलझे रहे, फाइल न देख पाए। वे समझते थे कि 'अ' के वकील हैं, पर थे 'ब' के वकील। दो पार्टी में 'ब' के वकील थे, 'अ' के वकील नहीं थे। भूल-चूक हो गई। अदालत में जाकर उन्होंने जो वक्तव्य दिया उससे उनका जो मुवक्किल था, उसका तो पसीना छूट गया, क्योंकि वह उसके खिलाफ बोल रहे थे। उसका तो जान निकलने लगी, वह तो मरने के करीब आ गया, क्योंकि अभी दूसरा तो खिलाफ बोलने ही वाला है। जब अपना खिलाफ बोल रहा है, तब तो कोई उपाय ही नहीं रहा। करोड़ों का मामला था, बड़ा मुकदमा था,

किसी स्टेट का मुकदमा था। घबराहट फैल गई, मजिस्ट्रेट भी चकित हुआ। विरोधी वकील भी घबड़ाया कि हो क्या रहा है। किसी की समझ न पड़ा। लेकिन डॉक्टर गौड़ को रोकने की हिम्मत भी किसी में नहीं कि कोई बीच में रोक दे। जब वह पूरा बोल चुके, तो सदा बोलने के बाद वे एक गिलास पानी पीते थे, वह पानी पी रहे थे तब उनके असिस्टेन्ट ने कहा कि एक भूल हो गई। आप अपने ही आदमी के खिलाफ बोल दिए। उन्होंने कहा, कोई फिक्र मत कर। गिलास नीचे रखकर उन्होंने मजिस्ट्रेट से कहा कि अभी मैं वे बातें कह रहा था, जो मेरा विरोधी कहना चाहेगा। अब मैं इनका खण्डन करता हूँ। नाऊ आइ बिगिन द रेफ्यूटेशन। अभी तो मैंने वे दलीलें दी जो विरोधी देगा। अब मैं विरोध में खण्डन शुरू करता हूँ, और वे मुकदमा जीत गए।

तर्क का कोई बहुत मूल्य नहीं है। जो तर्क नही जानते, उन्ही को मूल्य मालूम पड़ता है। जो तर्क जानते हैं, वे समझते हैं कि तर्क से फिजूल और कुछ भी नहीं है। लेकिन तर्क को जो इतना समझ लेता है, वह फिर जीवन मे अनुभव की दिशा पर बढ़ता है। तर्क को छोड़ देता है। तर्क को जानने वाला बुद्धिमान व्यक्ति तर्क को छोड़ देता है और अतर्क्य अनुभव की तरफ जाता है। जो अभी तर्क ही कर रहा है, वह अभी बचकाना है, जुविनायल है और अगर ऐसा बुद्धिमान पुरुष कभी तर्क का उपयोग करता है, तो सिर्फ इसीलिए कि अतर्क्य की तरफ आपको ले जाया जा सके। अन्यथा उपयोग नहीं करता।

शक्तियाँ तटस्थ हैं। सारी शक्तियाँ दिव्य हैं। उनका कैसा उपयोग किया जाता है, इस पर सब निर्भर करता है। ऋषि कहता है, इन शक्तियों का क्षेत्र और पात्र के हिसाब से अनुसरण करना ही बुद्धिमानी है। समय, स्थान, स्थिति इन सबको ध्यान में रखकर शक्ति का सदुपयोग करना चाहिए, नहीं तो कई बार शक्ति अपव्यय होती है, कई बार अपने ही विरोध में पड़ जाती है, कई बार घातक हो जाती है। और यह कहा है क्षेत्र और काल, समय और स्थिति, स्थान और परिस्थिति, इनको देखकर शक्ति का उपयोग करना, क्योंकि कोई भी नियम इस जगत् में ऐब्सोल्यूट नहीं है, निरपेक्ष नहीं है, सापेक्ष है। कहीं तो जहर भी अमृत हो जाता है—किसी काल और किसी क्षेत्र में। किसी रोग में जहर औषधि बन जाता है और किसी रोग में भोजन जहर हो जाता है।

अगर हमने अंधे की तरह सिद्धान्तों का अनुसरण किया, तो वह बुद्धिमानी नहीं है। लेकिन हम करते हैं। हम सब अन्धों की तरह अनुसरण करते हैं। बिलकुल अंधों की तरह। एक सिद्धान्त को पकड़ लेते हैं लकीर के फकीर की तरह और फिर चाहे स्थिति बदले, समय बदले, काल बदले, हम नहीं बदलते। हम तो अपने सिद्धान्त पर दृढ रहते हैं। यह मूढ़ता का लक्षण है। कोई सिद्धान्त ऐसा नहीं है, जो काल और स्थिति के साथ बदल न जाता हो। लेकिन हम कहते हैं, सब बदल जाए, लेकिन हम सिद्धान्त नहीं बदलेंगे। सिद्धान्त तो हमारा अटल है। ऐसा अटल सिद्धान्त बुद्धिमानी का लक्षण नहीं है।

कृष्ण-जैसा आदमी सिद्धान्तों की तरलता को जानता है। कृष्ण को भी पता है कि अहिंसा बहुमूल्य है, परम सिद्धान्त है, भली भाँति पता है। लेकिन अर्जुन को हिंसा के लिए तत्पर करते हैं, क्योंकि काल और क्षेत्र बिलकुल भिन्न है। क्योंकि सवाल अहिंसा का नहीं है इस जगत् में। इस जगत् में कृष्ण के सामने सवाल यह था कि अर्जुन से जो हिंसा होगी, वह हिंसा दुर्योधन से होने वाली हिंसा से बेहतर होगी।

चुनाव अहिंसा और हिंसा के बीच नहीं है, चुनाव सदा कम हिंसा और ज्यादा हिंसा के बीच है। चुनाव अच्छाई और बुराई के बीच नहीं है, चुनाव सदा कम बुराई और ज्यादा बुराई के बीच है। 'लेसर ईविल'—वह जो कम से कम बुरा है, उसे चुनना ही पड़ेगा इस जगत में, व्यवहार में—चारो ओर जो फैलाव है जीवन का उसमें। इसलिए कृष्ण को अहिंसक मानने वाले लोग सदा बड़ी दुविधा में देखे गए हैं। जैनों ने तो नर्क में डाला। 'कन्सी-डर्ड ली', काफी सोच-विचार कर ऐसा किया। गाँधी जी को भी बड़ी मुसीबत थी कृष्ण से। गीता को माता कहते थे, लेकिन माता को ऐसे कपड़े पहनाते थे जो बिलकुल उनके अपने खुद के थे। उनका गीता से कोई सम्बन्ध न था।

गाँधी जी को अड़चन होती थी। अहिंसा की बात करनी और गीता को माता कहना बिलकुल इनकंसिस्टेंट, असगत बातें हैं। हिंसा के परम व्याख्याकार कृष्ण, जिन्होंने हिंसा को ऐसा सबल बल दिया और अहिंसा को परम धर्म कहना, इनमें कोई ताल-मेल नहीं था, पर ताल-मेल बिठाया जा सकता है। तर्क कुशल है। गांधीजी कहते थे, यह युद्ध कभी हुआ नहीं। यह युद्ध तो सिर्फ

मिथ (पुराण-कल्पना) है। कौरव और पाण्डव कभी वास्तविक रूप से लड़े नहीं। कौरव बुराई के प्रतीक हैं, पाण्डव भलाई के प्रतीक हैं। यह तो आदमी के भीतर जो शुभ और अशुभ की वृत्तियाँ हैं, उनकी लड़ाई है। यह युद्ध कभी हुआ नहीं। यह ट्रिक उपयोग कर गई, तो फिर दिक्कत न रही। बुराई से लड़ने में कोई हर्जा नही है। बुराई से लड़ने में हिंसा भी नही है। लेकिन यह बात झूठ है।

महाभारत युद्ध हुआ है। कृष्ण बुराई और भलाई के बीच लड़ाई नही करवा रहे हैं, यह युद्ध बहुत वास्तविक हुआ है। लेकिन कृष्ण को समझना हो, तो जो बात समझनी पड़ेगी, वह ऋषि जो कह रहा है, वही बात है। कृष्ण भी कहते हैं कि अहिंसा परम धर्म है लेकिन वे कहते हैं, अहिंसा परम धर्म होते हुए भी जीवन में सीधा चुनाव कभी नहीं आता है—हिंसा और अहिंसा का। जीवन में सदा चुनाव आता है कम हिंसा और ज्यादा हिंसा का। कम हिंसा को चुनना अहिंसक का लक्षण है। इसलिए कृष्ण कम हिंसा को चुनने को राजी हुए। अहिंसा के नाम से कम हिंसा से भी भाग जाना सिर्फ कायर का लक्षण है।

ऋषि कह रहा है काल, क्षेत्र और परिस्थिति का पूरा का पूरा हिसाब रखकर जो सिद्धान्तों का अनुसरण करता है, वही बुद्धिमान है।

मैंने सुना है, पंचतन्त्र में एक बहुत अद्भुत प्रसिद्ध कथा है कि चार बहुत बुद्धिमान पण्डित काशी से वापस लौटे। बारह वर्ष काशीवास करके ज्ञानी बनकर वापस लौटे। चारो परम ज्ञानी हैं, अपने-अपने शास्त्रों में स्पेशलिस्ट हैं। और जैसे 'स्पेशलिस्ट' (विशेषज्ञ) खतरनाक होते हैं, वैसे ही ये खतरनाक हैं, क्योंकि 'स्पेशलिस्ट' का मतलब ही यह होता है कि 'वन हू नोज मोर ऐंड मोर अबाउट लेस एंड लेस।' विशेषज्ञ का मतलब यह होता है कि कम से कम के सम्बन्ध में जो ज्यादा से ज्यादा जानता है। उसका उलटा मतलब यह हो जाता है कि जो ज्यादा से ज्यादा के सम्बन्ध मे कम से कम जानता है।

स्वभावतः चारो एक्सपर्ट थे, विशेषज्ञ थे। जब रास्ते में रुके पड़ाव पर, तो उसमें जो वनस्पति शास्त्र विशेषज्ञ था, उसे तीनो ने कहा, तुम सब्जी खरीद लाओ। वनस्पति शास्त्र का विशेषज्ञ था। सब्जी तो कभी खरीदी नहीं थी। सब्जियों के बाबत जानकारी भारी थी। उसने बैठकर बड़ा चिन्तन-मनन किया। अन्ततः उसने कहा कि नीम की पत्तियों के सिवा कोई चीज उचित

नहीं है। सिद्धान्त यही है कि सभी चीजों में कोई न कोई कमी, कोई न कोई खामी (दोष) है। कोई बात पैदा करती है, कोई कुछ पैदा करती है, कोई कुछ पैदा करती है। नीम की पत्ती एकदम निर्दोष है। वह नीम की पत्तियाँ तोड़कर बड़ा प्रसन्न वापस लौटा। शास्त्र का पूरा उपयोग हुआ। वह पूर्ण विशेषज्ञ था।

दूसरा था तर्कशास्त्री, लॉजीशियन। नव्य न्याय पढ़कर लौट रहा था। न्याय की गहराइयों मे उतरा था। न्यायशास्त्र में उदाहरण में सदा यह आता है कि घृत रखा है पात्र में, तो प्रश्न उठाया जाता है कि पात्र घृत को सँभालता है कि घृत पात्र को सँभालता है। कौन किसको सँभालता है? इसको उसने किताब मे पढ़ा था। तर्कशास्त्री को भेजा गया था घी लेने, क्योंकि तर्कशास्त्री से निरन्तर उसके मित्रों ने यह बात सुनी थी कि कौन किसको सँभालता है—पात्र घृत को सँभालता है या घृत पात्र को सँभालता है। लेकिन तर्कशास्त्री ने न तो कभी घृत पकड़ा था, न पात्र पकड़ा था हाथ में। बाजार से लौटते वक्त जब घी का पात्र लेकर वह चला, तो उसने कहा, आज अवसर मिला है कि देख ही लूं कि कौन किसको सँभालता है। उसने उलटा कर देखा। जो होना था, वह हुआ। घृत तो नीचे गिर गया, पात्र खाली रह गया। वह बड़ा प्रसन्न लौटा। उसने कहा, सिद्ध हो गया कि पात्र ही सँभालता है।

वह जो तीसरा व्यक्ति था, वह व्याकरण का विशेषज्ञ था। उसको कहा गया था कि तू आग वगैरह जला ले। चूल्हा तैयार रख, पानी चढ़ा देना। सब सामान आ रहा है, भोजन पका लेना। चौथे को भेजा था लकड़ियाँ लेने। क्योंकि वह एक मूर्तिकार था और लकड़ियों पर उसने बड़ी मेहनत की थी और मूर्तियाँ बनाई थीं। लेकिन उसे यह पता ही नहीं था कि गीली लकड़ियाँ जलाई नहीं जातीं। वह सौन्दर्य का पारखी था, मूर्तिकार था, चित्रकार था तो वह सुन्दरतम लकड़ियाँ जंगल से छाँटकर लाया, लेकिन वे सब गीली थीं। असल में सूखी लकड़ी सुन्दर रह भी नहीं आती। हरी होना चाहिए थी—जीवन्त, युवा। युवा से युवा, कोमल से कोमल, सुन्दर से सुन्दर लकड़ियाँ काटकर वह साँझ होते-होते वापस लौटा, क्योंकि चुनाव करने में बड़ी मुश्किल पड़ी। जंगल बड़ा था। लकड़ियाँ मतलब की न थीं, एक भी जल न सकती थी।

तीसरा व्यक्ति जो व्याकरण का विशेषज्ञ था, उसको दिया था अवसर

कि वह आग थोड़ी जलाकर तैयार रखे, लकड़ियाँ आ जाती हैं, थोड़ी बहुत वह लकड़ियाँ वहीं चुनकर आग जला ले। लकड़ियाँ आ जाएँगी, तब तक सामान आ जाता है। उसने आग भी जला ली थोड़ी। पानी रख कर बर्तन चढ़ा दिया। पानी में बुद-बुद की आवाज होने लगी। वह था व्याकरण का ज्ञाता। उसने पढा था कि अशब्द को न तो कभी सुनना चाहिए, न सहना चाहिए। यह बुदबुद तो कोई शब्द है नहीं। बहुत शास्त्र पढ डाले थे, लेकिन यह बुदबुद क्या बला है। यह निश्चित अशब्द है। शब्द नही है, तो अशब्द तो है ही पक्का। उसने कहा, इसको सुनना खतरनाक है। यह तो बिलकुल पाणिनी के खिलाफ जाना है। उठाकर लट्ठ उसने बर्तन मे मारा कि अशब्द को बन्द करो। वह बर्तन टूट गया, चूल्हा गिर गया, आग बुझ गई। साँझ को जब वे चारो मिले तो चारों भूखे ही सो गए। क्योंकि चारो विशेषज्ञ थे। सिद्धान्त उनने पक्के थे, गलती किसी ने न की थी। फिर भी गलती हो गई।

नही, जीवन तरल है, लोचपूर्ण है। सिद्धान्त सख्त और मुर्दा होते हं। जिन्दगी सख्त और मुर्दा नही होती। जो आदमी सिद्धान्तो को लोचपूर्ण नही बना सकता, वह बुद्धिमान नही है। सब शक्तियाँ, सब सिद्धान्त, जीवन में जो भी है, वह जितना तरल हो, जितना लोचपूर्ण हो, जितना परिवर्तित हो सके, प्रवाहमान हो, डायनेमिक हो, गत्यात्मक हो, उतना बुद्धिमानीपूर्ण है।

तो शुभ की शक्तियाँ हों या धर्म की सक्तियाँ हों, जो भी शक्तियाँ हैं मनुष्य के पास, वे सब दिव्य हैं और उनका सम्यक उपयोग बुद्धिमानी है, चतुराई है।

परात्पर से संयोग ही उनका तारक उपदेश हं। और उनका सम्यक उपयोग जिस बुद्धिमानी से होता है, उस बुद्धिमानी को ऋषि सदा कहते हैं, परात्पर से सयोग ही हमारा उपदेश है। अगर तुम अपनी सारी शक्तियों का, शम और दम की सारी शक्तियों का चतुराई से उपयोग करो, तो आज नहीं, कल तुम्हारा परात्पर, परम ब्रह्म से संयोग हो जाएगा। शक्तियाँ जब गलत उपयोग की जाती हैं, तो प्रभु से विपरीत बहती हैं। जब ठीक उपयोग की जाती हैं, तो प्रभु की ओर बहती हैं। शक्तियों का सम्यक उपयोग, शक्तियों का परमात्मा की ओर प्रवाह है। शक्तियों का गलत उपयोग परमात्मा के विपरीत, उलटा प्रवाह है। इसलिए जो शक्तियों का जितना

गलत उपयोग करेगा, उतना धीरे-धीरे परमात्मा से रिक्त और खाली होता चला जाएगा।

आज पश्चिम में एक शब्द का बहुत ही प्रचलन है—वह शब्द है : 'एम्पटीनेस' खालीपन। आज पश्चिम के जो भी विचारशील लोग हैं, चाहे अल्बर्ट कामू, और चाहे जॉन-पॉल सार्त्र और चाहे हाइडेगर और चाहे काफ्का, जिन्होंने पिछले पचास वर्षों में पश्चिम की बुद्धि को थिर किया है, उन सबकी जबान पर एक शब्द जो बहुत चलता है वह है एम्पटीनेस, खालीपन, रिक्तता। क्या बात है, पश्चिम को खालीपन का ऐसा अनुभव क्यों हो रहा है। इतना खालीपन का खयाल क्यों है। कहते है कि भीतर सब खाली है, आदमी के भीतर कुछ भी नहीं है।

पूरब के सब मनीषियों को जिन्हें पूर्णता का, फुलफिलमेंट का अनुभव हुआ है, वे कहते हैं, भीतर सब भरा है। अनन्त अनन्त भरा। और पूरब का मनीषी जब शून्य शब्द का भी उपयोग करता है, तब भी उसका अर्थ एम्पटीनेस नहीं होता। शून्य भी बड़ा भराव है। शून्य का अर्थ रिक्तता नहीं, शून्य का भी अपना भराव है। उसकी भी अपनी मौजूदगी है। उसकी भी अपनी 'बीइंग,' अपना अस्तित्व, अपनी सत्ता है। इसलिए शून्य का अर्थ एम्पटीनेस नहीं है। शून्य का अर्थ है : द व्हायड—रिक्त नहीं, खाली नहीं, शून्य। शून्य का अपना अस्तित्व है। रिक्तता तो केवल किसी का अभाव है, ऐब्सेंस है।

पश्चिम में इतने जोर से इस बीसवीं सदी में आकर रिक्तता की ऐसी प्रतीति का कारण इस ऋषि के सूत्र में है। ऋषि कहता है, अगर शक्तियों का सम्यक् उपयोग न हो, तो आदमी धीरे-धीरे परमात्मा के विपरीत हटता जाता है। और जब परमात्मा से विपरीत हटता है, तो रिक्तता का भाव होता है, खाली होता है। एक दिन लगता है, खाली डब्बा रह गया, भीतर कुछ भी नहीं। कुछ है ही नहीं। जो परमात्मा की तरफ चलता है, धीरे-धीरे भरता जाता है और एक दिन वह कहता है, भीतर इतना भर गया है, इतना भर गया है कि अब कोई जगह न बची। उसे पा लिया, जिसके अब पाने की भी कोई जगह नहीं, रखने के लिए भी कोई जगह नहीं। सब मिल गया।

महावीर ने कहा है, एक को पा लेने से सब पा लिया जाता है। इससे

उलटा भी होता है। एक को खोने से सब खो दिया जाता है। वह एक है परमात्मा। अगर उसकी तरफ हमारी पीठ है, तो आज नहीं कल हमें 'एम्पटीनेस' घेर लेगी, हम खाली हो जाएँगे। धन कितना ही हो, फिर भी भरेगा नहीं। यश कितना ही हो, फिर भी भरेगा नहीं। और महल कितने ही हों, पद कितने ही हों, ज्ञान कितना ही हो, फिर भी भरेगा नहीं, खाली ही हम होंगे। अगर परमात्मा की तरफ मुँह हो, और न हो ज्ञान, न हो त्याग, न हो पद, न हो धन, तो भी सब भर जाता है। उसकी तरफ नजर उठाते ही सब भर जाता है। लेकिन उसकी तरफ नजर उनकी ही उठती है, ऋषि कहता है, जो अपनी शक्तियों का सम्यक्, ठीक-ठीक बुद्धिमानी-पूर्वक उपयोग करते हैं।

अद्वैत सदानन्द ही उनका देव है। ऋषि जिसकी पूजा के लिए कहते हैं, जिसकी श्रद्धा के लिए कहते हैं, वह है अद्वैत सदानन्द, सदा ठहरनेवाला आनन्द। अपने अन्दर की इन्द्रियों का निग्रह ही उनका नियम है। इसे थोड़ा समझ लेना जरूरी है।

इन्द्रियों के दो हिस्से हैं। एक तो बहिर्-इन्द्रिय है, जैसे आँख है, बाहर है। आँख को निकाल भी दें, तो भी देखने की वासना नहीं जाती। देखने की वासना अन्तर्-इन्द्रिय में है। आँख बहिर्-इन्द्रिय है। देखने की क्षमता बहिर्-इन्द्रिय है, देखने की वासना अन्तर्-इन्द्रिय है। आँख के कारण आप नहीं देखते हैं, देखने की वासना के कारण आँख पैदा होती है। अब तो वैज्ञानिक भी इसको स्वीकार कर रहे हैं। वे कह रहे हैं, अगर अंधा आदमी देखने की वासना से बहुत भर जाए, तो उँगलियों से भी देख सकता है, पैर के अँगूठों से भी देख सकता है। क्योंकि आँख में जो चमड़ी काम में आई है, पूरे शरीर पर वही चमड़ी है। क्वालिटेटिवली कोई फर्क नहीं है, गुणात्मक कोई फर्क नहीं है। आँख में जो चमड़ी है, वह वही है, जो पूरे शरीर पर है।

आँख की चमड़ी के पीछे देखने की वासना ने हजारों-हजारों, लाखों-लाखों साल तक काम किया है। वह चमड़ी पारदर्शी हो गई है, बस। कान के पीछे देखने की वासना ने काम किया है और वह चमड़ी सुनने में समर्थ हो गई है। हड्डियाँ सुनने मे समर्थ हो गई हैं। उन हड्डियों में कोई क्वालिटेटिव फर्क नहीं है। शरीर की सब हड्डियाँ एक-जैसी हैं।

और अभी तो बहुत प्रयोग हुए हैं, जिनसे यह सिद्ध हो सका है कि आदमी शरीर के और अंगों से भी देख सकता है, और अंगों से भी सुन सकता है, लेकिन तीव्र वासना करके उस अंग की तरफ उस वासना को प्रवाहित करना पड़ेगा। तब ऐसा हो सकता है।

ऋषि कहता है, अन्तर्-इन्द्रियों का निग्रह। बाहर की इन्द्रियों का सवाल नहीं है। भीतर की जो वासना की इन्द्रिय है, अन्तर्-इन्द्रिय है, जो सूक्ष्म इन्द्रिय है, उसका निग्रह ही उनका नियम है। ऐसा नहीं है कि वे अंधे हो जाते हैं, आँख फोड़ लेते हैं। नहीं, वे देखने की वासना को शून्य कर लेते हैं। आँख फिर भी देखती है। लेकिन अब देखने की कोई वासना पीछे नहीं होती। इसलिए आँख अब वही देखती है, जो देखना जरूरी है; कान अब वही सुनता है, जो सुनना जरूरी है, हाथ वही छूता है, जो छूना जरूरी है। गैर-जरूरी गिर जाता है। इन्द्रियाँ मात्र दासियाँ हो जाती हैं।

●

बारहवाँ प्रवचन

साधना-शिविर, माऊन्ट आबू, प्रातः, दिनांक १ अक्टूबर, १९७१

सम्यक् त्याग, निर्मल शक्ति और परम अनुशासन

मुक्ति में प्रवेश

भय मोह शोक क्रोध त्यागस्त्यागः ।
परावरैक्य रसास्वादनम् ।
अनियामकत्व निर्मल शक्तिः ।
स्वप्रकाश ब्रह्मतत्वे शिवशक्ति सम्पुटित प्रपंचच्छेदनम् ।
तथा पत्राकाक्षिक कमण्डलुः भावाभावदहनम् ।
बिभ्रत्याकाशाधारम् ।

"भय, मोह, शोक और क्रोध का छोड़ना यही उनका त्याग है।

पर-ब्रह्म के साथ एकता के रस का स्वाद ही वे लेते हैं।

अनियामकपन ही उनकी निर्मल शक्ति है।

स्वयं प्रकाश ब्रह्म तत्व में शिव-शक्ति से सम्पुटित प्रपंच का छेदन करते हैं।

जैसे इन्द्रिय रूपी पत्रों से ढँका हुआ मण्डल होता है, ऐसे ही ढँकने वाले भाव और अभाव के आवरण को भस्म कर डालने के लिए वे आकाश रूप आधार को धारण करते हैं।"

ऋषि ने पहले ही सूत्र मे एक बहुत अनूठी बात कही। कहा है, त्यागियों का त्याग है भय, मोह, शोक और क्रोध को छोड़ना। इसका अर्थ हुआ, भोगियों का भी कुछ त्याग होता है। भोगी जब कुछ छोड़ता है, तो धन छोड़ता है, मोह नही। भोगी जब छोडता है, कुछ वस्तु तो छोड़ता है, वृत्ति नही। और वस्तु के त्याग से कुछ भी नही होता। क्योंकि वस्तु से कोई सम्बन्ध ही नही, सम्बन्ध वृत्ति से है। दो बातें खयाल मे ले लें।

भीतर मोह है, इसलिए बाहर मोह का विस्तार होता है—व्यक्तियों पर, वस्तुओं पर, सम्बन्धों में। भीतर क्रोध है, इसलिए निमित्त खोजे जाते हैं कारण खोजे जाते हैं बाहर, जिससे क्रोध प्रकट किया जा सके। जब कोई मुझे गाली देता है, मन को ऐसा लगता है कि उसने गाली दी, इसलिए मै क्रोधित हुआ। सचाई उलटी है। क्रोध तो मेरे भीतर है, गाली तो सिर्फ निमित्त है उसके बाहर आ जाने का। अगर कोई मुझे गाली न दे, तो क्रोध बाहर नहीं आएगा, लेकिन मै अक्रोधी नही हो जाऊंगा : क्रोध मेरे भीतर ही बना रहेगा। इतना इकट्ठा करता है आदमी, अगर सारी वस्तुएँ उससे छीन ली जाएं तो वह बिलकुल दिगम्बर और नग्न हो जाए। वस्तुएं छीन ली जाएं, या वह स्वयं छोड़ दे, तो भी जरूरी नहीं है कि भीतर से मोह बिदा हो गया। वस्तु तो सिर्फ मोह के विस्तार की सुविधा है, अपॉर्चुनिटी है, अवसर है। और छोटी से छोटी वस्तु भी बड़े से बड़े मोह के विस्तार के लिए

सुविधा बन जाती है। ऐसा नहीं कि एक बहुत बड़ा राज्य ही चाहिए मोह को फैलने के लिए, एक छोटी-सी लँगोटी भी काफी है। एक आदमी दो पैसे की चोरी करे, कि दो लाख की, अगर दो पैसे की चोरी करेगा, तो भोगी कहेगा कि छोटी-सी ही तो चोरी है। दो लाख की करेगा, तो बहुत बड़ी चोरी है। लेकिन त्यागी कहेगा, चोरी बड़ी और छोटी नहीं होती। दो पैसे भी उतनी चोरी को फैलने के लिए अवसर बन जाते हैं, जितना दो लाख। जहाँ तक चोरी का सम्बन्ध है, दो पैसे या दो लाख की चोरी बराबर होती है। जहाँ तक पैसों का सम्बन्ध है, दो पैसे में और दो लाख में बड़ा फर्क है। लेकिन जहाँ तक चोरी का सम्बन्ध है, दो पैसे और दो लाख की चोरी बराबर है। और थोड़ा भीतर उतरें, तो चोरी का भाव और चोरी का कृत्य भी बराबर है। दो पैसे भी चोर होने के लिए चुराने जरूरी नहीं, चोरी का भाव करना ही काफी है।

यह सूत्र कहता है, त्यागियों का त्याग···बडी मजे की बात है। क्योंकि इससे साफ हो जाता है कि भोगियो का भी त्याग है कुछ। त्यागियो का त्याग है भय, मोह, शोक और क्रोध आदि वृत्तियों का। वह अन्तर में जो छिपे हुए कारण हैं, मूल कारण, उनका त्याग। निश्चित ही जब मोह ही गिर जाता है, तो वस्तु से हमारा कोई सेतु, कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। फिर त्यागी महल के बीच में भी हो सकता है, लेकिन महल उसे बाँध नहीं पाता। और अगर महल के बीच रहकर त्यागी को महल बाँध लेता है, तो झोंपड़ी भी बाँध लेगा। कोई अन्तर नहीं पड़ने वाला है। झोंपड़ा नहीं होगा, वृक्ष के नीचे बैठेगा, तो वृक्ष ही बाँध लेगा।

जिसके भीतर मोह है, वह कहीं भी बँध जाएगा। क्षुद्रतम से बँध जाएगा। कोई बड़े साम्राज्य आवश्यक नहीं हैं बँधने के लिए, नहीं तो इस दुनिया में दो-चार ही लोग बँध पाएँ, बाकी तो सब मुक्त ही रहें। हीरा ही जरूरी नहीं, कौड़ी भी बाँध लेती है। त्यागी का त्याग या संन्यासी का त्याग तो उस आधार के ही विसर्जन का है, जिससे उपद्रव पैदा होता है। मूल पर आघात है।

एक आदमी वृक्ष के पत्ते काटता रहता है। अगर वह सोचता है कि वृक्ष के पत्ते काटना, वृक्ष को काटने का उपाय है, तो वह गलत समझता है, क्योंकि वृक्ष के पत्ते जब भी कोई काटता है, तो सिर्फ कलम होती है, वृक्ष

कटता नहीं, और एक पत्ते की जगह दो पत्ते निकल आते हैं। लगता है, काट रहा हूं वृक्ष को, शाखाएँ काट रहा हूं, लेकिन जो भी वृक्षों से परिचित हैं, वे जानते हैं कि वृक्ष के फैलने के लिए और सुविधा दे रहा हूं। जब एक शाखा कटती है, तो अनेक अंकुर निकल आते हैं, कलम हो जाती है। अनंत-अनंत जन्मों तक काटते रहें शाखाओं को, पत्तों को, कहीं पहुंचेंगे नहीं, क्योंकि मूल पर कोई चोट नहीं की जा रही है। वृक्ष पत्तों से नहीं जीता, वृक्ष जड़ों से जीता है। जड़ें भीतर जमीन के छिपी हैं, वे दिखाई नहीं पड़ती। वृक्ष जिनसे जीता है, वे छिपी हैं, भूमिगत हैं। इसीलिए छिपी हैं, क्योंकि जिनसे जीना है उन्हें भीतर छिपा होना जरूरी है, नहीं तो कोई भी नुकसान पहुँचा सकता है। इसे ठीक से समझ लें।

वृक्ष भी अपनी जड़ों को सुरक्षा में छिपाए हुए है। प्रकट नहीं है। जो प्रकट है उसको चोट पहुंचाने से गहरी चोट नहीं पहुंचने वाली है। पत्ते फिर निकल आएँगे, शाखाएँ फिर फूट जाएँगी। अभी पिछली बार जब मैं आया था आबू, तो सारा रास्ता सूखा हुआ था। एक पत्ता न था वृक्षों पर, लेकिन जड़ें भीतर हरी रही होंगी, क्योंकि अब आया हूँ, तो सब वृक्ष हरे हो गए हैं। सूरज हमला न कर पाए जड़ों पर, जानवर हमला न कर पाएँ, आदमी हमला न कर पाएँ, धूप हमला न कर पाए जड़ों पर इसलिए जड़ें जमीन में छिपी हैं। वृक्षों की आत्मा वहीं है। धूप आएगी, गर्मी आएगी, पत्ते सूखेंगे, गिर जाएँगे। वृक्ष निश्चिन्त है। थोड़ी प्रतीक्षा की बात है। फिर वर्षा होगी, फिर अंकुर निकल आएँगे। जड़ें सुरक्षित हैं, तो पत्ते कभी भी निकल आएँगे। लेकिन इससे उलटा नहीं हो सकता कि जड़ें टूट जाएँ, कट जाएँ, पत्ते सुरक्षित हों और जड़ें फिर से निकल आएँ। इससे उलटा नहीं होता।

हमारी बीमारी की जड़ क्या है? वह हमारा जो फैलाव है, विस्तार है, धन है, मकान है, मित्र हैं, प्रियजन हैं परिवार हैं, वहाँ हमारी जड़ें नहीं हैं। हमारी जड़ें भी भीतर छिपी हैं। सब जड़ें छिपी होती हैं। मोह भीतर छिपा है, मोह का विस्तार बाहर है। एक आदमी पत्नी को छोड़-कर भाग जा सकता है, बच्चों को छोड़कर जंगल में जा सकता है। लेकिन उस आदमी को पता नहीं कि जिसने पत्नी बनाई थी और जिसने बच्चे निर्मित किए थे, वह मोह साथ चला गया। वह मोह नई पत्नियाँ निर्मित कर लेगा, नए बच्चे बना लेगा। मन इतना चालाक है कि नए नाम रख देगा, नई

व्यवस्था कर लेगा। जड़ें सुरक्षित थी, अंकुर फिर निकल आएँगे। नाम से कोई फर्क नहीं पड़ता है। वह आदमी घर छोड़कर आश्रम बना लेगा। अब उसको आश्रम कहेगा और आश्रम के लिए उतना ही चिन्तारत हो जाएगा, जितना घर के लिए था। आश्रम की जमीन के लिए अदालत मे वैसे ही मुकदमा लड़ेगा, जैसे घर के लिए लडता था। आश्रम की ईंट-ईंट के लिए पैसा जुटाएगा, जैसे घर के लिए जुटाता था। अब वह एक बड़े धोखे मे है। वह है गृहस्थ, और जहाँ रह रहा है, उस जगह का नाम आश्रम है। अब वह अपने को और भी धोखा दे सकता है। 'सेल्फ डिसेप्शन', आत्म-वंचना और आसान है, क्योंकि वह कहेगा, मैं अपने ही लिए थोड़े ही करता हूँ, आश्रम के लिए करता हूँ। आप यह नही कह सकते कि मैं अपने लिए थोड़ें करता हूँ, हालाँकि हम भी कोशिश करते हैं। बाप कहता है कि मैं अपने लिए थोड़े ही करता हूँ, अपने बेटे के लिए करता हूं। अपने लिए थोड़े करता हूँ, पत्नी के लिए करता हूँ। जिम्मेदारी है।

अब वह कहेगा, परमात्मा के लिए कर रहा हूं। यह तो आश्रम है, यह कोई मेरा घर नही है। लेकिन उसके सारे सम्बन्ध वही है, जो उसके घर से थे। वह मोह तो साथ ले आया, क्रोध तो साथ ले आया, राग तो साथ ले आया आसक्ति तो साथ ले आया। इसलिए ऋषि कहता है, त्यागी का त्याग बाह्य त्याग नही है। इसका यह अर्थ नहीं है कि त्यागी बाह्य त्याग नही करेगा। इसका केवल इतना ही अर्थ है कि त्यागी जड़ों को ही तोड़ देते हैं। फिर बाहर जो है, वह स्वप्नवत् हो जाता है। वह घर हो कि आश्रम, वह अपना हो कि पराया, वह महल हो कि झोंपड़ा, वह स्वप्नवत् हो जाता है।

एक और मजे की बात है कि भोगी अगर छोड़कर भागता है, तो जिस चीज को छोड़कर भागता है, उससे डरता है। सदा डरता रहता है। क्योंकि उसे पक्का पता है कि वह चीज अगर फिर सामने आजाए, तो उसके भीतर जो छिपी हुई जड़ें हैं, वे अंकुरित हो जाएँगी। अगर वह धन को छोड़कर भागा है, तो वह ऐसी जगह से बचकर निकलेगा जहाँ धन फिर मिल सकता है। अगर वह स्त्री को छोड़कर भागा है, तो वह बचेगा ऐसी जगह से जहाँ स्त्री दिखाई पड़ सकती है। यह तो गृहस्थी से भी ज्यादा बदतर स्थिति है। यह भय तो भयंकर होगा। यह तो दूध का जला छाछ भी फूंक-फूंक कर पीने लगा। यह तो बहुत भय से आक्रात स्थिति है और भय से आक्रांत स्थिति ब्रह्म में प्रवेश

नहीं कर सकती। यह सारा का सारा जो भय है, उसे ऐसी सीमाएँ निर्मित करने को मजबूर करेगा, जिनके भीतर वह एक कारागृह का कैदी हो जाएगा।

आगे जो सूत्र आता है, वह बहुत ही क्रांतिकारी— टू मच रिव्होल्यूशनरी है। शायद यही कारण है कि निर्वाण उपनिषद् पर टीकाएँ नहीं हो सकी। यह उपेक्षित (नेग्लेक्टेड) उपनिषदों में से एक है। जब पहली दफा मैंने तय किया कि इस शिविर मे इस पर बात करनी है, तो अनेक लोगों ने मुझे पूछा कि ऐसा भी कोई उपनिषद् है—निर्वाण उपनिषद्। कठोपनिषद् है, छांदोग्य है, माण्डूक्य है, यह निर्वाण क्या है? यह बहुत ही खतरनाक है। ऋषि कह रहा है, वे वही छोड देते हैं, जिससे फैलाव के बीज ही नष्ट हो जाते हैं, दग्ध हो जाते हैं।

भय है, इसलिए हम बहुत आयोजन करते हैं। जब एक आदमी महल बना रहा है, दीवालें उठा रहा है, परकोटे घेर रहा है, इसलिए कि इतनी सुरक्षा का इन्तजाम कर रहा है। एक आदमी तलवार बगल में लटकाए हुए चल रहा है, वह भयभीत है। हम बहादुरो की जो मूर्तियाँ बनाते हैं, तो उनके हाथ मे तलवार जरूर रखते है। घोड़ो पर चढा देते हैं, तलवारें रख देते हैं, चौरस्तों पर खड़ा कर देते हैं। वे भय की मूर्त्तियाँ हैं, क्योंकि निर्भय आदमी के लिए तलवार की क्या आवश्यकता है? कहाँ है जरूरी? वह तलवार बताती है कि भीतर भय छिपा है। अगर हमें ऐटम बम बनाना पड़ा है, तो उसका कारण है कि आदमी आज जितना भयभीत है, उतना इसके पहले कभी भी नही था।

हमारे अस्त्र-सस्त्र हमारे भय के अनुपात में विकसित होते हैं। जिस दिन आदमी निर्भय हो जाएगा, अस्त्र-शस्त्र फेंक दिए जाएँगे। उनकी कोई भी तो जरूरत नहीं है। अस्त्र-शस्त्र हमारे भय का विस्तार है। जितने अस्त्र बढ़ते हैं, वे खबर देते हैं, बिलकुल आनुपातिक खबर देते हैं कि आदमी इतना भयभीत हो गया है कि बिना ऐटम बम के वह अपने को सुरक्षित अनुभव नही करता। बड़े से बड़े राष्ट्र—चाहे वह रूस हो या चाहे अमरीका, चाहे चीन, जिनके पास विराट शक्ति है, उनका बड़प्पन क्या है! उनका बड़प्पन यह है कि उनके पास विराट अस्त्र-शस्त्रों का ढेर है। लेकिन विराट अस्त्र-शस्त्रों का ढेर सिवा भीतर के भय के और किसी बात की सूचना नहीं देता।

और मजा यह है कि आप अस्त्र-सस्त्र कितने ही बढ़ाते चले जाएँ, इससे

कोई भीतर का भय नहीं मिट जाता। बढ़ता चला जाता है। एक तरकीब यह हो सकती है कि अस्त्र-शस्त्र का त्याग कर दें, छोड़ दें। तो भी जरूरी नहीं कि आप अभय को उपलब्ध हो जाएँ। अगर अस्त्र-शस्त्र को आप छोड़ते हैं, तो आप दूसरे सूक्ष्म अस्त्र-शस्त्र बनाना शुरू करेंगे। आप कहेंगे, निर्बल के बल राम। यह भी अस्त्र है। कहना चाहिए, ऐटम से भी बडा। गांधी जी अस्त्र-शस्त्र का उपयोग नहीं करते थे, लेकिन रोज प्रार्थना करते थे, 'निर्बल के बल राम'। मगर बल, चाहे वह ऐटम से आवे चाहे राम से आवे, आना जरूर चाहिए। निर्बल होने को राजी नहीं हैं, बल कहीं से आना ही चाहिए। सूक्ष्म बल की खोज शुरू हो जाएगी। त्यागी वह है, जो सब सुरक्षा की खोज ही छोड़ देता है। और मजा यह है कि राम का बल तभी मिलता है जब निर्बल इतना निर्बल होता है कि राम का बल भी उसके पास नहीं होता। कोई बल नहीं होता उसके पास, वह सारे आयोजन छोड़ देता है, क्योंकि वह कहता है कि भयभीत होना असंगत है। जहाँ मृत्यु निश्चित है, वहाँ भयभीत होने की जरूरत क्या है? जहाँ मरना होगा ही, वहाँ अब भय का कारण क्या है?

मैंने एक घटना सुनी है कि जापान में, जैसे राजस्थान मे राजपूत कभी थे—(अब तो नहीं हैं, कभी थे।) लडाकों का एक वर्ग था जो 'समुराई' कहलाता है। वे जापान के राजपूत थे। एक बहुत प्रसिद्ध सुमराई था। कहते हैं कि जापान में उसकी जोड का कोई तलवारबाज नहीं था। एक दिन घर लौट आया जल्दी, देखा कि उसका रसोइया उसकी पत्नी से प्रेम कर रहा है। तलवार खींच ली, लेकिन तभी उसे खयाल आया कि जब दूसरे के हाथ तलवार न हो तब उसे मारना समुराई धर्म के खिलाफ है, क्षत्रिय धर्म के खिलाफ है। तो उसने एक तलवार रसोइये को दी कि तू भी तलवार हाथ में ले और मुझसे जूझ। रसोइए ने कहा, ऐसे ही मार डालो। इस जूझने का कोई मतलब ही नहीं है। नाहक तुम अपने को समझाओगे कि तुम बड़े क्षत्रिय हो। मैंने कभी तलवार पकडी नहीं, मुझे पता नहीं की तलवार पकड़ी कैसे जाती है। तुम क्षण भर मे मुझे मार डालोगे। तो ऐसे ही मार डालो, यह और बहाना क्यों लेते हो? लेकिन समुराई ने कहा, किसी को ऐसे ही मार डालना तो नियमयुक्त नहीं है। इससे मैं सदा के लिए कलंकित हो जाऊँगा और समुराई की बदनामी होगी कि एक निहत्थे आदमी को मार दिया। तुझे मैं समय दे सकता हूँ।

तू चाहे तो छः महीने तलवार चलाना सीख ले। उसने कहा कि मुझ से कुछ न होगा। छः महीने क्या छह जन्म भी सीखूँ तो भी मैं तुम्हारे सामने तलवार नहीं चला सकता। यह मुझे भलीभाँति पता है। पूरे मूल्क में तुम्हारे मुकाबले कोई आदमी नहीं है। तो समुराई ने कहा, फिर मरने के लिए तैयार हो जा।

उस रसोइए ने सोचा, एक उपाय कर लेने में हर्ज क्या है। जब मरना ही है, तो ले लें तलवार। समुराई ने सोचा भी न था कि रसोइया इतने जोर से लड़ेगा। लेकिन जब मृत्यु सुनिश्चित हो, तो भय मिट जाता है। 'व्हेन डेथ इज डेफिनिट, फियर डिसअपीयर्स। भय तो तभी तक रहता है, जब मृत्यु अनिश्चित होती है। रसोइए की मृत्यु तो निश्चित थी। उसने तलवार उठाकर उलटे-सीधे हाथ चलाने शुरू कर दिए।

समुराई तो घबड़ाया, क्योंकि रसोइया नियम के विपरीत तलवार चला रहा था! वह डरा, क्योंकि वह नियम से सदा लड़ा था। नियम थे, मर्यादाएँ थीं, ढंग थे, जानता था कि दूसरा आदमी क्या वार करेगा। एक-एक वार परिचित था, लेकिन यह रसोइया तो ऐसे वार करने लगा, जो तलवार के शास्त्र में कहीं लिखे ही नहीं हैं। समुराई के लिए तो जीवन अभी शेष था। रसोइए का जीवन समाप्त हो चला था। समुराई बड़ा बहादुर लड़ाका था, लेकिन भीतर भय था। क्योंकि मौत निश्चित न थी। रसोइया सिर्फ रसोइया था, लेकिन मौत इतनी निश्चित थी कि उसके लिए भय का कोई कारण न था। थोड़ी ही देर में रसोइये ने समुराई को दीवाल से टिका दिया। छाती पर तलवाल रख दी। समुराई ने कहा, माफ कर। तू ऐसा लड़का हैं, यह मैंने कभी सोचा भी न था। उसने कहा, लड़का मैं बिलकुल नहीं हूँ। यह तो मौत के सुनिश्चित हो जाने से हुआ।

[संन्यासी जानता है, मौत सुनिश्चित है, तो भय कैसा ! भय का कोई अर्थ ही नहीं है। भय इर्रेलेवेंट है, असंगत है। जो होना ही है, वह एक अर्थ में हो ही गया। अब भय कैसा !

मोह को हम क्यों फैलाते हैं ? क्योंकि अकेले हम काफी नहीं हैं। दूसरा हो साथ, तीसरा हो साथ। अपने लोग हों, तो भरा-भरा लगता है। लेकिन संन्यासी जानता है कि अकेला होना नियति है (टु बी एलोन इज द डैस्टिनी), क्योंकि कोई उपाय नहीं है दूसरे के साथ होने का। है ही नहीं उपाय। चाहे पत्नी बनाओ, चाहे पति बनाओ, चाहे मित्र बनाओ, पिता, बेटा कुछ भी

बनाओ, दूसरा दूसरा ही रहेगा। कोई उपाय नहीं, कोई मार्ग नहीं है। अकेला होना नियति है। धोखा दे सकते हैं दूसरे को साथ रखकर कि अकेले नहीं हैं, और धोखा देने में तो हम बड़े कुशल हैं। आदमी अँधेरी गली से गुजरता है तो सीटी बजाने लगता है। कोई नहीं है, मालूम है कि मैं ही सीटी बजा रहा हूँ। लेकिन अपनी ही सीटी सुनकर ताकत आती मालूम पड़ती है। आदमी गाना गाने लगता है। अपना ही गाना गाता सुनकर ऐसा लगता है कि अकेले नही हैं। आदमी के धोखे का कोई अंत नहीं है।

अकेला हूं आदमी, इसलिए मोह को फैलाता हूं, बाँधता है, भ्रम खड़े करता है कि अकेला नहीं हूँ, मेरे साथ कोई है, संगी है, साथी है। और उसको पता नहीं है कि जिसको उसने संगी-साथी बनाया है, उसने भी उसे इसीलिए संगी-साथी माना हुआ है कि वह अकेला है। ध्यान रखे, दो अकेले मिलकर दुगुने अकेले हो जाएंगे तो क्या होगा ? गणित तो कहेगा, दुगुने अकेले हो जाएंगे--द लोनलीनेस विल बी डबल्ड। होना भी यही चाहिए। अगर दो बीमार मिलें तो, बीमारी दुगुनी हो जाती है। अगर दो अकेले आदमी इकट्ठे हो जाएं तो अकेलापन दोहरा और गहरा हो जाता है। संन्यासी कहता है, दो होने का मार्ग हो नही, अकेले हम हैं। इसकी स्वीकृति से मोह का विसर्जन हो जाता है—इसकी स्वीकृति मे एक्सेप्टीबिलिटी होती है कि मैं अकेला हूँ।

शोक क्या है, दुख क्या है ? एक ही दुख है जगत् में। सब दुख अपेक्षाओं से आते हैं, ऐक्सपेक्टेशन। सोचते कुछ हैं, होता कुछ है। सोचते थे कि जो आदमी रास्ते पर मिलेगा, नमस्कार करेगा, पर वह आँखें बचाकर निकल गया। शोक पैदा हो गया। शोक क्या है ? अपेक्षाओं की राख। और शोक से हम पीड़ित होते हैं, दुख से हम पीडित होते हैं। दुख बहुत छिद जाता है, छाती मे छिदता चला जाता है। फिर भी हम अपेक्षाएं किए चले जाते है, बिना यह देखे कि दुख के आने का दरवाजा क्या है—अपेक्षा। जहाँ अपेक्षा की, वहाँ दुख आया। दुख से हम बचना चाहते हैं और अपेक्षा करते चले जाते हैं। वही कालीदास का 'पोज', बैठे हैं जिस शाखा पर, उसे ही काट रहे हैं। रोज दुखी होते हैं और रोज अपेक्षाएं करते हैं। कभी इस तर्क को नहीं देख पाते, इस नियम को नही देख पाते कि अपेक्षाएं दुख पैदा करती हैं।

संन्यासी कहता है, दुखी नहीं होना है तो अपेक्षा नहीं करना। अपेक्षा तो अपने हाथ में है। जिस दिन मैंने अपेक्षा की, किसी भी भाँति की अपेक्षा की,

उस दिन शोक उतर आएगा, क्योंकि इस दुनिया में कोई आदमी मेरी अपेक्षाएं पूरा करने के लिए पैदा नहीं हुआ। हर आदमी अपनी अपेक्षाएं पूरा करने को पैदा हुआ है। बाप की अपेक्षा और है बेटे से, बेटी की अपेक्षा और है बाप से। होगी ही, क्योंकि बेटा बेटा है, बाप बाप है। दोनों की अपेक्षाएं दोनों को दुखी कर देंगी। जितना दुख होता है, उतनी अपेक्षाएं हम ज्यादा करने लगते हैं। हम सोचते हैं. अपेक्षाओं से सुख मिलेगा। पर अपेक्षाओं से दुख मिलता है। शोक क्या है? एक ही शोक है कि जो हम चाहते हैं, वह नहीं होता। जैसा हम चाहते हैं, वैसा नहीं होता। जैसा हम मानकर चलते हैं, वह नही होता।

मुल्ला नसरुद्दीन से किसो ने कुछ रुपए उधार माँगे। पचास रुपए उधार माँगे हैं। मुल्ला ने पचास रुपए लाकर उसे दे दिए हैं। वह बड़ा हैरान हुआ। ऐसी अपेक्षा न थी कि मुल्ला बिना कुछ कहे उठेगा और चुपचाप पचास रुपए दे देगा। पन्द्रह दिन बाद वायदे के अनुसार वह पचास रुपए वापस लौटा गया। मुल्ला बहुत चकित हुआ, क्योंकि ऐसी अपेक्षा न थी कि वह रुपए वापस लौटा जाएगा। लेकिन महीने भर बाद वह फिर हाजिर हुआ। उसने कहा कि पाँच सौ रुपए मुझे दीजिए। मुल्ला ने कहा, अब की बार तुम धोखा न दे पाओगे। पिछली बार तुम धोखा दे गए। (यू डिसीव्ड मी लास्ट टाइम।) उसने कहा, धोखा! मैं तुम्हारे पचास रुपए लौटा नही गया? उसने कहा, वही तो धोखा है, क्योंकि अपेक्षा यह थी कि रुपए लौटने वाले नहीं हैं। वही तो धोखा हुआ। पिछली दफे धोखा दे गए, लेकिन अबकी दफे न दे पाओगे। मैं रुपए देने वाला नही।

हम सब ऐसे ही जी रहे हैं। भीतर बड़े रस पैदा कर रहे हैं। लेकिन आपने कभी खयाल किया कि रास्ते से आप गुजर रहे हैं और एक आदमी आपका गिरा हुआ छाता उठाकर दे देता है, तो कितना अनुग्रह मालूम पड़ता है क्योंकि कोई अपेक्षा नही हैं कि उठाकर दे। यदि आपकी पत्नी उठाकर दे देगी, तो कोई अनुग्रह पैदा नही होगा। क्योंकि यह अपेक्षा थी ही कि उठाकर देना चाहिए। अगर न दे तो दुख पैदा होता है, लेकिन दे दे, तो सुख पैदा नहीं होता।

जहाँ जहाँ अपेक्षा बन जाती है वहाँ-वहाँ सुख क्षीण हो जाता है और दुख गहन हो जाता है। अपेक्षाएँ बिलकुल थिर हो जाती हैं, तो दुख ही दुख हाथ में

रह जाता है, सुख का तो कोई उपाय नहीं रह जाता। इसलिए अजनबी कभी थोड़ा-बहुत सुख भले दे दें, अपने लोग सुख नहीं दे पाते। इसका कारण अपने लोग नहीं हैं, इसका कारण अपेक्षा है। अपरिचित, अनजान लोग कभी सुख की झलक दे जाएँ, लेकिन परिचित, जाने-माने सबंधित, मित्र,परिवार के लोग कभी सुख नही दे पाते।

कोई बेटा किसी माँ को सुख नहीं दे पाता। यह वक्तव्य थोड़ा अतिशयोक्ति-पूर्ण मालूम पड़ेगा। आप कहेंगे कि चोर हो जाता है, तो नही दे पाता। नहीं, बुद्ध हो जाए, तो भी नहीं दे पाता। बेईमान हो जाए, तब तो दे ही नही पाता, ईमानदार हो जाए, तब भी नहीं दे पाता। सजा काटे, जेलखाने में चला जाए तो दे ही नहीं पाता। साधु हो जाए, सरल हो जाए, तो भी नही दे पाता। कुछ भी करे बेटा, कोई माँ आज तक तृप्त हुई है? इसकी खबर नही मिली। कोई बाप आज तक तृप्त हुआ, इसकी खबर नहीं मिली। बात क्या है? कारण क्या है? बाप की अपनी अपेक्षाएँ हैं। बेटे का अपना जीवन है। और यह भी बड़े मजे की बात है और बड़े राज की कि अगर बेटा बिलकुल बाप का मानकर चले तो भी सुख नहीं दे पाता, क्योंकि तब वह गोबर गणेश मालूम पड़ेगा—बिलकुल गोबर के गणेश, बाप कहे बैठो तो बैठ जाए, बाप कहे उठो, तो उठ जाए। बाप कहे चलो, तो चलने लगे। बाप सिर ठोक लेता है कि बेटा बिलकुल गोबर गणेश है। अगर बेटा बाप की न माने, तो दुख होता है। हमारे एक्सपेक्टेशंस कंट्राडिक्ट्री हैं, बड़े विरोधी हैं। अगर पति पत्नी की न माने, तो पीड़ा होती है, अगर बिलकुल मानकर चले तो समझती है, कैसा पति है! किसी मतलब का नही, हुए न हुए, बराबर। पति तो ऐसा चाहिए, रोबीला, और ऐसा भी चाहिए कि गुलाम। बड़ी मुश्किल है। पति चाहिए पुरुष, और ऐसा चाहिए कि पैर दाबता रहे। दोनो बातें हो नहीं सकतीं। वह पैर दाबे, तो पुरुषत्व क्षीण हो जाता है। पुरुषत्व क्षीण हो जाता है, तो पत्नी की दृष्टि गिर जाती है उस पर। वह नौकर-चाकर की तरह हो जाता है।

मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन घर लौटा है। वह पत्नी से कहने लगा, यह तूने क्या किया? मैनेजर नौकरी छोड़कर चला गया। पत्नी ने कहा, मैनेजर, और मेरा क्या सम्बन्ध? उसने कहा, तूने आज फोन करके इस तरह अपशब्द बोले कि उसने तत्काल इस्तीफा दे दिया। पत्नी ने कहा, अरे, बड़ी भूल हो

गई। मैं तो समझी कि फोन पर तुम हो।

हमारी ऐसी अपेक्षाएँ हैं। अगर प्रतिभाशाली बेटा होगा, तो बाप की खींची गई लक्ष्मणरेखाओं के भीतर नहीं चल सकता। प्रतिभा सदा स्वतन्त्र होती है। बाप चाहता है, बेटा प्रतिभाशाली हो, लेकिन बाप यह भी चाहता है कि मेरी मानकर चले। मानकर सिर्फ मन्द-बुद्धि चल सकते हैं। अब बड़ी मुश्किल है। मन्द-बुद्धि और प्रतिभा एक साथ नहीं हो सकती। मन्द-बुद्धि होगा तो दुख देगा, प्रतिभाशाली होगा तो दुख देगा। यह खेल क्या है? संन्यासी इस सत्य को समझकर अपेक्षाएँ करना बन्द कर देता है। वह कहता है, अपेक्षाएँ विरोधाभासी हैं, इसलिए मैं अपेक्षाएँ नहीं करता। अपेक्षाएँ दूसरे से की जा रही हैं। दूसरा उनको पूरा करने के लिए बाध्य क्यों हो? दूसरा दूसरा है और जब मैं अपेक्षा करता हूँ तो दूसरे की स्वतंत्रता में बाधा डालता हूँ। जब भी मैं छोटी-सी अपेक्षा भी, बिलकुल छोटी-सी अपेक्षा, करता हूँ जिसका कोई मतलब नहीं कि रास्ते से निकलूँ तो नमस्कार कर लो (जिसका कोई मतलब नहीं है, जिसमें कुछ खर्च नहीं होता किसी का) तो इतनी सी अपेक्षा भी दूसरे की स्वतन्त्रता पर बाधा है, हिंसा है, वायलेंस है।

संन्यासी कहता है, जब मैं स्वतन्त्र होने को आतुर हूँ, उत्सुक हूँ, तो सभी स्वतंत्र होने को आतुर और उत्सुक हैं। नहीं, कोई अपेक्षा नहीं। अपेक्षा नहीं, तो शोक नहीं, दुख नहीं। अपेक्षा नहीं, तो संताप नहीं पैदा होगा। शोक को छोड़ना हो, तो अपेक्षा की जड़ें छोड़ देनी पड़ती हैं, शोक छूट जाता है। जब भी क्रोध पैदा होता है मन में, तब ऐसा लगता है कि दूसरा जिम्मेवार है। क्रोध का कारण है, दूसरा जिम्मेवार है, ऐसी धारणा।

मुल्ला नसरुद्दीन एक नई जगह नौकरी करने गया। इन्टरव्यू हुआ। मालिक ने उसकी भेंट ली और कहा कि ध्यान रखो, तुम आदमी देखने से रिस्पौंसिबल (जिम्मेदार) नहीं मालूम पड़ते, अपने ढंग-ढौल से। मैंने अखबार में जो विज्ञापन दिया था, उसमें लिखा था कि इस पद के लिए बहुत रिस्पौंसिबल, योग्य, जिम्मेवार और उत्तरदायित्व को समझनेवाला आदमी चाहिए। मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा कि इसीलिए तो मैंने दरखास्त दी। बिकाज व्हेयरएवर ऐनीथिंग रौंग हैपंस आई एम आलवेज हेल्ड रिस्पांसिबल। कहीं कुछ गड़बड़ हो जाए, जिम्मेवार सदा मैं ही सिद्ध होता हूँ। मैं पच्चीस जगह नौकरी कर चुका, कहीं कोई भी गड़बड़ी हुई, जिम्मेवार सदा मैं ही सिद्ध हुआ।

आपने लिखा था कि जिम्मेवार आदमी की जरूरत है, तो मैं हाजिर हो गया।

क्रोध का सूत्र क्या है? सदा दूसरा जिम्मेवार है। क्रोध का सूत्र यही है कि सदा दूसरा जिम्मेवार है। क्रोध छोड़ना हो, तो समझना पड़ेगा कि सदा मैं ही जिम्मेवार हूं। फिर क्रोध का कोई कारण नहीं रह जाता। फिर क्रोध की जड़ें कट जाती हैं। तो संन्यासी कसम नहीं खाता कि मैं क्रोध नहीं करूंगा। वह क्रोध के राज को, रहस्य को, उसकी जड़ों को समझ लेता है और मुक्त हो जाता है। मुक्त होने में कठिनाई नहीं है। लेकिन आप पुराने सूत्र पकड़े रखें और कसमें खाते चले जाएं, तो मुश्किल में पड़ेंगे। भीतर तो यही मानते रहें कि जिम्मेवार दूसरा है और ऊपर से कहें कि मैं क्रोध नहीं करूंगा। यह नहीं होने वाला है। क्रोध भीतर बनेगा। रास्ते खोजेगा और विचित्र रास्ते खोज सकता है।

एक ईसाई पादरी के बाबत मैंने सुना है कि उसने कसम ली थी कि गालियां नहीं देगा। बुरे शब्द, अपशब्द नहीं बोलेगा। जिस दिन वह पादरी के पद पर दीक्षित हुआ, उसी दिन उसके स्वागत-समारोह मे गांव मे एक भोज हुआ। कसम तो खा ली थी कि गाली नहीं देगा। पहले ही दिन मुसीबत में पडा। कसम खानेवाले सदा मुसीबत में पड़ जाते हे, क्योंकि कसम कोई समझ नहीं है। समझदार आदमी कसम नहीं खा सकता। समझ काफी है, कसम की जरूरत नहीं है। गैर-समझदार आदमी समझ की कमी को कसम से पूरी करने की कोशिश करता है। और जब समझ ही नही है, तो कसम खाकर समझ पैदा नहीं हो जाएगी। कसम तो खा ली थी। पहले ही दिन भोज था। बडे बढ़िया, अच्छे कपड़े पहनकर पहुंचा था। बेरा ने भोजन परोसते वक्त सब्जी का पूरा का पूरा बर्तन उसके कपडों पर गिरा दिया। आग जल गई भीतर, गालियां होठों पर आ गईं। लेकिन कसम खा चुका था, तो उसने कहा कि भाइयो, कोई गृहस्थ आदमी इस समय पर, जो कहना जरूरी है, जरा इससे कहे, क्योंकि मैंने तो कसम ले ली है। जरा ऐसी बातें कहो, जो इस वक्त बिलकुल जरूरी है। यही होनेवाला है। क्योंकि कसमें क्या करेंगी, कसमें समझ नहीं हैं। नासमझ कसमें खाते हैं, संन्यासी व्रत नहीं लेता। यह बहुत हैरानी होगी सुन कर कि संन्यासी व्रत नहीं लेता। संन्यासी समझ से ही जीता है। समझ ही उसका एक मात्र व्रत है। जो समझ जाता है, समझ में आ जाता है, वह विसर्जित हो जाता है।

परब्रह्म के साथ एकता के रस का स्वाद ही वे लेते हैं। एक ही उनका स्वाद और एक ही उनका रस है। व्यक्तियों से नहीं है वह स्वाद। वस्तुओं से नही है वह स्वाद। वह रस व्यक्तियों से नहीं, वस्तुओं से नहीं। वह रस और स्वाद उनका सिर्फ परमात्मा से है। लेकिन वहाँ भी वे भय, मोह, शोक और क्रोध का सम्बन्ध नहीं बनाते। अब यह बहुत समझने-जैसी बात हैं।

आमतौर से भक्त जिनको हम कहते हैं, वे परमात्मा से भी भय, मोह, शोक और क्रोध का सम्बन्ध निर्मित कर लेते हैं। वे परमात्मा तक से रूठ जाते हैं। परमात्मा उनकी मानकर चले, इसकी अपेक्षा हो जाती है। वे जैसा कहें, वैसा परमात्मा करें, इसकी अपेक्षा बन जाती है। परमात्मा पर भी नाराज हो सकते हैं। उन्होंने अपने सब रोगों को परमात्मा पर आरोपित कर लिया। वे रोगों से मुक्त नहीं हुए। संन्यासी परमात्मा से कोई अपेक्षा नहीं करता। यही उसका सम्बन्ध बनता है। परमात्मा जो करता है, वह उसके लिए राजी है। क्रोध नहीं करता कि इससे अन्यथा होना था। परमात्मा से भी मोह नहीं बनाता, नहीं तो कोई भी निमित्त मोह के लिए कारण बन जाता है।

एक सन्त के सम्बन्ध में मैंने सुना है। वे राम के भक्त थे। कृष्ण के मन्दिर में गए, तो नमस्कार करने से इनकार कर दिया। उन्होंने कहा, जब तक धनुष-बाण हाथ मे न लोगे, तब तक मैं सिर न झुकाऊँगा। यह भारी मोह हो गया। यह मोह तो पागलपन हो गया। यह तो विक्षिप्तता हो गई। धनुष-बाण हाथ में हो, तभी मेरा सिर झुकेगा। तब तो मेरे सिर झुकने में भी कण्डीशन हो गई, शर्त हो गई कि धनुष-बाण हाथ में रखो, नहीं तो मेरा सिर झुकने वाला नहीं। अब यह मेरा सिर ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया।

हम सबके मोह हैं। मस्जिद के सामने से हम ऐसे निकल जाते हैं, जैसे कुछ नहीं। मन्दिर के सामने सिर झुका लेते हैं। मन्दिर में भी फर्क है—अपने-अपने मन्दिर हैं। अपने मदिर के सामने सिर झुका लेते हैं, दूसरे के मन्दिर के सामने ऐसे ही निकल जाते हैं। मोह वहाँ भी खड़ा है। संन्यासी का कोई मोह नहीं। इसलिए मैं कहता हूँ, संन्यासी के लिए मदिर और मस्जिद और गुरुद्वारा एक है। कभी मस्जिद करीब हो, तो वहाँ प्रार्थना कर लें, और कभी गुरुद्वारा करीब हो, तो वहाँ प्रार्थना कर लें, और कभी मन्दिर करीब हो, तो वहाँ प्रार्थना कर लें और कुछ भी करीब न हो, तो कहीं भी बैठ जाएँ। वही मंदिर है, वही मस्जिद है, वही गुरुद्वारा है। भीतर मन में बड़े मोह होते हैं।

संन्यासी का एक ही रस है, एक ही स्वाद है परम सत्ता की तरफ, और यह स्वाद तभी पैदा हो सकता है, जब ये चार ऊपर के स्वाद गिर गए हों, नहीं तो यह पैदा नहीं हो सकता। अगर ये चार स्वाद भय के, क्रोध के, मोह के, शोक के बने रहें, तो यह परम सत्ता की तरफ बहने वाला रस, यह रसधार पैदा नहीं होता।

इसके बाद का सूत्र है, अनियामकपन ही उनकी निर्मल शक्ति है। यह सूत्र बड़ा क्रांति का है। इसी सूत्र की मैं बात कर रहा था। अनियामक, इनडिसिप्लिन, अनुशासन-मुक्ति ही उनकी निर्मल शक्ति है। वे नियमन नहीं करते, वे अपने को डिसिप्लिन नहीं करते, वे अपने को अनुशासन में बांधते नहीं, वे व्रत नहीं लेते, नियम नहीं लेते। वे कोई मर्यादा नहीं बांधते, वे ऐसा नही कहते कि मैं ऐसा करूँगा। ऐसी कसम नहीं खाते। अनियम में जीते हैं, इनडिसिप्लिन में। बड़ी अजीब बात है। क्योंकि हम तो सोचते हैं कि संन्यासी को एक डिसिप्लिन में जीना चाहिए। लेफ्ट-राइट वाले डिसिप्लिन में होना चाहिए। हमारे तथाकथित संन्यासी हैं, बिलकुल 'लेफ्ट राइट' हैं। लेकिन यह ऋषि कहता है, अनियामकपन।

कैसे अद्भुत और प्यारे लोग रहे होंगे और कैसा साहस ओर कैसी गहरी समझ रही होगी। ऋषि कहता है, संन्यासी का कोई नियम नहीं है। असल में सब नियमों के बाहर हो जाना संन्यास है। मन को घबराहट होगी। अगर सब नियम टूट गए, तब तो सब अस्त-व्यस्त, अराजक हो जाएगा। तब तो जिन्दगी की सारी व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाएगी। नहीं होगी, क्योंकि इस अवस्था तक आने के लिए ऋषि कहता है मोह, लोभ, काम, क्रोध ये सब विसर्जित हो जाएँ। परमात्मा ही रस रह जाए, फिर अनियामकपन। जिसका काम न रहा, क्रोध न रहा, जिसका मोह न रहा, लोभ न रहा, भय न रहा, अब उस पर नियम की और क्या जरूरत रही? और अगर अब भी नियम की जरूरत है, तो स्वतन्त्रता फिर कब मिलेगी? और जिसका परमात्मा ही रस रह गया, अब उसके लिए नियम की क्या जरूरत रही।

संन्यासी रेल की तरह पटरियों पर नहीं दौड़ सकता। वह सरिताओं की तरह स्वतन्त्र है। सागर ही उसकी खोज है। रेल की बँधी हुई पटरी, जिन पर रेलगाड़ी के डब्बे दौड़ते रहते हैं, वह गृहस्थ के जीने का का ढंग है। गृहस्थ

रेलगाड़ी की पटरियों पर दौड़ता है और अक्सर कहीं नहीं पहुँचता, शंटिंग में ही होता है। कोई स्टेशन वगैरह कभी आती नहीं, शंटिंग ही चलती है। पत्नी इस तरफ जाती है, पति उस तरफ जाता है, बेटा उस तरफ जाता है। शंटिंग होती रहती है। धीरे-धीरे डब्बे जीर्ण-जर्जर होकर वहीं गिर जाते हैं। कोई यात्रा कभी पूरी नहीं हो पाती। और ठीक भी है, क्योंकि गृहस्थ जो है, वह पैसेंजर गाडी की तरह कम और मालगाड़ी की तरह ज्यादा है—तो गुड्स ट्रेन की शंटिंग आप देखते ही हैं, होती ही रहती है।

गृहस्थ भारी बोझ और सामान लिये हुए चल रहा है। बोझ इतना है कि चलना हो नहीं पाता और बोझ बढ़ाता ही चला जाता है। रोज बोझ बढ़ता चला जाता है। पुराना तो रहता ही है, नए को इकट्ठा करता चला जाता है। आखीर में उसी बोझ के नीचे दबकर मरता है। नियम जरूरी है गृहस्थ की दुनिया में, क्योंकि इतने लोग हैं वहाँ कि अगर चारों तरफ सिपाही बन्दूकें लिये न खड़े हों, तो बड़ी कठिनाई हो जाती है। संन्यासी के लिए नियम का कोई सवाल न रहा, क्योंकि जिस चीज के लिए हम नियम करते थे, उसको छोड़ने को ही ऋषि संन्यास कह रहा है। इसे ठीक से समझ लेना चाहिए।

जिसे छोड़ने के लिए ऋषि संन्यास कह रहा है, उसी के लिए तो हम नियम बनाते हैं। नियम सिर्फ 'पुअर सब्स्टीट्यूट' थे, बहुत कमजोर परिपूरक थे। रास्ते पर एक सिपाही खड़ा है, क्योंकि पक्का पता है कि सिपाही हटा कि बाएँ चलने का नियम समाप्त हो जाता है। मेरे एक मित्र हैं—पद्मश्री हैं, वर्षों से एम० पी० हैं, बड़े कवि हैं, मगर भारतीय होने का गुण भी है। लंदन पहली दफा गए थे। कहीं मित्र के घर से भोजन करके रात कोई एक बजे लौट रहे थे। टैक्सी में लौट रहे थे। रास्ता सुनसान था, कोई नहीं था। न पुलिस-वाला था, न ट्राफिक था, न कोई कुछ। लेकिन टैक्सी ड्राइवर ने लाल बत्ती को देखकर कार को जब रोक लिया, तो उन्होंने उससे कहा, जब कोई पुलिस वाला ही नहीं और रास्ते पर कोई गाडी भी नहीं, तो निकल चलो। यह भारतीय का गुण है और पद्मश्री हो, तो यह गुण थोड़ा और ज्यादा ही होना चाहिए। उस ड्राइवर ने बहुत चकित होकर उन्हें देखा, और कहा, खिड़की के बाहर जरा आँख खोलकर देखें। एक बूढ़ी औरत साइकिल रोककर सर्दी में खड़ी कँप रही हैं, क्योंकि लाल लाइट है। आप तो कार के भीतर बैठे हैं। एक मिनट में क्या बिगड़ा जा रहा है। पुलिस वाला

खड़ा हो, तब तो एक बार निकला भी जा सकता है धोखा देकर, लेकिन जब कोई भी नहीं खड़ा है और हम पर ही सारी बात छोड दी गई है, तो यह धोखा किसी दूसरे को नहीं देना है, अपने को देना है।

ऋषियों ने संन्यासी को मुक्त कहा है। उस पर हम कोई नियम हम नहीं रखते, क्योंकि हम मानते हैं कि वह अपने को धोखा नहीं देगा। बस इतना सूत्र है उसका कि अपने को वह धोखा नहीं देगा। जिसे यह पता चल गया कि अपने को धोखा नहीं दिया जा सकता, 'देन ए न्यू डिसिप्लीन इज बॉर्न, ऐन इनर डिसिप्लिन।' तब एक नया अनुशासन पैदा होता है, जो आन्तरिक है, जिसे ऊपर से आयोजित नही करना पडता। संन्यासी ऐसा नही कहता कि मैं सत्य बोलूंगा। जब भी घटना घटती है, वह सत्य बोलता है। संन्यासी ऐसा नहीं कहता कि मैं चोरी नही करूंगा। जब भी ऐसा अवसर आए, तो वह चोरी नहीं करता है। ये भीतरी अनुशासन हैं, और बाहरी कोई अनुशासन नही है।

अनियामकपन, टु बी अनडिसिप्लिन्ड। इट इज बेटर टु यूज अनडिसिप्लिन दैन इन-डिसिप्लिन। अनुशासन मुक्त, अनुशासनहीन नहीं। क्योंकि 'हीन' कहना ठीक नही। उसके भीतर एक नया अनुशासन जनम गया। इसलिए बाहर के अनुशासन हटा लिये गए। लेकिन कोई अगर सोचता हो, और ऐसा मन में होता है और कई आदमी को हुआ, जिससे बहुत उपद्रव इस मुल्क में पैदा हुए। कोई अगर सोचता हो कि यह तो बहुत बढ़िया बात हुई कि सन्यासी हो जाएँ और अनियामकपन में प्रवेश कर जाएँ। अनियामकपन बड़े नियमन से आता है। अनियामकपन की स्थिति और हैसियत बड़ी यात्रा से पैदा होती है। बड़ी साधना से जनमती है। कोई सोचे कि हम यहीं, इसी क्षण अनियम में उतर जाएँ, तो सिर्फ अराजकता में उतर जाएगा। और अराजकता में उतर कर बडा दुखी हो जाएगा। क्योंकि उसकी खुद की अपेक्षाएँ दूसरों से तो यही रहेंगी कि वे नियम पालन करें।

मुल्ला नसरुद्दीन पकड़ लिया गया है। एक धोखे में मजिस्ट्रेट पूछता है कि तुमने इस आदमी को धोखा दिया, जो तुम पर इतना भरोसा करता था। नसरुद्दीन कहता है, योर ऑनर, अगर यह भरोसा न करता, तो मैं धोखा कैसे देता। अगर मैं धोखा दे पाया तो हम बराबर जिम्मेवार हैं। क्योंकि इसने भरोसा किया, तभी मैं धोखा दे पाया। अगर यह भरोसा नहीं करता,

तो यह अपराध घटित ही नहीं होने वाला था। अगर सजा दी जाए, तो दोनों को बराबर दी जाए और मूल अपराधी यही है। हमारा नम्बर तो दो है। नम्बर एक यह है। इसने भरोसा कर लिया, हमने धोखा दे दिया। हमारा धोखा पीछे आया है। धोखा देने वाला भी आपके भरोसे पर निर्भर होता है। अराजक जो अपने को बना रहा है, वह भी आपकी व्यवस्था पर निर्भर होता है।

आज हिप्पी हैं, या सारी दुनिया में जो नए युवक अराजक हैं, वे अनियामक हुए जा रहे हैं, नियम छोड़कर जी रहे हैं। हमें खयाल में नहीं है कि वह हमारी व्यवस्था पर निर्भर है। अगर हम पूरी व्यवस्था तोड़ दें, तो हिप्पी इसी वक्त मिट जाए, जी नहीं सकता। वह जी रहा है इसीलिए कि बड़ी व्यवस्था जारी है। जिसको हम क्रान्तिकारी कहते हैं, वह जी नहीं सकता, अगर वे लोग न बचें, जो कंफर्मिस्ट हैं। एक आदमी अगर रंग-बिरंगे, बेढब कपड़े पहनकर बाजार में खड़ा हो जाता है, तो वह इसीलिए खड़ा हो पा रहा है कि बाकी लोग व्यवस्थित ढंग के कपड़े पहनकर चलते हैं। अगर बाकी लोग भी वैसे ही कपड़े पहनकर खड़े हो जाएँ, तो वह आदमी भाग खड़ा होगा। वह वहाँ चौराहे पर फिर खड़ा होने वाला नहीं, क्योंकि एग्जीबीशन (प्रदर्शन) का फिर कोई अर्थ ही न रहा। हो सकता है, वह आदमी व्यवस्थित कपड़े पहनकर चौरस्ते पर खड़ा हो जाए, क्योंकि भिन्न दिखाई पड़ने में उसे रस आ रहा था। जो लोग नियम तोड़ने में रस ले पाते हैं, वे इसीलिए ले पाते हैं कि नियम चारों तरफ जारी है।

मुल्ला नसरुद्दीन अदालत में लाया गया। मजिस्ट्रेट ने कहा कि हजार दफे तुम्हें कहा कि शराब पीना बन्द करो। फिर तुम आ गए वापस उसी जुर्म में। मुल्ला ने कहा, माइ ऑनर, आई फेल इनटु ए बैड कम्पनी, मुझे बुरे लोगों का साथ मिल गया। मजिस्ट्रेट ने कहा, यह मैं न मानूँगा। कैसे बुरे लोग? नसरुद्दीन ने कहा, पूरी बोतल शराब की थी और तीनों ऐसे थे कि कहते थे कि शराब न पीएँगे। तीनों जिद्दी थे। तीनों कहने लगे, हमने शराब पीना बन्द कर रखी है। हम शराब नहीं पीते। ऐसी बुरी कम्पनी मिल गई, पूरी बोतल मुझे ही पीनी पड़ी। 'आई फेल इनटु ए बैड कम्पनी। उसका यह फल है। यह जिम्मा मेरा नहीं। वे तीनों दुष्ट अगर थोड़ी भी पी लेते, बँटा लेते हाथ, तो यह उपद्रव पैदा होने वाला नहीं

था। पूरी शराब मुझे ही पीनी पड़ी।

अगर सारी दुनिया बेईमान हो जाए, तो बेईमानी गिर जाए। सारे लोग चोर हो जाएँ, तो चोरी गिर जाए। चोरी को भी खड़े होने के लिए अचोर का साथ चाहिए। जो चोर है, वह अपेक्षा करता है कि आप चोरी न करेंगे। इस व्यवस्था के भीतर सन्यासी अव्यवस्था पैदा नहीं करता है। सिर्फ उन बीमारियों के बाहर हो जाता है, जिनको व्यवस्थित करने के लिए व्यवस्था थी। 'ही ट्रान्सेन्ड्स,' वह अतिक्रमण कर जाता है और आपसे कोई अपेक्षा नहीं करता। जो भी उस पर घटित हो जाए, उसके अनियामकपन में जो भी परिणाम आ जाए, वह उसके लिए राजी होता है।

डायोजनीज नग्न घूमता था। पुलिस ने उसे पकड़ लिया। वह पुलिस के साथ चला गया। वह जेलखाने में बैठ गया। सम्राट् ने उसे बुलाया और कहा, डायोजनीज, तूने कोई विरोध न किया। तो उसने कहा, कोई अपेक्षा ही न थी। विरोध तो तब हो, जब अपेक्षा हो। नग्न रहना हमारी मौज है, बन्द करना तुम्हारी मौज है। हम राजी, बात खत्म हो गई। इसमें विरोध कैसा? अगर हम यह मानकर चलें कि हम नग्न रहेंगे और तुम बन्द मत करो, तब झंझट खड़ी होगी। हम अपने लिए स्वतन्त्र हैं, तुम भी स्वतन्त्र हो। तुम नंगे आदमी को सड़क पर नहीं घूमने देना चाहते, तुमने बन्द किया। हम नंगे रहना चाहते हैं, हम जेल के भीतर नंगे रहेंगे। कहीं कोई उपद्रव नहीं है। कहीं विरोध नहीं है। हमारा मत बिलकुल एक है। हम दोनों का मतैक्य है। सम्राट् ने कहा, इस आदमी को छोड़ दो, क्योंकि यह आदमी नियम के बाहर हो गया। फिर नियम का कोई अर्थ ही न रहा। हम इसको सजा नहीं दे सकते।

मुझे खुद बचपन में व्यायाम का बहुत शौक था। मेरे एक शिक्षक थे। जब मैं उनके क्लास में गया, तो उनके दण्ड देने की बात मालूम हुई। वे कहते थे, पच्चीस उठक-बैठक लगाओ। जब भी वे मुझसे कहते कि पच्चीस उठक-बैठक लगाओ, तो मैं सौ लगा जाता, क्योंकि मुझे उसका मजा ही था। उन्होंने मुझसे कहा कि यह नहीं चलेगा। हम कह रहे हैं पच्चीस लगाओ और तुम सौ लगा रहे हो। उनकी पक्की व्यवस्था थी उठक-बैठक लगाने की। उन्होंने मुझे एक ही दफा लगवायी, फिर नहीं लगवायी। मैंने दो-चार दफा उनसे पूछा, यह गलती मुझसे हो गई। उठक-बैठक लगाऊँ? उन्होंने कहा,

छोड़ो भी, उठक-बैठक की कोई जरूरत नहीं। क्योंकि उठक-बैठक लगवाने का मजा तभी तक है, जब तक लगाने वाला दुखी हो रहा हो। यदि लगाने वाला प्रसन्न हो रहा हो, तो वह बेकार है। फिर तो मुझे तरकीब हाथ लग गई। फिर मुझे कोई शिक्षक दण्ड नहीं दे पाया। एक शिक्षक थे। वे जरा भी कुछ गड़बड़ हो, तो कमरे के बाहर कर देते थे। मैं कमरे के बाहर का आनन्द लेने लगा। उन्होंने मुझसे कहा, तुम्हें किस प्रकार का दण्ड दिया जाए। मैंने उनसे कहा, मुझे तो क्लास के बाहर, क्लास के भीतर से, ज्यादा अच्छा लगता है। मजे से दण्ड दें।

हमारी जो व्यवस्था है नियम है, वह तभी तक लागू है, तभी तक अर्थपूर्ण है, जब तक हम अपने लिए अलग और दूसरे के लिए अलग नियम की मांग करते चले जाते हैं। संन्यासी जो अपने लिए मानता है, वही सबके लिए मानता है। फिर अनियामक हो सकता है। उसे नियम में बांधने की कोई जरूरत नहीं है। इन्हीं सूत्रों की वजह से जिन लोगों ने भी पश्चिम में पहली दफे उपनिषद् पढ़ी, वे घबरा गए कि इससे तो सब टूट जाएगा, सब नष्ट हो जाएगा। पर उन्हें पता नहीं कि कुछ भी नष्ट नहीं होगा, क्योंकि इस सूत्र तक आने के पहले संन्यासी जो यात्रा करता है, उससे वह सब रोगों से मुक्त हो जाता है। अगर हम उससे कहते हैं, कोई दवा मत पियो, तो तभी कहते हैं जब वह बीमार ही नहीं रह जाता।

मुल्ला नसरुद्दीन बीमार था। जब वह ठीक हो गया दस दिन बाद, तो डॉक्टर ने उससे पूछा, 'डिड यू फौलो द इन्स्ट्रक्शंस गिवेन अण्डर द मेडिसिन?' मुल्ला ने कहा कि नहीं, 'आई बिकेम आलराइट बिकाज आई डिडण्ट फौलो द इंस्ट्रक्शंस ऐण्ड डिडन्ट फौलो द मेडिसिन'। डाक्टर ने पूछा, मतलब! मुल्ला ने कहा, सात मंजिल ऊपर से मैंने तुम्हारी दवा फेंकी है। अगर उसके पीछे फौलो करूं, तो फैसला हो जाए। तुम्हारा प्रेस्क्रिप्शन भी उसी में रख दिया था। सब फेंक दिया। बच गया। अगर दवा का पीछा करता या अनुसरण करता, तो मरता।

हम जिन नियमों का अनुसरण करके जीते हैं, जिनके बिना हमें लगता है हम जी ही न सकेंगे, उसका कारण है। भीतर बीमारियां छिपी हुई हैं। बीमारियां ही न हों, तो इन नियमों का पीछा जो करेगा, मरेगा। झंझट में पड़ेगा। अगर संन्यासी नियमों का पालन करेगा, तो झंझट में पड़ेगा, कष्ट

होगा, परेशान हो जाएगा। क्योंकि जो बीमारी नही है, उसकी दवा पीता रहेगा। इसलिए ऋषि कहता है, अनियामकपन ही उनकी निर्मल शक्ति है।

यह बहुत अद्भुत बात है 'निर्मल शक्ति।' हम तो मानते हैं कि डिसिप्लिन क्रिएट्स फोर्स, डिसिप्लिन इज पावर। हम सब मानते हैं, शक्ति तो अनुशासनबद्ध होने मे है। फौज की ताकत यही है कि वह अनुशासनबद्ध है, और जितनी अनुशासनबद्ध है, उतनी शक्तिशाली है। शक्ति तो पैदा होती है अनुशासन से। वह ऋषि कहता है कि अनियायकपन ही उनकी निर्मल शक्ति है। यह किसी और ही शक्ति की बात है, पर इसमें 'निर्मल' लगाया उसने।

असल में ऐसा समझें कि अनुशासन से जो शक्ति पैदा होती है, वह दूषित होती है। इसलिए जहाँ-जहाँ हमें दूषित शक्ति का उपयोग करना पड़ता है, वहाँ डिसिप्लिन थोपनी पड़ती है। चाहे वह पुलिस हो और चाहे अदालत का कानून हो और चाहे सेना हो, जहाँ-जहाँ हमें कुछ उपद्रव खड़ा करना पड़ता है, या उपद्रव को दबाने के लिए कोई दूसरा उपद्रव उसके प्रतिकार मे खड़ा करना पड़ता है, वहाँ-वहाँ दूषित शक्ति का उपयोग होता है। दूषित शक्ति तथाकथित अनुशासन से पैदा होती है।

अगर हिटलर इस दुनिया में इतना उपद्रव पैदा कर सका, तो वह जर्मन कौम की अनुशासित होने की क्षमता की वजह से। भारत में हिटलर पैदा नहीं हो सकता। कोई लाख उपाय करे, यहाँ उपद्रव नही करवा सकता क्योंकि अनुशासन ही पैदा करवाना मुश्किल है। जर्मन कौम की जो प्रतिभा है, वह है अनुशासित होने की क्षमता, इसलिए जर्मन कौम से सदा खतरा रहेगा। वह कभी भी उपद्रव में पड़ सकता है। क्योंकि कोई भी अगर ठीक से आवाज दे, तो जर्मन कौम अनुशासित हो सकती है। वह उसके खून मे और हड्डी में समा गया है।

हम भारतीय हैं, हमारी खून और हड्डी में अनुशासन नहीं है। उसका कारण है। वह सौभाग्य है, क्योंकि उसकी वजह से हमने कितने दुख सहे हों, लेकिन हमने किसी को दुख नही दिया। हमने कितनी गुलामी सही, लेकिन हम किसी को गुलाम बनाने नहीं गए। ऐसे काम के लिए बहुत अनुशासित होना जरूरी है। वह काम हमसे नहीं हो सका। इसका क्या कारण है कि इस मुल्क मे अनुशासन नहीं पैदा हुआ? इसका

कारण है कि इस मुल्क में जो श्रेष्ठतम व्यक्ति था, वह अनुशासनमुक्त था और श्रेष्ठतम को देखकर ही लोग चलते हैं।

हिटलर हमारा श्रेष्ठतम व्यक्ति नहीं है। नेपोलियन नहीं है, सिकन्दर नही है, चंगेज नही है, तैमूर नही है। अगर हम ठीक से सोचें तो चंगेज, तैमूर, हिटलर, मुसोलिनी, स्टेलिन, माओ इनके मुकाबले हमने इतिहास मे एक भी आदमी पैदा नहीं किया। पाँच हजार साल का इतिहास, इतनी बड़ी कौम, एक चंगेज हमने पैदा नहीं किया। हम कर नहीं सकते, क्योंकि शिखर उठाने के लिए पूरा भवन चाहिए। नीचे एक-एक ईंट चाहिए। हम बुद्ध पैदा कर सके, महावीर पैदा कर सके, पतंजलि पैदा कर सके। ये बहुत और तरह के लोग, हैं — अनियामक। ये अनुशासनमुक्त (अनप्रेडिक्टेबल) हैं, इनके बारे में कोई घोषणा नही कर सकता कि ये कल सुबह क्या करेंगे, क्या कहेंगे, क्या होगा, कुछ नही कहा जा सकता। हमने इस पृथ्वी पर एक और ही प्रयोग किया है, और शायद हमारा प्रयोग अन्ततः जगत् के काम आएगा। बीच में हमें चाहे कितनी तकलीफ उठा लेनी पड़ी हो, अन्ततः हमारा प्रयोग ही जगत् के काम आएगा।

आज पश्चिम के मनोवैज्ञानिक यह बात स्वीकार करने लगे हैं कि किसी भी कौम को बहुत ज्यादा डिसिप्लिन सिखाना अन्ततः युद्ध में घसीटने का रास्ता है। और अगर एक कौम भी डिसिप्लिन्ड हो जाएगी, तो वह युद्ध थोप देगी दूसरों पर, क्योंकि उसको पक्का भरोसा आ जाएगा कि हम किसी को मिटा सकते हैं, हमारे पास अनुशासनबद्ध शक्ति है। इसका मतलब यह हुआ कि मनोवैज्ञानिक कह रहे हैं कि अब बच्चों को डिसिप्लिन मत सिखाओ। अगर दुनिया से युद्ध मिटाना हैं, तो बच्चों को स्वतन्त्रता दो, पंक्तिबद्ध मत खड़ा करो उनको। उनको यूनिफॉर्म मत पहनाओ। उनको व्यक्तित्व दो, उनको भीड़ और समूह की व्यवस्था मत दो। तभी दुनिया से युद्ध मिट सकता है, नहीं तो दुनिया से युद्ध न मिट सकेगा।

कोई नहीं कह सकता कि आने वाले सौ वर्ष के भीतर भारत के ऋषियों ने जो कहा था, वह जगत् का परम ज्ञान नहीं बन जाएगा। बन जा सकता है। उसका कारण है, पहली दफा अनुशासन के हाथ में इतने खतरनाक अस्त्र पड़ गए हैं कि अगर दुनिया अब अनुशासित हुई, तो नष्ट होगी। अब हमें उन दिशाओं में खोज करनी पड़ेगी, जहाँ व्यक्ति को हम इतना सरल कर दें

ैंक वह नियममुक्त होकर जी सके।

पर अनियम से जो शक्ति आती है, वह बड़ी निर्मल है। फर्क उसका ऐसा समझें। शक्ति तो वह भी है। आग जलती है, तो गर्मी पैदा होती है। पास जाएँ, तो जलन पैदा होती है। हाथ लगा दें, तो जल जाते हैं। लेकिन ठण्डा आलोक भी होता है, जो सिर्फ स्पर्श करता है, लेकिन कोई उष्मा नहीं होती, कोई गर्मी नहीं होती। रात चाँद भी निकलता है, उसका भी प्रकाश है। दिन मे सूरज भी निकलता है, उसका भी प्रकाश है। लेकिन चाँद का प्रकाश बड़ा शीतल है। वह आघात नही करता। छूता है, फिर भी स्पर्श का पता नहीं चलता, बहुत शीतल है। शक्ति के भी दो रूप हैं, एक तो बहुत उष्ण, तब वह हिंसा बन जाती है और दूसरे को छेदने लगती है और एक बहुत निर्मल और शीतल, चाँद-जैसी, जब वह दूसरे को सिर्फ सहलाती है, छूती है, लेकिन कही कोई आघात नहीं होता। पद-चाप भी नही होता, पैरों की आवाज भी नही मालूम होती। बुद्ध आपके पास से निकल जाएँ, तो ऐसे निकल जाते हैं जैसे कोई भी न निकला हो। लेकिन चंगेज खाँ निकले, तो ऐसा नही निकल सकता।

सुना है मैंने कि चंगेज जब किसी गाँव पर हमला करता, तो उस गाँव के सब बच्चों के सिर कटवाकर भालों में छिदवा देता। चंगेज चलता अपने घोड़े पर, तो उसके सामने दस-दस हजार बच्चों के सिर भालों पर छिदे रहते थे। किसी ने पूछा, बच्चों के इन भालो पर छिदवाने का क्या मतलब है? ये बच्चे तुम्हारा क्या बिगाड़ रहे हैं? चंगेज ने कहा, पता कैसे चलेगा कि चंगेज इस गाँव से गुजर गया। पीढ़ी-दर-पीढ़ी को याद रहेगी कि चंगेज इस गाँव से गुजरा था।

चंगेज एक गाँव को लूट कर, गाँव के बाहर जंगल में ठहरा हुआ है। गाँव की वेश्याओं को बुला लिया है उसने नृत्य के लिए। तीन बजे रात तक वह नृत्य देखता रहा। अँधेरी रात है; वेश्याओं ने कहा, हम यहीं रुक जाएँ? रात बहुत अँधेरी है और गाँव तक जाना है और निर्जन वन है। चंगेज ने कहा, घबराओ मत। सैनिकों से कहा, आगे बढ़ो और जिन-जिन गाँव से इनको गुजरना हो, उनमें आग लगा दो। दस गाँवों में आग लगा दी गई। वेश्याएँ रोशनी में वापस अपने गाँव लौट आईं। किसी ने कहा, इतनी सी छोटी बात के लिए वेश्याओं को चार सिपाहियों के साथ भी भेजा जा सकता

था। चंगेज ने कहा, याद कैसे रहेगा कि वेश्याएँ चंगेज के घर से वापस लौट रही हैं।

एक तामसिक शक्ति है, जिसका मजा यही है कि वह आपको धूल चटा दे, जमीन पर गिरा दे, और बता दे कि मैं हूँ। निर्मल शक्ति वह है, जो आपको कभी नहीं बताती कि मैं हूँ। आप ही उसे खोजें, तो बामुश्किल खोज पाते हैं। बामुश्किल। निर्मल शक्ति ऐसी अनुपस्थित होती है, जैसे परमात्मा अनुपस्थित है। पर ऐसी निर्मल शक्ति नियम से पैदा नहीं होती, आयोजन से पैदा नहीं होती, संगठन से पैदा नहीं होती। ऐसी शक्ति परम अनियामकपन में रहने से पैदा होती है। संन्यासी परम अनियमकपन को ही अपना सूत्र, अपनी मर्यादा, अपना नियम मानता है।

स्वयं प्रकाश ब्रह्म में शिव शक्ति से सम्पुटित वे प्रपंच का छेदन करते हैं। ऐसे अनियामकपन से उपलब्ध हुई ऊर्जा, यह जो विराट प्रपंच है, इसका छेदकर परम ब्रह्म में प्रवेश कर जाती है। अगर जगत् में कुछ बनाना हो तो तामसिक शक्ति चाहिए—दूषित, अँधेरी, ब्लैक। अगर इस जगत् के पार जाना हो तो शुभ्र, ह्वाइट, निर्मल, साफ, पदध्वनिशून्य शक्ति चाहिए। अगर जगत् में कुछ करना हो, तो अनुशासन के बिना नहीं होगा; और जगत् के प्रपंच के पार यात्रा करनी हो, तो सब अनुशासन छोड़कर परम अनुशासनहीनता में और परम अनुशासनमुक्ति में प्रवेश करना पड़ता है। लेकिन यह वही कर सकता है, जो भयभीत नहीं है, मोहग्रस्त नहीं है, क्रोधी नहीं है, शोकग्रस्त नहीं है। भयभीत तो सिर्फ नियम बनाएगा।

नीत्से ने एक बहुत अद्भुत बात कही है। उसने कहा है, दुनिया में जो भी नियम बनाए गए हैं, उन्हें कमजोर लोगों ने बनाए हैं। इस बात में थोड़ी सचाई है। शक्तिशाली क्यों नियम मानकर चले ! शक्तिशाली कभी नियम मानकर चलता भी नहीं रहा। लेकिन निर्बल लोग भी हैं। अगर नियम न हो, तो निर्बल कहाँ टिकेंगे ? निर्बल इकट्ठे होकर नियम बनाते हैं। निर्बल की भीड़ इकट्ठी हो जाए, तो सबल से ज्यादा सबल हो जाती है। नीत्से कहता था, 'डेमोक्रेसी इज ऐन एफर्ट टु डीथ्रोन द पावरफुल।' लोकतंत्र शक्तिशालियों को सिंहासन से नीचे उतारने के लिए एक प्रयास है। वह कमजोरों का षड्यंत्र है। (कांसपिरेसी आफ वीकलिंग।) नियम बना लेती है भीड़। शक्तिशाली को नीचे उतार देती है। अगर तथाकथित

शक्तिशाली को भी पद पर रहना है, तो उसे भीड़ का अनुगमन करना पड़ता है। इसलिए नेता अनुयायियों के भी अनुयायी होते हैं। 'दे आलवेज फॉलो देअर फालोअर्स।' वे हमेशा पता रखते हैं, किस तरफ लोग जा रहे हैं, उसी तरफ चले जाते हैं।

मुल्ला नसरुद्दीन एक एलेक्शन (चुनाव) मे खड़ा हो गया था। किसी टैक्स का भारी मामला था। सारी जनता में चर्चा थी कि वह टैक्स लगेगा कि नहीं लगेगा। जिस गाँव से मुल्ला नसरुद्दीन एलेक्शन के लिए खड़ा था, वह आधा गाँव बँटा था टैक्स के पक्ष मे और आधा टैक्स के खिलाफ। मुल्ला बोलने के लिए खड़ा हुआ। गाँव के पूरे लोग इकट्ठे थे। सब बातचीत हो गई। लोगों ने कहा, यह सब तो ठीक है, पर टैक्स के बाबत क्या खयाल है? लगना चाहिए कि नहीं? मुल्ला दिक्कत में पड़ा। अगर कहे, लगना चाहिए तो आधी बस्ती खिलाफ हो जाती है। कहे, नही लगना चाहिए तो भी आधी बस्ती खिलाफ हो जाती है। किसके साथ हो? जनता ने आवाज दी। मुल्ला ने कहा, 'आई एम आलवेज विथ माई फ्रेंड्स, ऐण्ड यू ऑल आर माई फ्रेंड्स।' मैं सदा अपने मित्रों के साथ हूँ और इस गाँव मे सभी मेरे मित्र हैं। सभी ने तालियाँ बजाईं। क्योंकि सभी ने मन में समझा कि मुल्ला हमारे साथ हैं।

राजनीतिज्ञ ऐसे ही जवाब देता रहता है। जवाब उसके जवाब से बचने के लिए होते हैं, क्योंकि कोई भी जवाब फँसा सकता है। इसलिए राजनीतिज्ञ के जवाब जवाब नहीं होते। सिर्फ जवाब दिखाई पड़ते हैं। वह प्रश्नों से बचता है, क्योंकि सबका उसे साथ चाहिए। वह देखता है किस तरफ लोग जा रहे हैं, उसी तरफ वह चलने लगता है। अगर आप दो तरफ जा रहे हों, वह दोनो तरफ चलने लगता है। अगर आप तीन तरफ जा रहे हों, वह तीनो तरफ चलने लगता है। आप उसके देवता हैं।

यह जो संसार है, जिसे ऋषि प्रपंच कह रहा है, यह जो फैलाव है, इस फैलाव में जिसे गति करनी है, उसे गति बहुत चालाकी, बहुत हिंसा, बहुत बेईमानी, बहुत योजना से करनी पड़ती है। लेकिन इसका जिसे छेदन करना है, इसके पार जिसे जाना है, उसे किसी चालाकी की कोई जरूरत नहीं है। उसे किसी हिंसा की कोई जरूरत नहीं। उसे किसी को धोखा देने की कोई जरूरत नहीं। उसे किसी अनुशासन की कोई जरूरत नहीं। उसका होना

पर्याप्त है, उसका निर्मल होना पर्याप्त है। उसका शांत और मौन होना पर्याप्त है। फिर इस प्रपंच को पार करके परम ब्रह्म की यात्रा पर उसकी चेतना का तीर निकल जाता है।

जैसे इन्द्रिय रूपी पत्तों से ढंका हुआ मण्डल होता है, ऐसे ढंकने वाले भाव और अभाव के आवरण को भस्म कर डालने के लिए वे आकाश रूप आधार को धारण करते हैं। यह इस सूत्र का आखिरी हिस्सा है। मन ढांके हुए है चेतना को, जैसे कोई झील पत्तों से ढंक गई हो। ऐसा मन ढंका है विचारों से, और विपरीत विचारों से—'पॉजिटिव निगेटिव बोध'। भाव और अभाव वाले विचार दोनो ही मन को ढांके हुए है। मन का एक हिस्सा कहता है, ईश्वर है; एक हिस्सा कहता है, नहीं है। मन का एक हिस्सा कहता है कि प्रेम करो; दूसरा हिस्सा कहता है, खतरा हो जाएगा; घृणा को कायम रखो, बाकी रखो। मन का एक हिस्सा कहता है, दान दे दो। दूसरा हिस्सा कहता है, दान दो, लेकिन जेब काटने का इन्तजाम पहले कर लो। विपरीत से भरा हुआ मन छाए हुए है चेतना को। पत्तों ही पत्तों से भरी हुई चेतना की झील ढंक गई है भीतर।

इससे कैसे मुक्त हों? क्या मन का कोई एक भाव चुन लें और विपरीत भाव का खण्डन करते रहें तो मुक्त हो जाएँगे? नहीं हो पाएँगे। जो भी मन मे चुनेगा, वह बँध जाएगा, क्योंकि विपरीत मिटाया नही जा सकता। वह उसका ही हिस्सा है। जैसे एक सिक्का होता है, उसके दो पहलू होते हैं। अगर आप सोचें कि इसका एक पहलू फेंक दें और दूसरा बचा लें, तो आप झंझट में पड़ेंगे। क्योंकि जो आप बचाएँगे, उसके साथ, जिसे आपको फेंकना था वह बच जाएगा। अगर आप फेंकेंगे तो जिसे आपको बचाना था, वह फेंकने वाले के साथ फिंक जाएगा। आप झंझट में पड़ जाएँगे। सिक्के के दोनो पहलू संयुक्त हैं। ऐसे ही मन में भाव और अभाव संयुक्त हैं, विधायक और नकारात्मक स्थिति संयुक्त हैं, घृणा और प्रेम जुड़े हैं, क्रोध और क्षमा जुड़े हैं, राग और विराग जुड़े हैं। अगर किसी ने कहा कि मैं राग को काटकर विरागी होता हूँ, तो वह विराग को ऊपर फैला लेगा, राग कहीं पीछे छिपकर बैठा रहेगा। इसलिए हमने एक तीसरा शब्द गढ़ा, और वह शब्द है वीतराग। वीतराग का अर्थ होता है राग और विराग दोनो के पार। वीतराग का अर्थ विराग नहीं होता, क्योंकि विराग तो द्वन्द्व का हिस्सा है। वीतराग का अर्थ होता है,

दोनो के पार।   ऋषि कहता है, जिसे इन दोनो के पार होना हो, उसे आकाश-भाव धारण करना पड़ता है।

यह आकाश-भाव क्या है ? एक काला बादल आकाश में घूम रहा है, एक सफेद बदली का टुकड़ा घूम रहा है। दोनो आकाश में घूम रहे हैं, लेकिन आकाश दोनो में से किसी से भी आइडेंटिफाइड नहीं। आकाश यह नहीं कहता कि मैं सफेद बादल हूँ। आकाश यह नहीं कहता कि मैं काला बादल हूँ। सूरज निकला, किरणें भर गईं आकाश में, आलोकित हो गया सब। रात आई, अंधेरा छा गया। सब ओर अंधकार भर गया। आकाश दोनो को देखता रहता है एक साथ। दोनो को जानता रहता है एक साथ। दोनो को साक्षी बना रहता है। आकाश न तो कहता कि मैं प्रकाश हूँ और न कहता कि मैं अंधकार हूँ। प्रकाश और अँधेरा आता-जाता है। आकाश अपनी जगह बना रहता है। न तो प्रकाश उसे मिटा पाता है, न अँधेरा उसे मिटा पाता है। आकाश-भाव का अर्थ है, दोनो के पार, दोनो का अतिक्रमण करके, दोनो से भिन्न, दोनो का साक्षी बन जाना। न तो भाव से बंधे, न अभाव से बंधे। न तो राग से बँधे, न विराग से बँधे। न तो भोग से बँधे, न त्याग से बँधे— दोनो के प्रति आकाश-भाव धारण करे। जस्ट बी ए स्पेश। आने दें राग को भी, आने दें। आने दें विराग को भी, आने दें। आप दोनो को घेर कर खड़े रहें —शून्य, साक्षी मात्र। ऐसी साक्षी दशा का नाम ही समाधि है।

●

तेरहवाँ प्रवचन

साधना-शिविर, माऊन्ट आबू, रात्रि, दिनांक १ अक्टूबर, १९७१

असार बोध, अहं विसर्जन और तुरीय तक यात्रा—चैतन्य और साक्षीत्व से

शिवम् तुरीयम् यज्ञोपवीतम् तन्मया शिखा ।
चिन्मय चोत्सृष्टिदण्डम् संतताक्षि कमण्डलुम् ।
कर्म निर्मूलन कन्था ।
मायाममताहंकार दहनम् श्मशाने अनाहतांगी :

"तुरीय ब्रह्म उनका यज्ञोपवीत है और वही शिखा है ।

चैतन्यमय होकर संसार त्याग ही दण्ड है, ब्रह्म का नित्य दर्शन कमण्डलु है ।

और कर्मों को निर्मूल कर डालना कन्था है ।

श्मशान में जिसने दहन कर दिए माया-ममता-अहंकार, वही अनाहत अंगी—पूर्ण व्यक्तित्व वाला है ।"

तुरीय ब्रह्म ही उनका यज्ञोपवीत, वही उनकी शिखा है। तुरीय शब्द के संबध मे पहली बात तो यह जान लेनी जरूरी है कि यह सिर्फ संख्या का सूचक है। तुरीय का अर्थ है चौथा 'द फोर्थ'। बहुत-बहुत मार्गों से तुरीय को समझने की कोशिश की गई। तीन गुणों के जो पार है, 'द फोर्थ', वह है चौथा। उसे नाम जानकर नहीं दिया है। क्योंकि वह अनाम है, इसलिए अंक दिया है। नाम मे झगड़ा भी हो सकता है, अंक में तो झगड़ा नहीं हो सकता। कोई उसे राम कहे, कोई उसे रहीम कहे, तो झगड़ा हो सकता है; लेकिन 'द फोर्थ,' चौथे में तो कोई झगड़ा नही हो सकता। चौथा चाहे हिन्दी कमें हो, चाहे अँग्रेजी में कहो, चाहे अरबी में कहो, चाहे हिब्रू मे कहो, कोई झगड़ा नही हो सकता। जिन्होंने उसे चौथा कहा है उन्होंने बड़ी अन्तर्दृष्टि की बात की है। नाम देते ही झगड़ा शुरू होता है, क्योंकि नाम के साथ मोह बनना शुरू हो जाता है। और मेरा नाम सत्य है, मेरा दिया नाम सत्य है, दूसरे का दिया नाम असत्य होगा, ऐसा मानना अहंकार शुरू कर देता है। लेकिन आँकड़े में झगड़े की सम्भावना न के बराबर है। जैसा ऋषियों ने कहा, तुरीय ऐसा अगर सारे जगत् ने कहा होता''आँकड़ा, अंक गणित का उपयोग किया होता, तो विवाद नहीं हो सकता था।

यह भी बहुत मजे की बात है कि उपनिषद् का ऋषि गणित के अंक का प्रयोग करता है, ब्रह्म के लिए। यह जानकर आप हैरान होंगे कि इस

जगत् में, इस पूरे मनुष्य की जानकारी में गणित ही अकेला शास्त्र है, जिसमें सबसे कम विवाद है। उसका कारण है। क्योंकि शब्द का कोई उपयोग नहीं है, अंकों का उपयोग है। अंको में विवाद नहीं हो सकते। दो और दो किसी भी भाषा में लिखे जाएँ, और परिणाम चार किसी भी तरह कहा जाए, तो अन्तर नहीं पड़ता है। इसलिए गणित सबसे कम विवादग्रस्त विज्ञान है। वैज्ञानिक मानते हैं कि आज नहीं, कल हमें सारे विज्ञान की भाषा को गणित की भाषा में रूपांतरित करना पड़ेगा, तभी हम अन्य विज्ञानों और शास्त्रों के विवाद से मुक्त हो सकेंगे। बहुत पहले, हजारों साल पहले ऋषि उस ब्रह्म को, उस परम सत्ता को कहता है; द फोर्थ, चौथा, तुरीय।

तीन गुणों के जो पार है, वह चौथा है। एक और गहन खोज, जिसका सारा श्रेय उपनिषदों को है और आधुनिक मनोविज्ञान उस श्रेय के ठीक-ठीक मालिक को खोज लेने में समर्थ हो गया है, कि उपनिषद् ही उस श्रेय के हकदार हैं, वह है कि मनुष्य के चित्त की तीन दशाएँ हैं— जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति। जागते हैं, स्वप्न देखते हैं, सोते हैं। अगर इन तीनो में ही मनुष्य समाप्त है, तो वह कौन है जो जागता है, वह कौन है जो सोता है, वह कौन है जो स्वप्न देखता है! निश्चित ही चौथा भी होना चाहिए जिस पर जागरण का प्रकाश आता है, जिस पर निद्रा का अंधकार आता है, जिसपर स्वप्नों का जाल बुन जाता है। वह 'द फोर्थ,' चौथा होना चाहिए, वह तीन में नहीं हो सकता। अगर मैं तीन मे से एक हूँ, तो बाकी दो मेरे ऊपर नहीं आ सकते। अगर मैं जाग्रत ही हूँ, तो निद्रा मुझ पर कैसे उतरेगी? अगर मैं निद्रा ही हूँ, तो मुझ पर स्वप्नों की तरगें कैसे बनेंगी? ये तीन अवस्थाएँ हैं, और जो मैं हूँ, वह निश्चित ही चौथा होना चाहिए। उपनिषद् उसे तुरीय कहती हैं, वह जो चौथा है।

मनुष्य के चित्त की इन चार दशाओं की चर्चा सबसे पहले जगत् में उपनिषद् के ऋषियों ने की। पश्चिम के मनोविज्ञान ने अभी सौ वर्षों में सिर्फ नम्बर दो पर कदम रखा है। सिर्फ पिछले सौ वर्षों में पश्चिम के मनोविज्ञान को खयाल आया कि मनुष्य को जाग्रत मात्र ही समझने की कोशिश खतरनाक है और आमूल गलत है। क्योंकि आदमी जितनी देर जागता है, वह सिर्फ एक अंग है। फिर सोता भी है, फिर स्वप्न भी देखता है। चारकॉट से लेकर फ्रायड तक ने बड़ी मेहनत की इस

बात की कि हम मनुष्य के स्वप्नों के सम्बन्ध में जब तक न जान लें, तब तक मनुष्य के सम्बन्ध की जानकारी हमारी अधूरी होगी। जब फ्रायड मनुष्य के स्वप्न की गहराइयों में उतरा, तो उसने कहा, मनुष्य के जागने पर भरोसा ही मत करना, क्योंकि आदमी जागकर धोखा देता है। सपने से जो जाना जाता है, वही सत्य है। इसलिए आज मनोविश्लेषक आपके जागने की फिक्र नही करता। वह आपसे पूछता है, आप स्वप्न कौन से देखते हैं? क्योंकि स्वप्न में आप धोखा नहीं दे सकते। जागने में आप दूसरे को ही नहीं, अपने को भी धोखा दे सकते हैं। जागने में आप ब्रह्मचारी हो सकते हैं, लेकिन स्वप्न आपके ब्रह्मचर्य की सारी पट्टी उधेड़ देगा और आपके व्यभिचार को प्रकट कर देगा। इसलिए तथाकथित ब्रह्मचारी नींद से डरते हैं, सोने से भयभीत होते हैं, क्योंकि उनकी सब साधना जागरण के दरवाजे पर रखी रह जाती है। स्वप्न में उनका कुछ वश नही चलता। छोटे-मोटे साधक नही, जिन्हें हम बड़े साधक कहें, जो नीति को ही साधकर चलते हैं, उनके लिए भी यह कठिनाई बनी ही रहेगी। जो योग बिना जाने, धर्म को बिना जाने, केवल नैतिक आचरण मे ही अपने जीवन को लगा देते हैं, उनको यह झंझट रहेगी।

महात्मा गांधी-जैसे साधक को भी अन्ततः यह कहना पड़ा कि जागने में ही मैं अपने संयम को साध पाता हूँ, स्वप्न में तो मेरा संयम टूट जाता है। स्वप्न में मेरे संयम पर मेरा कोई काबू नहीं रहता। लेकिन स्वप्न में अगर संयम टूट जाता है, तो संयम अभी ऊपरी है। क्योंकि जो संयम स्वप्न तक को नही जीत पाता, वह सत्य को क्या जीत पाएगा? जो संयम स्वप्न तक से पराजित हो जाता है, उस संयम की सत्य मे क्या गति हो सकेगी? वह बहुत निर्बल है, बहुत ऊपरी है, बहुत झीनी चादर की तरह है। भीतर सब रोग छिपे रहते हैं, ऊपर हम चादर की सजावट कर लेते हैं।

फ्रायड ने कहा कि मनुष्य के चित्त को समझना हो, तो उसके स्वप्नों को जानना अनिवार्य है। पश्चिम का पूरा मनोविज्ञान आदमी के सम्बन्ध में जो भी जानकारी पा सका है, वह उसके सपनों के द्वारा ही है। यह बहुत उलटा मालूम पड़ता है कि आपकी सचाई आपके सपने से पता चले। हद हो गई, आपकी सचाई आपके सपनों में खोजनी पड़े! आदमी ने अपने को निश्चित ही इतना धोखा दे दिया है कि जागना इतना भ्रांत और झूठ

हो गया है कि सोए बिना आपके भीतर क्या चलता है, उसका कुछ भी पता चलना मुश्किल है। आपको ही पता नहीं चलता, दूसरे को पता चलना तो अति कठिन है।

लेकिन अभी पश्चिम का मनोविज्ञान सिर्फ दूसरी अवस्था पर गया है—ड्रीमिंग, ऐण्ड ड्रीमिंग। अभी 'डीप स्लीप' (सुषुप्ति) पर सिर्फ दस साल से काम शुरू हुआ है। ऋषि के वचन तो हजारों वर्ष पुराने हैं। केवल दस वर्षों में स्लीप लैब अमरीका में बने हैं, प्रयोगशालाएं बनी हैं, जहाँ आदमियों की स्वप्नरहित निद्रा पर प्रयोग चल रहे हैं। कोई दस हजार लोगों पर अभी इन दस वर्षों में प्रयोग किए गए हैं। प्रयोगशालाएँ हैं, जिनमें लोग रात भर सोते हैं। हजारों तरह के यंत्रों से जाँच की जाती है कि उनका स्वप्न क्या है, और जब स्वप्न समाप्त हो जाता है, तो निद्रा की स्थिति में उनके मन की तरंगें (वेव्ज) कैसी होती हैं, उनके चित्त की दशा कैसी होती है। भीतर वे किन गहराइयों में उतर जाते हैं। निद्रा क्या है? क्योंकि जब स्वप्न से इतना पता चल सका कि हम मनुष्य को जानने में ज्यादा सफल हुए, तो शायद निद्रा से और गहरे सत्यों का पता चले।

तीसरी अवस्था पर पश्चिम का मनोविज्ञान गहन प्रयोगो मे लगा है। पश्चिम में सिर्फ पिछले दस वर्षों में निद्रा के ऊपर पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, इसके पहले नहीं। आदमी सोता सदा से रहा है। एक आदमी साठ साल जीता है, तो बीस साल सोता है। इतने बड़े हिस्से को अज्ञात छोड़ देना मँहगा है। जहाँ हम अपने जीवन के बीस वर्ष गुजारते हैं, उस अवस्था का हमें कुछ भी पता न हो, तो हम अपने आत्मज्ञान में गति नहीं कर सकते हैं। लेकिन अभी प्राथमिक चरण है।

निद्रा की खोज पश्चिम में अभी पहले कदम पर है। ऋषि तुरीय की बात करते हैं। वे कहते हैं, निद्रा भी ठीक, पर उसके भी पार एक है, जो इन तीनों से गुजरता है। ये तीनों तो सिर्फ उसकी स्थितियाँ हैं। एक आदमी गुजरता है, एक स्टेशन से दूसरे, दूसरे से तीसरे। और वह आदमी समझ ले कि मैं यही स्टेशन हूँ, फिर समझ ले दूसरे स्टेशन पर कि मैं यही स्टेशन हूँ, फिर तीसरेपर कि मैं यही स्टेशन हूँ, तो भ्रांति होगी। उपनिषद् के ऋषि कहते हैं, जो स्टेशनों को पार कर रहा है, वह यात्री स्टेशनों से अलग है। जागते हैं, वह एक स्थिति है। स्वप्न देखते हैं,

वह दूसरी स्थिति है। सो जाते हैं, वह तीसरी स्थिति है। लेकिन जिसकी ये स्थितियाँ हैं, वह इन तीनों के पार चौथा, तुरीय, 'द फोर्थ,' वह चौथा है, वह यात्री है। प्रथम तीन तो केवल पड़ाव हैं।

पश्चिम के मनोविज्ञान को शायद अभी और सैकड़ों वर्ष लगेंगे, जब वह तुरीय की खबर ला पाए। लेकिन अब इतना तो उन्हें भी खयाल होने लगा और कार्ल गुस्ताव जुंग ने स्वीकार किया है कि भारतीय मनीषा के इस सत्य को हम पहले कभी स्वीकार नहीं कर पाए थे कि स्वप्न का भी कोई मूल्य हो सकता है, पर अब हमें स्वीकार कर लेना पड़ा। हमें कभी खयाल नहीं था कि निद्रा का भी कोई मूल्य हो सकता है। वह भी हमे स्वीकार कर लेना पड़ा। जिनके तीन चरण हमें स्वीकार कर लेने पड़े, उनके चौथे चरण को भी हमे स्वीकार करना पड़ेगा, इसमें ज्यादा देर नहीं लगेगी। क्योंकि जो तीन तक सही निकले हैं, कोई कारण नहीं मालूम होता है कि वह चौथे पर क्यों सही न हो। जब इतने तक वे सही निकले हैं, तो चौथे पर सही होने की सम्भावना गहन हो जाती है और गलत कहने की हिम्मत क्षीण हो जाती है।

यह ऋषि कह रहा है कि वह जो ब्रह्म है—तुरीय, वह जो चौथी अवस्था है, वही संन्यासी का यज्ञोपवीत है। वह चौथी अवस्था को ही अपने गले मे डालकर जीता है। वह उसकी शिखा है। इससे कम पर संन्यासी राजी नहीं है। यज्ञोपवीत ही डालना है, तो वह तुरीय अवस्था का डाल लेगा। वह तीनों के पार हट जाएगा और अपने को चौथे के साथ एक कर लेगा।

इसे थोड़ा प्रयोग करेंगे तभी खयाल में आ सकेगा कि यह कैसा यज्ञोपवीत है। जब जागें तब ऐसा मत समझें कि मैं जाग रहा हूँ। तब ऐसा ही समझें कि जागरण मेरे ऊपर आया, मैं देख रहा हूँ। (बी ए विटनेस टु इट।) साक्षी हों, एक मत हो जाएँ। अगर आप दिन भर जागकर यह साक्षी भाव रख सकें कि यह जागरण भी एक स्थान है, जहाँ मैंने पड़ाव डाला, मैं यात्री हूँ, यह स्थान पड़ाव है, तो धीरे-धीरे आप स्वप्न में भी यह स्मरण रख पाएँगे कि स्वप्न भी एक पड़ाव है और मैं एक यात्री हूँ। और फिर निद्रा में भी इस साक्षी भाव का प्रवेश किया जा सकता है। तब आप यह भी जान पाएँगे कि निद्रा मुझ पर आती है और जाती है, मैं पृथक् हूँ। और जब आप तीनों से अपने को पृथक् जान पाएँगे, तभी वह यज्ञोपवीत आपके गले में

पड़ता है, जो तुरीय ब्रह्म का है।

लेकिन जो हमारे ऊपर आता है, हम उसी के साथ एक हो जाते हैं। जो लहर हमें पकड़ लेती है, उसी के साथ हो जाते हैं, हम उसी से रंग जाते हैं। हम भूल ही जाते है कि रंग हमारे ऊपर पड़ा, हम रंग से पृथक् हैं। हम तत्काल जुड़ जाते हैं। हमारी हालत ऐसी है, जैसी फोटो प्लेट की होती है। कैमरे के भीतर जो फोटो प्लेट है या फोटो फिल्म है, हमारी हालत वैसी है। वह जरा-सा झांक लेती है कैमरे के बाहर, जो दिख जाता है उसी को पकड लेती है। सेकेंड के भी छोटे-से हिस्से के लिए कैमरे का पर्दा हटता है, आंख खुलती है और वह जो भीतर छिपी फोटो प्लेट है, वह जो भी बाहर दिख जाता है — दरख्त तो दरख्त, झील तो झील, आदमी तो आदमी — जो भी दिख जाता है, उसे पकड़ लेती है। उसी के साथ एक हो जाती है। इसीलिए तो फोटो उतर पाता है, नहीं तो फोटो नहीं उतर पाएगा। फिर आप तस्वीर लिये फिरते हैं और कहते हैं, झील की तस्वीर हैं। झील की तस्वीर है माना, लेकिन यह जो फिल्म का टुकड़ा है, यह बडी भ्रांति में पड़ गया। यह जो था, वह न रहा और जो यह नहीं है, उसको पकड लिया।

संन्यासी जीता है दर्पण की भांति, फोटो प्लेट की भांति नहीं। दर्पण के सामने जो भी आता दिखाई पडता है, हट जाता है। हट जाता है तो दर्पण फिर खाली हो जाता है। दर्पण पकड़ता नहीं, रिफ्लेक्ट जरूर करता है। प्रति-बिम्ब जरूर बनाता है, लेकिन पकड़ता नहीं। सब तसवीरें फिसलकर बिखर जाती है और दर्पण अपने स्वभाव में थिर रहता है। इसीलिए दर्पण एक को देखकर खराब नहीं होता, फोटो प्लेट एक को ही देखकर खराब हो जाती है। दर्पण हजार को भी देखकर निर्मल बना रहता है। पकडता ही नहीं तो विकृत होने का कोई सवाल नहीं है। हम फोटो प्लेट की तरह हैं। जो भी सामने आ जाता है, उसी को पकड़ लेते हैं। जागरण होता है, तो समझ लेते हैं कि मैं जागरण, स्वप्न होता है तो समझ लेते हैं कि मैं स्वप्न, निद्रा होती है तो समझ लेते हैं कि मैं निद्रा, जन्म होता है तो समझ लेते हैं, मैं जीवन, मृत्यु होती है, तो समझ लेते हैं, मैं मुर्दा। बस ऐसे ही चलते हैं। जो भी आता है सामने, वह पकड लेता है।

मुल्ला नसरुद्दीन एक मरघट के करीब से गुजर रहा है। सांझ हो गई है और उसे डर लग रहा है। गांव अभी दूर है, तभी उसने देखा कि दूर से कुछ

लोग चले आ रहे हैं। बैंड बाजे हैं, वह और भी डरा कि कोई लुटेरे तो नहीं हैं। दीवाल थी मरघट की, छलांग लगाकर उस तरफ चला गया कि छिप जाएँ। नई कोई कब्र खुदी थी, अभी आया नहीं था उस कब्र का मेहमान। सोचा कि इसीमे लेट जाएँ। उपद्रवियो की जो भीड़ बाहर से गुजर रही है, वह निकल जाए, तब फिर अपने घर लौट जाएँगे। उसमें लेट गया। रात सर्द थी, थोड़ी देर मे हाथ-पैर ठण्डे होने लगे। किताब में उसने पढा था कि आदमी जब मरता है, तो हाथ-पैर ठण्डे हो जाते हैं। सोचा कि गए। मर गए। जब सोचा कि मर गए, तब हाथ-पैर और ठण्डे होने लगे। तभी उसे खयाल आया कि अभी तक सांझ का भोजन नही किया। कम से कम भोजन तो कर ही लेना चाहिए मरने के पहले। वह उचककर कब्र के बाहर निकला। दीवाल कूदकर अपने घर की तरफ भागता था, तो वहाँ जो यात्री दल आया था, और अपने ऊँट बाँधे थे और विश्राम की तैयारी कर रहे थे, उसके कूदने से ऊँट भड़क गए। भगदड मच गई, लोगो ने मुल्ला की पिटाई की।

मुल्ला पिटा-कुटा घर पहुँचा। पत्नी ने कहा, बडी देर लगाई, कहाँ रहे ? मुल्ला ने कहा, यह कहो किस तरह लौट आए। मर गए थे। पत्नी मन मे तो हँसी, फिर भी उसने जिज्ञासा वश पूछा, मर गए थे, मरने का अनुभव कैसा हुआ। मुल्ला ने कहा, मरने में तो कोई तकलीफ नही, (अनलेस यू डिसटर्ब देअर कैमल) जब तक उनके ऊँटों को तुम गड़बड़ मत करो, तब तक तो बड़ा शान्त, लेकिन ऊँट गड़बड़ करो, तो सब गडबड़, बडी पिटाई होती है। तो अगर तू मरे, तो एक बात का ध्यान रखना, मुल्ला ने अपनी पत्नी से कहा, ऊँट भर गड़बड़ मत करना। मौत में तो कोई खतरा ही नही है। हम पूरा अनुभव करके आ रहे हैं, कब्र में लेट कर आ रहे है। वह तो हम लौटते भी नही, लेकिन सांझ का खाना नहीं लिया था, इसलिए लौट आए। तो एक ध्यान रखना सदा कि ऊँट कभी गड़बड़ मत करना।

अप्रासंगिक जो है, इरेलेवेंट जो है, जिसकी कोई संगति भी जीवन की धारा से नहीं, वह भी पकड़ जाता है। और हमारे भीतर 'कॉज और एफेक्ट (कार्य-कारण) की शृंखला बन जाती है। ऐसा लगता है कि कार्य-कारण का सम्बन्ध है। ऊँट का मौत से कोई लेना-देना नहीं, लेकिन सिलसिला तो है। मुल्ला ने जिसे मृत्यु समझी उसी के बाद ऊँट गड़बड़ हुए और वह पिटा। मन ने सब पकड़ लिया और सबका तादात्म्य हो गया। सब इकट्ठा जुड़ गया।

ज़िन्दगी भर हम इसी तरह की चीजें जोड़े चले जाते हैं। आखीर में यह जो संगत हमारे पास इकट्ठा हो जाता है, यह जो लम्बी फिल्म इकट्ठी हो जाती है, इसमें दर्पण जैसा कुछ भी नही होता। सब गन्दा होता है, सब बिगड़ गया होता है, सब पर धूल जम गई होती है। इस धूल से भरे हुए मन के साथ तुरीय को न जान सकेंगे। वह जो चौथी अवस्था है, उसे वही जान जाएगा जो दर्पण की तरह रहने में समर्थ है और जो प्रतिपल अपने दर्पण को साफ करता रहता है और पोंछता रहता है और धूल को जमने नहीं देता। जो किसी चीज को अपने दर्पण पर नही जमने देता, हमेशा झाड़-पोछकर दर्पण को साफ रखता है तो निश्चित ही धीरे धीरे उसे तीन के पार चौथे का अनुभव शुरू हो जाता है। वही दर्पण की चेतनावाला व्यक्ति संन्यासी है, जिसने चौथे को जाना।

हमें तो सपने में भी याद नही रहता कि हम अलग हैं। सपने के साथ एक हो जाते हैं। इतने एक हो जाते हैं, जिसका हिसाब नही। सपने में आपको कभी याद नहीं रहता कि आप कौन हैं। सपने में यह भी पता नही रहता कि यह मैं जो कर रहा हूँ, यह मैंने जागने मे किया होता। सपने में असगति भी दिखाई नहीं पड़ती। एक मित्र चला आ रहा है और अचानक आप देखते हैं मित्र घोड़ा हो गया। तो भी आपके मन मे यह सवाल नही उठता कि यह आदमी एकदम से घोड़ा कैसे हो गया। सपने मे यह भी स्वीकार हो जाता है। एक क्षण को झपकी लगती है, बरसों के सपने देख लेते हैं। आँख खुलती है, घडी मे क्षण ही बीता होता है, लेकिन सपने में वर्ष बीत गए मालूम होते हैं। सपने मे याद नहीं रह जाता उसका, जो आप जागे हुए थे। वह द्वार बन्द हो गया। कम्पार्टमेंट्स (कक्ष) है।

जैसे ही आप सपने में गये, जागने का द्वार बन्द हो गया। जागने के सब तर्क, जागने की सब विचारधारा, सब समाप्त हो गई। स्वप्न की दूसरी दुनिया शुरू हुई। अब आप उससे आइडेंटीफाई हो जाते है, उसके साथ एक हो जाते है। अब आप एक दूसरी दुनिया के साथ एक हैं। यह दुनिया मिट गई। अगर आप राजा थे तो भिखारी हो सकते हैं सपने में, इससे कोई अड़चन न आएगी। और अगर रंक थे, तो राजा भी हो सकते है सपने में, इससे भी कोई अड़चन न आएगी। कोई कोना चेतना का यह न कहता हुआ मालूम पड़ेगा कि मैं तो राजा था, जागकर भिखारी कैसे हो गया। यह नहीं हो सकता। नहीं, याद भी नहीं आएगा। वह तो द्वार बन्द हो गया। वह स्मृति का पर्दा

गिर गया। नाटक का वह अंक समाप्त हुआ। यह दूसरी बात शुरू हो गई। अब आप इसमें ही एक हो गए।

फिर यह सपना भी छूट जाता है। गहरी नींद आ जाती है तब तीसरी दुनिया में आप प्रवेश कर जाते हैं। गहरी निद्रा में जो होता है, वह आपको कुछ भी याद नहीं रह जाता। सपने में भी जो होता है, वह भी पूरा याद नहीं रह जाता। बहुत आंशिक, एक या दो प्रतिशत याद रह जाता है। वह भी दस पन्द्रह मिनट से ज्यादा सुबह जागने के बाद याद नहीं रहता। थोड़ी सी 'ओवर-लैपिंग' हो जाती है। आखिरी सपना सुबह जो चलता होता है, उसकी थोड़ी सी आवाज गूँजती रह जाती है, और जागना हो जाता है। थोड़ी-सी यादवाश्त रह जाती है। इसलिए जो सपने सुबह आप लोगों को बताते हैं कि आपने देखे, बहुत भरोसे से मत बताना कि आपने देखे। बहुत-सा तो उसमें आपने बाद में सोच लिया, जो देखा नहीं। बहुत-सा आप भूल गए जो देखा था। इसलिए सुबह के सपने बहुत ही अजीब मालूम पड़ते हैं कि ये कैसे हो सकते हैं। उनके बहुत-से हिस्से छूट गए, भूल गए, स्मृति के बाहर हो गए। असल में 'ड्रीम मेमोरी' अलग है, आपके भीतर स्वप्न की स्मृति अलग इकट्ठी होती है। जागने की स्मृति अलग इकट्ठी होती है, निद्रा की स्मृति अलग इकट्ठी होती है और तीनों स्मृतियों का बहुत बाउन्ड्री पर ही, सीमान्त पर ही मिलन होता है। अन्यथा कोई मिलन नहीं होता है।

आपको गहरी नींद के बाद इतना ही याद रह जाता है कि खूब अच्छी नींद आई, और कुछ याद नहीं रहता। लेकिन जो इन तीन खण्डों से गुजरता है, वह चौथा ? उसकी तो हमें बिलकुल ही स्मृति नहीं उसका तो हमें कोई खयाल ही नहीं। उसका खयाल इसीलिए नहीं है कि जब भी जो हमारे सामने होता है, उसी के साथ हम एक हो गए होते हैं। उसकी स्मृति तो तभी आएगी, जब हमारे सामने जो हो, उसके साथ हम अपनी पृथकता को कायम रख पाएँ। जो भी देखें, जो भी जानें, जो भी अनुभव करें, उसके साथ एक दूरी को बनाए रखें, तभी यह संन्यासी की स्थिति कभी अनुभव में आएगी, जहाँ तुरीय ब्रह्म ही यज्ञोपवीत, तुरीय ब्रह्म ही शिखा हो जाता है।

ऋषि ने कहा है, चैतन्यमय होकर संसार त्याग ही दण्ड है। चैतन्यमय होकर संसार-त्याग। क्रोध में भी संसार का त्याग होता है, दुख में भी संसार का त्याग होता है, चिन्ता में भी संसार का त्याग होता है, लेकिन वह संन्यास

नहीं है। आपका दिवाला निकल गया है, बेंक्रप्ट हो गए हैं, तो संन्यास का मन होने लगता है कि संन्यास ही ले लें, संसार में कोई सार नहीं। अभी तक बिलकुल सार था, बेक्रप्ट होने से संसार का सार कैसे सूख गया, कुछ समझ में नहीं आता। क्योंकि आप के बैंक्रप्ट होने या न होने से ससार के रस की कोई निर्भ-रता नहीं है। फूल अब भी वैसे ही खिल रहे हैं, सूरज अब भी वैसा ही चल रहा है, जिन्दगी अपना गीत अब भी वैसे ही गाए जाती है, नाच रंग सब वैसा ही चल रहा है, सिर्फ आप दिवालिया हो गए हैं, तो आपको बड़ा विरस हो गया।

रामकृष्ण कहा करते थे कि एक आदमी काली की पूजा के अवसर पर सैंकड़ों बकरे कटवाता था, बडी पूजा करवाता था। फिर पूजा धीरे-धीरे उसने बन्द कर दी। काली की पूजा के दिन अब भी आते, लेकिन उत्सव उसने समाप्त कर दिया। रामकृष्ण ने एक दिन उससे पूछा कि बात क्या है! उसने कहा, अब दांत ही न रहे। तो रामकृष्ण ने कहा, वह काली की पूजा चलती थी कि दांतों की? वह पूजा किसकी चलती थी? वह इतने बकरे क्यों कटते थे? हमने तो यही समझा था कि काली के लिए कटते हैं। उसने कहा, आप ने बिलकुल गलत समझा। काली तो सिर्फ बहाना थी, कटते तो अपने ही लिए थे। अब दांत ही न रहे।

आपके दांतो के साथ सारी दुनिया बदल जाती है। लेकिन वह सन्यास नहीं है, वह तो केवल शिथिलता है। वह तो खंडहर हो जाना है। वह तो केवल हार जाना है, पराजित हो जाना है। वह तो जिन्दगी ने खुद ही आपसे छीन लिया सब। सन्यास त्याग है और जब जिन्दगी ही छीन लेती है तब त्याग का क्या सवाल है? आप खुद ही बैंक्रप्ट हैं। जिन्दगी ने आपको दिवालिया कर दिया। अब आप त्याग की बातें करें, बेमानी है। अब कोई अर्थ नहीं है। लेकिन आदमी होशियार है।

मुल्ला नसरुद्दीन एक बैलगाड़ी में बैठकर किसी गाँव के पास से गुजर रहा था। साथ में उसका मित्र है, वह भी दूकानदार है। डाकुओं ने हमला कर दिया। मुल्ला ने कहा, एक मिनट रुको। जेब से रुपए निकाले, अपने साथी से कहा, ये पाँच हजार रुपए तुझे देने थे, ले। हिसाब पूरा हो गया। डाकुओं से कहा, अब जो तुम्हें करना है, करो। अब कोई डर न रहा। छीनने का भी मौका आ जाए, छिन जाने का भी मौका आ जाए, तो भी हम

कोशिश करते हैं कि जैसे त्याग कर रहे हैं। लूट जाने का भी क्षण आ जाए, तो भी ऐसा दिखावा करते हैं कि हम लुटे नही, दान कर दिया।

नहीं, ऋषि कहता है, चैतन्यमय होकर जिन्होने संसार को छोड़ा। 'चैतन्यमय होकर', दुखमय होकर नहीं, क्रोध से भर कर नहीं, परेशान पीड़ित होकर नहीं, पूरे आनन्द भाव से; होश से जब उन्होंने देखा जिन्दगी को कि वह बेकार है। यह बेकार होना किसी बाहरी कारण से नहीं, भीतरी बोध से आया। यह बेकार होना दो तरह से हो सकता है।

बहुत लोग कहते सुने जाते हैं कि धन में क्या रखा है। लेकिन अक्सर ये वे ही लोग होते हैं, जिनके पास धन नहीं होता। इनकी बात का कोई भी अर्थ नहीं है। यह बार बार इनका कहना कि धन मे क्या रखा है, यह मन का समझाना है, कन्सोलेशन हैं। धन इनके पास है नहीं, इन्हें धन का पता भी शायद कुछ नही है। शायद धन में कुछ नही रखा है, ऐसा बार-बार कहकर अपने को भरोसा दिला रहे हैं कि हम कुछ चूक नहीं रहे, अगर धन अपने पास नही। नही, जब किसी के पास धन है और वह कहता है, धन मे क्या रखा है, तब इस बात के आमूल अर्थ बदल जाते हैं। आमूल ही अर्थ बदल जाते हैं। परिस्थिति प्रतिकूल हो, तब जो त्याग होता है, वह त्याग सम्यक् त्याग नही। परिस्थिति जब बिलकुल अनुकूल हो, तब जो त्याग होता है वह सम्यक् त्याग है। संसार को जिन्होने पीड़ित होकर छोड़ दिया है, वे संसार से बँधे ही रह जाते हैं। क्योकि जिससे हमे पीडा मिल सकती थी, अभी हम उसका त्याग नही कर सकते हैं। इसे थोड़ा समझना पडेगा।

जिससे हमें पीड़ा मिलती थी, वह मिलती ही इसीलिए थी कि हमें अब भी उससे सुख पाने की अपेक्षा थी। अन्यथा पीड़ा का कोई कारण न था। इसलिए जो जानता है, वह यह नही कहता कि संसार दुख है, वह कहता है, संसार असार है। इन दोनो में बड़ा फर्क है। वह यह नहीं कहता कि दुख है, वह यह कहता है कि दुख के योग्य भी नही है, क्योकि जिससे सुख मिल ही नहीं सकता, उसे दुख कहने का क्या अर्थ है। जिससे सुख मिलने की आशा बँधी है और सुख नहीं मिलता, उससे लगता है कि दुख मिला। जो जानता है, भीतर बोध जिसका जगता है, चैतन्यमय हो जाता है, वह देखता है कि संसार असार है। इतना भी सार नहीं कि वह दुख दे सके—टोटली मीनिंगलेस। इतना भी अर्थ नही, उसमें दुख देने-जैसा। क्योंकि जो दुख दे सकता है, वह सुख क्यों

नहीं दे सकता।

जिससे सुख मिल सकता है, उससे कम दुख भी मिल सकता है, ज्यादा दुख भी मिल सकता है। जिससे दुख मिल सकता है, उससे सुख क्यों नहीं मिल सकता ! क्योंकि कम दुख, और कम दुख, और कम दुख सुख हो जाता है। और कम सुख, और कम सुख, और कम सुख दुख हो जाता है। तारतम्यताएँ हैं, डिग्रीज हैं। पानी को थोड़ा और कम ठण्डा करो, गरम हो जाता है। पानी को थोड़ा और कम गरम करो ठण्डा हो जाता है। गर्मी और सर्दी कोई शत्रु नहीं मालूम होते, तारतम्यताएँ, डिग्रीज मालूम होते हैं। सुख-दुख भी ऐसे ही हैं। अगर कोई कहता है कि संसार से बहुत दुख मिलता है इसलिए छोड़ दो, तो गलत कहता है। क्योंकि बहुत दुख जिससे मिलता है, उससे सुख क्यों नहीं मिल सकता। कोई कारण नही है। जिससे दुख मिल सकता है, उससे सुख मिल सकता है क्योंकि जिससे सुख मिल सकता है उससे दुख मिल सकता है। असल में सुख की आशा जहाँ, हं वहीं दुख मिलता हं। दुख मिलता ही इसलिए है कि उससे पहले सुख की आशा खड़ी थी।

नहीं, संसार असार है—जस्ट मीनिंगलेस। दुख भी नहीं है वहाँ, सुख भी नहीं है वहाँ। वहाँ कुछ है ही नहीं। वहाँ जो भी हम देखते हैं, वह हमारा ही डाला हुआ है। वहाँ जो भी हम पाते हैं, वह हमारी ही देन है। वह हमने ही दिया है। संसार से हम जो भी पाते हैं, वह हमारी ही प्रतिध्वनि है। इसलिए दुख के कारण जो छोड़ दे··प्रियजन मर गया हो, कि प्रियजन न मिल पाया हो, कि प्रियजन प्रिय सिद्ध न हुआ हो, और आदमी संसार छोड़ दे, तो उसका छोड़ना इसाइडल (आत्मघाती) है—'रिनन्सिएशन' नहीं, त्याग नहीं, आत्मघात है। जब धन नहीं होता है, तब आदमी आत्महत्या करने की सोचने लगता है। प्रियजन बिछुड़ जाएँ तो आत्महत्या की सोचने लगता है। प्रियजन, प्रियजन सिद्ध न हो तो आत्महत्या की सोचने लगता है। यश खो जाए, तो आत्महत्या की सोचने लगता है।

इसलिए एक बहुत मजे की बात है कि जिन मुल्कों में संन्यासी ज्यादा होते हैं, उन मुल्कों में आत्महत्या की संख्या कम होती है। जिन मुल्कों में संन्यासी कम होते हैं, उन मुल्कों में आत्महत्या की संख्या ज्यादा होती है। और दोनो का मिलाकर अनुपात सदा बराबर होता है। अमेरिका तब तक अपनी आत्महत्याएँ कम न कर पाएगा, जब तक कि वह संन्यास को न फैलाए। झूठा

ही सही, झूठा संन्यास भी आत्महत्या से तो रोक लेता है, क्योंकि विकल्प बन जाता है। संन्यास लेने से भी आत्महत्या घटित हो जाती है। दुख है, परेशानी है, एक आदमी ने संन्यास ले लिया; मरने से भी बचे, संसार से भी बचे, बचे भी रहे। लेकिन ऋषि कहता है, संन्यास सम्यक् त्याग के आतरिक आविर्भाव से, चैतन्य से होता है।

बाहर की वस्तुओं से मिले हुए दुख के कारण आदमी संन्यास लेने की सोचने लगता है और ऐसा आदमी खोजना कठिन है जिसने कभी संन्यास के बाबत न सोचा हो। ऐसा, आदमी ही खोजना कठिन है, जिसने आत्महत्या के बाबत न सोचा हो। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि हम जो-जो सोचते हैं, अगर करने लगें, जैसा कि कुछ लोग समझाते हैं कि जैसा विचार, वैसा आचरण; तो एक-एक आदमी की जिन्दगी में कम से कम चार-चार दफे आत्महत्या करनी पड़े। यह हो नहीं सकता, क्योंकि एक दफे में खत्म हो जाएगा। लेकिन इसका कोई उपाय हो, तो एक-एक आदमी कम से कम, (एवरेज) चार दफे आत्म-हत्या करे। जीवन तो रोज ऐसे मौके खड़े कर देता है, तब मन होता है कि खत्म हो जाओ। वह तो और भी कमजोरियां हैं जो बचा लेती हैं।

मुल्ला नसरुद्दीन अपने कमरे में फांसी लगा रहे थे। पत्नी ने झांककर देखा। उसने पूछा यह क्या कर रहे हो? मुल्ला खड़े थे मेज पर। एक छत से लटकती हुई रस्सी कमर से बन्धी थी। पत्नी ने पूछा, यह क्या कर रहे हो? मुल्ला ने कहा, आत्महत्या कर रहा हूँ। पत्नी ने कहा, लेकिन कमर में रस्सी? मुल्ला ने कहा, गले में बांधी तो बहुत 'सफोकेशन' (घुटन) मालूम हुआ। पहले गले में बांधकर देखी थी, बहुत घबराहट होने लगी थी, इसलिए मैंने कमर में बांध ली।.मरने के तो बहुत मौके आ जाते हैं, लेकिन 'सफोकेशन' मालूम होता है। आदमी कमर में बांध कर मौके निपटा देता है।

भाव क्षणजीवी होते हैं। फिर वापस खड़े हो जाते हैं अपनी दुनिया में। फिर सँभल जाते हैं। फिर चलने लगते हैं। दो बातें हैं। एक तो आब्जेक्टिव रिनन्सिएशन होता है, और एक सब्जेक्टिव रिनन्सिएशन। एक तो त्याग है जो वस्तुगत होता है, और एक त्याग है जो आत्मगत होता है। वस्तुगत त्याग वस्तु से हुई पीड़ा के कारण होता है। आत्मगत त्याग चैतन्य के बढ़ जाने के कारण होता है। इसलिए जो त्याग ध्यान के परिणामस्वरूप आता है, उसके अतिरिक्त और कोई त्याग त्याग नहीं है। क्योंकि ध्यान अकेली कीमिया है,

जिससे आपकी चेतना बढ़ती हैं। ध्यान तेल है, जिससे भीतर की चेतना की ज्योति बढ़ती और प्रखर होती है। ध्यान ईंधन है, जिससे भीतर की चेतना जगती है और आन्दोलित होती है।

चेतना भीतर बढ़ती है, तो जगत् असार मालूम पड़ता है। अगर वस्तुओं के कारण आदमी त्याग की सोचता है, तो जगत् दुखपूर्ण मालूम पड़ता है, पीड़ादायी मालूम पड़ता है। जगत् शत्रु मालूम पड़ता है। जगत् को छोड़ देने से सुख मिलेगा, ऐसा मालूम पड़ता है। लेकिन चैतन्य भीतर जगता है, तो जगत् असार है। न उसे पकड़ने से सुख का कोई सम्बन्ध है, न उसे छोड़ने से सुख का कोई सम्बन्ध हैं। हाँ, जगत् चित्त से गिर जाए तो चित्त खाली हो जाता है—परमात्मा को झेलने और सँभालने और देखने और पाने के लिए।

भरा हुआ चित्त कैसे परमात्मा को जाने। जगह भी चाहिए भीतर, स्पेश चाहिए। इतने बड़े मेहमान को बुलाते हैं, परमात्मा को—भीतर जगह नही, वहाँ कूड़ा-कबाड़ा भरा हुआ है। वहाँ रत्ती भर जगह नही। परमात्मा कई दफे आपकी पुकार सुनकर चारो तरफ चक्कर लगाकर लौट जाता है। देखता है भीतर, भीतर क्या कोई कबाड़ी की दुकान है! भीतर जगह ही नही है। आप खुद ही अपने भीतर घुमें, तो पता चले। कितनी कोशिश करे, भीतर आप न पहुँच पाएंगे। इतना सब कचरा इकट्ठा खड़ा हुआ है वहाँ कि भीतर गति के लिए कोई जगह भी तो चाहिए। इसीलिए तो आदमी बाहर रहता है। अपने दरवाजे पर जिन्दगी गुजार देता है। क्योंकि भीतर जाए कौन, झंझट मे पड़े कौन। बाहर से सब कचरे को इकट्ठा करके भीतर डालता रहता है। खुद बाहर बैठा रहता है। कचरे को भीतर डालता रहता हैं। हिम्मत ही नही होती पीछे लौटकर भीतर देखने की।

जो लोग ध्यान मे उतरना शुरू करते हैं, वे बहुत घबराते हैं। वे कहते हैं, हम अपने भीतर ऐसी चीजें देख रहे हैं जो हमने सोची भी नही थी कि हमारे भीतर हो सकती है। हैं ही, सोची नहीं थी। भलीभाँति् जानते थे कि आपने ही डाली, क्योंकि वहाँ कुछ ऐसा नहीं हो सकता जो आपके बिना डाले हो। यह बात दूसरी है कि डाले बहुत देर हो गई हो, जन्म-जन्म हो गए हों। डाली आपने ही हैं। अभी भी डाल रहे हैं। अगर कोई आदमी किसी की निन्दा सुनाने लगे तो चेतना ऐसी सजग हो जाती है जीवन में रस आ जाता है, कान फैल जाते हैं, सजग हो जाते हैं, फिर बैण्ड बाजे भी बजते रहें दुनिया

में, वह सुनाई नहीं पड़ते। और वह आदमी फुसफुसाकर बोले, तो भी सुनाई पड़ता है। मुल्ला नसरुद्दीन तो कहता था कि अगर ज्यादा लोगों को सुनवाना हो कोई बात, तो कान मे फुसफुसाकर बोलो, नहीं तो लोग ज्यादा सुनेंगे नही। जब तुम फुसफुसाते हो, तो दूसरा आदमी समझता है, जरूर कोई सुनने-जैसी उपद्रव की बात हो रही है।

हम चारो तरफ से कचरा इकट्ठा करते हैं, बटोरते रहते हैं। अगर कोई हीरा देने जाए, तो हम मानेंगे नही कि यह हीरा है। हम कहेंगे, ले जाओ, नासमझ समझा है हमें ? कोई ऐसे हीरा देने आता है ? कोई कचरा देने आए, तो हमारी बाँहें फैली हैं, हम बिलकुल तैयार हैं। हम सब एक दूसरे के मन मे कचरा डालते रहते हैं। हजार-हजार उपाय से पैसा भी खर्च करके आदमी अपने भीतर कचरे का इन्तजाम करवाता है। कभी फिल्म देखता है, कभी कोई डिटेक्टिव नावेल (जासूरी उपन्यास) पढ़ता है। न मालूम क्या-क्या आदमी करता है और किस-किस तरह से कचरा बटोरता है ! अगर हम उसके कचरे बटोरने के श्रम का हिसाब रखें, तो कहना पड़ेगा कि आदमी एक चमत्कार है। फिर भीतर जाने को जगह नही मिलती। हम परमात्मा को बुलाते है, तब बहुत कठिन हो जाता है। भीतर जाना हो, तो भीतर खाली होना जरूरी है। और खाली वही हो सकता है, जो संसार को अपने भीतर प्रवेश न करने दे।

सन्यासी का सूत्र आपसे कहता हूँ। संन्यासी भी संसार में रहता है और गृहस्थ भी संसार मे रहता है। लेकिन एक बात मे फर्क है। संन्यासी संसार मे रहता है, लेकिन ससार संन्यासी में नहीं रहता। गृहस्थ भी संसार मे रहता है, लेकिन संसार भी गृहस्थ में रहता है। अपने भीतर भरता चला जाता है। सन्यासी घूमता है, इन्हीं रास्तो पर चलता है, इन्हीं रास्तों पर बुद्ध गुजरते हैं, लेकिन इन रास्तों की धूलि उन्हें नहीं छूती। इन्हीं बाजारों से महावीर भी गुजरते हैं, लेकिन इन बाजारो की ध्वनियाँ उनके कानो मे प्रवेश नहीं करतीं। जैन फकीर लिखी कहता था, जिस दिन पानी में चलो और पानी तुम्हें न छू पाए, समझना कि तुम संन्यासी हो गए। उसका कहना था कि संसार मे चलो और संसार तुम्हें न छू पाए, तुम्हारे भीतर प्रवेश न कर पाए।

ऋषि कहता है, संन्यासी चैतन्यमय होकर संसार का त्याग करते हैं।

उनके भीतर बोध इतना जग जाता है कि उस बोध के कारण जो कमरा है वह कचरा दिखाई पड़ने लगता है, फिर उसे सँभालने की जरूरत नहीं रह जाती। हाथ से छूट जाता है और गिर जाता है। त्याग किया नहीं जाता, त्याग हो जाता है ज्ञान में। अज्ञानी त्याग करता है। ज्ञानी से त्याग होता है। 'इट जस्ट हैपेन्स विदाउट एनी एफर्ट।' बिना किसी प्रयत्न के घटित होता है।

बुद्ध घर छोड़कर जा रहे हैं। उनका सारथी उनसे कहता है, ऐसा सुन्दर महल, ऐसी प्रीतिकर पत्नी, नवजात शिशु, ऐसा साम्राज्य, सब सुख-सुविधाएँ छोड़कर कहाँ जाते हो ? लौट चलो। तो बुद्ध ने कहा, लौटकर पीछे देखता हूँ, मुझे कोई महल दिखाई नहीं पड़ता। सिर्फ आग की लपटें दिखाई पड़ती हैं। लौटकर पीछे देखता हूँ, मुझे कोई सुन्दर प्रीतिकर पत्नी दिखाई नहीं पड़ती, सिर्फ अपने ही मोह का फैलाव मालूम पड़ता है। मुझे कोई साम्राज्य दिखाई नहीं पड़ता, सिर्फ भविष्य में हो जानेवाले खँडहर दिखाई पड़ते हैं। तो बुद्ध त्याग करके नहीं जा रहे हैं, क्योंकि जिसे लपटें दिखाई पड़ रही हों महल में, उसे त्याग नहीं करना पड़ता, त्याग हो जाता है। आपसे भी हो जाए, अगर लपटें दिखाई पड़ें।

आपके घर में आग लग जाए, फिर भी आप घर का त्याग करते हैं ? फिर ऐसे भागते हैं कि घर कहीं पकड़ न ले। कहीं रोक ही न ले कि जरा ठहरो। इतने दिन साथ दिया, कहाँ जाते हो ? घर, द्वार-दरवाजे बन्द नहीं करते। घर को आपसे कोई लगाव नहीं है, नहीं तो आग लग जाए, तो निकलने न दे बाहर कि अब जाते कहाँ हो। साथी का पता तो दुख में ही पड़ता है। अब मौका आया, तो भाग रहे हो। यही तो अवसर है, पलायन करते हो, एस्केपिस्ट हो जाते हो। रुको। घर को आपसे कोई मोह नहीं है। वह बड़ा प्रसन्न होता है कि चलो, मौका मिला, यह सज्जन गए। लेकिन आग लगी हो, तो फिर आपको छोड़ना नहीं पड़ता है, छूट जाता है।

अब जिसे संसार में ही व्यर्थता की, असारता की आग लगी दिखाई पड़े, उसे छोड़ना नहीं पड़ता, छूट जाता है। इसलिए ऋषि कहता है, चैतन्यमय होकर संसार का त्याग ही उनके हाथ की लकड़ी है, उनका दण्ड है। ब्रह्म का नित्य दर्शन ही उनका कमण्डलु है।

ऋषि प्रतीक कह रहा है। ब्रह्म का नित्य दर्शन ही उनका कमण्डलु है

और कर्मों को निर्मूल कर डालना ही उनकी झोली है। इसे थोड़ा समझ लेना जरूरी है। कर्मों को निर्मूल कर डालना। कर्म पकड़ते हैं, इसलिए कि हमें भ्रांति है कि हम कर्ता हैं। अगर कोई सोचता हो कि मैं कर्मों को निर्मूल कर दूंगा, तो वह निर्मूल करने के नए कर्म का बन्ध पैदा करेगा। कर्म बांधते इसलिए हैं कि मुझे खयाल है कि मैं कर्ता हूँ। मैंने चोरी की, मैंने दान दिया। मैंने यह किया, मैंने वह किया। यह जो मैं हूँ पीछे, मैं कर्ता हूँ, ऐसा जो भाव है, वह कर्मों को मुझसे जोड़ता चला जाता है।

जन्मों-जन्मों में न मालूम कितने कर्म का भाव हमारे भीतर इकट्ठा हो जाता है। हम बड़े कर्ता हो जाते हैं जब कि कर्ता सिवा परमात्मा के और कोई भी नहीं है। तो हम झूठ ही कर्ता होने का खयाल अपने भीतर बना लेते हैं। तो सब कर्मों को सँभालकर रखते हैं, लेखा-जोखा रखते हैं। क्या-क्या मैंने किया, क्या-क्या मैंने किया। उसकी हमारे चारो तरफ भीड़ इकट्ठी हो जाती है। वही हमारे भीतर कूड़ा-कबाड़ भर जाता है। उसकी वजह से जीवन के सत्य का अनुभव नही हो पाता, प्रभु का नित्य दर्शन नहीं हो पाता।

कैसे कटेंगे ये कर्म ? यह ऋषि क्या कहता है ? ये कर्म कैसे कटेंगे ? ये कट जाते हैं एक क्षण में। अगर इतना ही स्मरणपूर्वक अपने भीतर कोई सजग हो जाए कि मैं अपने कर्मों का कर्ता नहीं, सब कर्म परमात्मा के हैं। मैं केवल उसके हाथ की बांसुरी हूँ। स्वर उसके हैं, गीत उसके है, मैं सिर्फ बांस की पोंगरी हूँ। कबीर ने कहा है कि जिस दिन यह जाना कि मैं बांस की पोंगरी हूँ, उसी दिन झंझट कट गई। अब वह जाने, उसकी झंझट जाने। अपना कोई लेना-देना न रहा।

मरने लगे कबीर तो काशी छोड़कर चले गए। काशी लोग मरने आते हैं। मरे-मराए लोग काशी मरने आते हैं। खयाल है कि काशी में जो मरता है, वह स्वर्ग में जन्म लेता है। काशी के पास एक छोटा-सा गांव है, मगहर। कहावत है कि जो मगहर में मरता है, वह नर्क में गधा होता है। कबीर मरते वक्त मगहर चले गए। बहुत समझाया मित्रो ने, प्रियजनों ने, शिष्यों ने कि क्या करते हैं, मगहर में कोई मरता ही नहीं ! मगहर मे आदमी मर भी जाए, तो उसके रिश्तेदार उसे लेकर भागते हैं कि अभी थोड़ी सांस चल रही है, मगहर के बाहर निकाल लो, नहीं तो आदमी नर्क में गधा होता है।

काशी दूर-दूर से लोग मरने आते हैं और तुम काशी जिन्दगी भर रहे और मरने के वक्त मगहर जा रहे हो, दिमाग खराब हो गया ! कबीर ने कहा कि काशी में रहकर अगर मैं मरा और स्वर्ग में गया, तो कर्ता का भाव पकड जाएगा। अपनी वजह से मगहर में मरूँ, तो जहाँ उसकी मर्जी हो, नर्क का गधा बना दे तो भी उसकी मर्जी रहेगी। हम तो मगहर में ही मरेंगे। और स्वर्ग गए, तो फिर कह सकेंगे, तेरी अनुकम्पा। तेरी कृपा। मरे तो मगहर में थे, होना तो गधा था। लेकिन काशी मे मरकर अहंकार पकड़ेगा कि मरे काशी में। हमारे तो हर कर्म के पीछे कर्ता खड़ा हो जाता है कि मैं कर रहा हूँ।

कर्मों की निर्जरा न हो, तो मुक्ति नही है, स्वतन्त्रता नहीं है, चेतना का परम विकास नही है। संन्यासी यह कहता है कि अब मै कुछ नही करता। अब वह जो कराता है, कराता हूं। अब मैंने अपने सिर पर से वह बोझ हटा दिया। नर्क जाऊँ, तो वह जाने; स्वर्ग जाऊँ, तो वह जाने। जीऊँ तो ठीक, मरूँ तो ठीक। जो भी हो। अब मैं नही हूँ अपने कर्मों के पीछे। अगर कोई ऐसा सरक जाय कर्म के पीछे से, तो आज के कर्म ही नही क्षीण हो जाएँ, अनंत-अनंत जन्मों के कर्मों से सम्बन्ध टूट जाता है।

कर्मों को निर्मूल कर डालना ही उसकी कन्था है। और निर्मूल वे तभी होंगे, जब मूल कट जाए; और मूल है अहंकार। मूल है कर्ता का भाव कि मैं कर रहा हूँ। मैं ध्यान कर रहा हूँ, इतना भी पकड़ जाए, तो कर्म का बंध होता है। मैं धर्म कर रहा हूँ, प्रार्थना कर रहा हूँ, पूजा कर रहा हूँ, इतना भी पकड़ जाए, तो कर्म का बंध होता है।

उमर खय्याम ने एक बहुत प्यारा गीत लिखा है। उमर खय्याम बहुत कम समझा जा सका, क्योंकि बातें उसने ऐसी कहीं कि नासमझो को बहुत जँची। नासमझों ने उनके अपने अर्थ लगा लिये जो उनको जँचे। उमर खय्याम कीमती सूफी फकीर था। वह जिस बुरी तरह 'मिस इन्टरप्रेटेड' हुआ है सारी दुनिया में, कि उसका कोई हिसाब लगाना कठिन है। फिट्जेराल्ड ने पश्चिम में जब उसका अनुवाद किया, तो मिट्टी कर दी। बहुत अच्छा अनुवाद किया लेकिन उसकी जो सूफियाना पकड़ थी, वह जरा भी न बची। भारत में भी बहुत अनुवाद उमर खय्याम के हुए हैं, लेकिन एक भी अनुवाद ठीक नही है। हो नही सकता। क्योंकि उन अनुवाद करने वालों में एक

भी सूफी नहीं है। वे कवि हैं, तो गीत तो उतार देते हैं। आपने देखा होगा, शराबखानों के नाम लोगों ने रख दिए हैं, 'उमर खय्याम'। क्योंकि ऐसा लगा कि उमर खय्याम शराब पीने की गवाही देता है और कहता है पीयो। लेकिन उमर खय्याम समझा नहीं जा सका।

उमर खय्याम कहता है कि पीयो, क्योंकि पिलाने वाला वही है। और इस भ्रम में मत पड़ना कि तुम पीना छोड़ दोगे, क्योंकि उसके बिना छुड़ाए कैसा छोड़ना। हमने सुना है कि वह बहुत रहीम है, रहमान है। हमने सुना है कि वह बड़ा दयावान है, तो हम पुण्य करने का बोझ अपने सिर पर क्यों लें? हम जैसे हैं, वैसे रह आएँगे। उसके सामने मौजूद हो जाएँगे। अगर उमर खय्याम-जैसे छोटे-से आदमी के पाप भी उसकी दया से न धुल सके — छोटे से आदमी के, छोटे ही पाप उसकी दया से न धुल सके, तो हमारी कोई बदनामी नही, उसी की दया बदनाम हो जाएगी।

मगर जिनने इनके अनुवाद किए उन्होंने तो सब खराब कर डाला। उन्होंने तो मतलब निकाला कि मजे से पीयो। मजे से पीयो, अपना क्या बिगड़ेगा। उसी की बदनामी होगी। उमर खय्याम कुछ और ही बात कह रहा है। वह कह रहा है कि उसके बिना कराए क्या होगा! न पकड़ सकते कुछ, न छोड़ सकते कुछ और जब वह छुड़ाएगा तो हमारी क्या ताकत कि हम पकड़ रखेंगे। और जब तक वह पकड़ाए है, तब तक हम इस अहंकार को क्यों कहें कि हम छोड़ देंगे। शराब तो सिर्फ बहाना है, बातचीत का बहाना है। जो जानते हैं, वे कहते हैं कि उमर खय्याम ने कभी शराब नही छुई और सब बातें तो उसने शराब की ही लिखी हैं। शराब उसके लिए प्रतीक है, सूफियों के लिए प्रतीक है। वह प्रतीक है कई अर्थों में। दो-तीन बातें खयाल में ले लेने जैसी हैं।

एक तो यह कि शराब पीकर आदमी इतना बेहोश हो जाता है कि उसे अपने होने का पता नहीं रहता। उमर खय्याम कहता है कि परमात्मा की शराब भी ऐसी है कि जो पी लेता है, उसे अपने होने का पता नही रहता। वह कर्त्ता, वह मैं, वह खो जाता है। शायद शराब का जो इतना आकर्षण है सारी जमीन पर, वह इसीलिए है कि हम इतने कर्त्ता से भरे हुए हैं कि थोड़ी देर के लिए भुलाने के लिए सिवा शराब के हमारे पास और कोई उपाय नहीं है। इसलिए सच में ही इस शराब से वे ही लोग बच सकते हैं, जो

परमात्मा की शराब पी लें, क्योंकि फिर कर्ता ही उनके पास नहीं बचता, जिसे भुलाने की जरूरत हो।

निर्मूल करना हो, जड़ से ही काट डालना हो, तो कर्त्ता को काटना पड़ता है, कर्मों को नहीं। कर्म तो पत्ते हैं, मूल नहीं हैं और उस मूल अहंकार को, कि मैं करने वाला हूँ, कैसे काटेंगे? कौन-सी तलवार काम पड़ेगी वहाँ, कौन-सी कुदाली वहाँ खोदेगी। कौन-सी कुल्हाड़ी वहाँ काटेगी? जहाँ-जहाँ कर्त्ता का भाव हो, वहाँ-वहाँ साक्षी का भाव स्थापित करें। जहाँ-जहाँ लगे कि मैं कर रहा हूँ, वहीं-वहीं जानें कि मैं कर नहीं रहा हूँ, केवल ऐसा हो रहा है, इसे देख रहा हूँ।

किसी के प्रेम में आप पड़ गए हैं। आप कहते हैं, मैं बहुत प्रेम करता हूँ, लेकिन अब तक कोई प्रेमी सच नहीं बोला। सच इसलिए नहीं बोला कि प्रेम क्या कभी किसी ने किया है? प्रेम हो जाता है। नहीं तो करके दिखाएँ। बता दें आपको कि यह रहा, इस आदमी को प्रेम करके बताओ। हाँ, फिल्म की स्टेज पर बात और है, बताया जा सकता है। लेकिन आप प्रेम करके बता नहीं सकते। इसके लिए ऑर्डर (आदेश) नहीं किया जा सकता कि चलो, करो प्रेम। अगर हो भी थोड़ा-बहुत, तो तिरोहित हो जाएगा एकदम, ऑर्डर सुनते ही। इसलिए तो बच्चों का प्रेम नष्ट हो जाता है, क्योंकि बच्चों को हम ऑर्डर कर रहे हैं। कह रहे हैं, यह तुम्हारी माँ है, करो प्रेम। यह पागलपन की बात है। अगर माँ है, तो प्रेम अबतक पैदा हो जाना चाहिए था। अगर माँ है और अब तक प्रेम पैदा नहीं हुआ, तो क्या करने से अब प्रेम हो सकेगा? साथ रहकर माँ होने से नहीं हुआ, तो अब कहने से क्या होगा? लेकिन माँ ही कह रही है कि चलो, करो प्रेम। चलो, यह तुम्हारी चाची है, इसके गले लगो। यह तुम्हारे पिता जी हैं, इनके पैर छूओ। बच्चे बेचारे जबरदस्ती करके उस हालत में पहुँच जाते हैं कि फिर उनसे कभी बिना जबरदस्ती के कुछ होता ही नहीं। कण्डीशनिंग हो जाती है।

यह पत्नी है, करो प्रेम; यह पति है, करो प्रेम। फिर पूरी जिन्दगी करो। लेकिन प्रेम तो एक घटना है, हैपनिंग है। किया नहीं जाता, हो जाता है। जब आपको प्रेम हो, तब अगर आप यह समझ पाएँ कि यह हो रहा है, मैं कर नहीं रहा हूँ, तो आपको प्रेम का कर्म बाँधेगा नहीं। आप कहेंगे, अवश हूँ, विवश हूँ, मेरे हाथ के बाहर कुछ हो रहा है। तब आप साक्षी बन सकते हैं,

द्रष्टा बन सकते हैं, और जो व्यक्ति प्रेम का द्रष्टा बन जाए, वह और सब चीजों का द्रष्टा बन सकता है, क्योंकि प्रेम बहुत गहरा अनुभव है। और सब चीजें तो ऊपर-ऊपर हैं, बहुत ऊपर-ऊपर।

द्रष्टा बनें। जहाँ-जहाँ कर्त्ता का भाव सघन होता हो, वहाँ-वहाँ द्रष्टा को लाएँ। धीरे-धीरे कर्म की जड़ कट जाएगी और आप अचानक पाएँगे कि कर्मों का सारा जाल आपसे दूर होकर गिर पडा, जैसे आपके वस्त्र गिर गए हों और आप नग्न खड़े हैं। जिस दिन कर्मों से नग्न होकर कोई खड़ा हो जाता है, उस दिन परमात्मा के लिए द्वार सीधा खुल जाता है। हमारे और उसके बीच कर्मों की शृंखला की आड़ है, दीवार है। इसलिए ऋषि कहता है, कर्मों को निर्मूल कर डालना ही उनकी कन्था है।

अन्तिम सूत्र में ऋषि कहता है कि श्मशान मे जिसने दहन कर दिए माया, ममता, अहंकार, वही अनाहत अंगी—पूर्ण व्यक्तित्व वाला है। इस सूत्र मे ऋषि बात को पूरा करता है, जैसे किसी ने मरघट पर आकर जला दिए हों सब—ममता, माया, अहंकार। असल में सब अहंकार का विस्तार है। अहकार अपने को ममता से फैलाता है। ममता उसकी शक्ति है, उससे अपने को बड़ा करता है। जब कोई कहता है, 'मेरा बेटा', तो अहंकार की परिधि बडी हो गई। बेटे को भी उसने उसी में समा लिया। 'मेरी जाति', अहंकार की परिधि बहुत बड़ी हो गई। अब पूरी जाति को उसने अपने अहंकार के साथ जोड़ लिया। अब अगर कोई उसकी जाति को गाली देगा, तो यह उसको दी गई गाली है। अगर अब कोई उसकी जाति का झंडा नीचा करेगा, तो यह उसका झंडा नीचा हो गया। 'मेरा राष्ट्र', उसको और भयंकर बड़ा कर दिया। और जितना वह बड़ा हो जाए, उतना पहचान में नही आता। वह इतना बड़ा हो जाता है कि हमारी आँखें उसका ओर-छोर नहीं देख पातीं। अगर मैं कहूँ कि मैं बहुत महान् व्यक्ति हूँ, तो फौरन दिखाई पड़ जाएगा कि मैं बड़ा अहंकारी हूँ, लेकिन जब मैं कहता हूँ, हिन्दू धर्म महान् है, तो किसी को पता नहीं चलता कि हम केवल तरकीब कर रहे हैं। हम यह कह रहे हैं कि हिन्दू धर्म महान् है, क्योंकि हम हिन्दू हैं। इस्लाम महान् है, क्योंकि मैं मुसलमान हूँ। इस्लाम महान् है, इसीलिए कि मैं मुसलमान हूँ। अगर मैं न होता, तो महान् नहीं हो सकता। फिर जहाँ मैं होता, वह महान् होता।

मुल्ला नसरुद्दीन एक सभा में गया था। जरा देर से पहुँचा। बड़े

आदमी को देर से पहुँचना चाहिए। सिर्फ छोटे आदमी वक्त पर पहुँचते हैं, बहुत छोटे वक्त के और पहले पहुँच जाते हैं। बडा आदमी जरा देर करके पहुँचता है। देर से पहुँचा, सभा भर गई थी। रास्ता नहीं था, अध्यक्ष जम चुके थे। नेता ने अपना व्याख्यान शुरू कर दिया था। मुल्ला इस इच्छा से गए थे कि किसी तरह मंच पर तो बैठ ही जाएंगे। लेकिन मंच तक जाने का उपाय नही था। मुल्ला दरवाजे पर ही बैठ गया, जहाँ लोगों ने जूते उतारे। फिर उसने वहीं गपशप करनी शुरू कर दी। उसकी बातें तो बडी कीमती थी ही। लोग धीरे-धीरे उसकी तरफ मुड गए। सभा का रुख बदल गया। अध्यक्ष चिल्लाया कि नसरुद्दीन, तुम बहुत गड़बड कर रहे हो। तुम्हे पता होना चाहिए कि अध्यक्ष का स्थान यहाँ है। नसरुद्दीन ने कहा, नसरुद्दीन जहाँ बैठता है, अध्यक्ष का स्थान सदा वही होता है, और कहीं नही होता। अगर न मानों तो सभा से पूछ लो। पीठ किसकी तरफ, मुँह किसकी तरफ ?

आदमी अपने को जहाँ बैठा मानता है, सदा वही अध्यक्ष का स्थान है। कुछ लोग गलती में हों, बात दूसरी है। कहीं भी बैठ जाएँ, उससे फर्क नही पड़ता। जहाँ मैं बैठता हूँ, वही अध्यक्ष का स्थान है। हर आदमी इस जगत् मे पूरे जगत् का सेन्टर है, केन्द्र—हर आदमी। यही तो झगड़ा है कि हर आदमी सेन्टर है। उसको सेन्टर मानकर पूरा जगत् परिभ्रमण कर रहा है। चाँद-तारे चल रहे हैं, परमात्मा सेवा में लगा है, सारा खेल चल रहा है। पर सेन्टर आप हैं।

अहंकार छोटा होता है तो दिखाई पड़ जाता है। आपको न भी पड़े, तो आपके पड़ोसी को दिखाई पड़ जाता है। बड़ा हो, तो पड़ोसी भी समा जाता है, फिर दिखाई नही पड़ता। जितना बड़ा हो जाए अहंकार, उतना कम दिखाई पड़ता है। इसलिए हमने चालाकियाँ की हैं और विराट् करने की कोशिश की है अहंकारों को। जाति, राष्ट्र, धर्म, समाज—इनका अहंकार इस ढंग से हो जाता है कि फिर ठीक है, फिर कोई दिक्कत नहीं। मैं जोर से चिल्ला सकता हूँ कि भारत दुनिया का सबसे श्रेष्ठ राष्ट्र है। कोई उपद्रव नहीं करेगा, कम से कम भारत में तो नही ही करेगा। क्योंकि वह उसका भी अहंकार है। वह कहेगा, बिलकुल ठीक है, आप उचित कहते हैं। पाकिस्तान में पाकिस्तान महान् बना रहेगा, चीन मे चीन महान् बना रहेगा। इस तरह सबके

अहंकार तृप्त होते रहते हैं। रस पोषण पाते रहते हैं।

अहंकार जीता है ममता के विस्तार से, 'मेरे' के विस्तार से। जितना बडा 'मेरे' का घेरा होगा, उतना मेरा 'मैं' बड़ा हो जाएगा और सुरक्षित होगा। इसलिए क्या-क्या मेरा है, इसको हम फैलाते चले जाते हैं। ममता, 'मेरे' के फैलाव का नाम है। आप कितनी चीजो को 'मेरा' कह सकते हैं, उतना ही आपका अहंकार पुष्ट होगा। लेकिन किसी चीज को मेरा कहना हो, तो पहले उसे माया से रजित करना होता है। उसे (इल्यूजरी) करना पड़ता है। क्योंकि बिना 'इल्यूजन' (भ्रम) के किसी चीज को मैं 'मेरी' नही कह सकता।

एक जमीन पर मैं खडा होकर कहता हूँ, 'मेरी जमीन'। मैं यह कैसे कह सकता हूँ? जब मैं नही था, तब भी यह जमीन थी और जब मैं नही रहूँगा, तब भी यह जमीन रहेगी। और यह जमीन अगर हँस सकती, तो हँसती होगी, क्योंकि इस पर खडे होकर न मालूम कितने लोगों ने कहा होगा, मेरी जमीन है। वे लोग खो गए, जमीन अपनी जगह पड़ी है। अगर मुझे 'मेरे' का विस्तार करना है, तो मुझे बहुत ही हिप्नोटिक इल्यूजन (भ्रम) मे अपने को सम्मोहित करना पडेगा, एक भ्रम मे (जिसमे मुझे सत्य को देखने की जरूरत नही) असत्य खडे करने पड़ेंगे। जितना असत्य झूठ मे खड़ा कर सकूँगा अपने पास, उतना ही 'मेरे' का विस्तार होगा और उतना ही मेरे भीतर 'मैं' मजबूत होगा। एक बहुत अद्भुत खेल मे हम लगे हैं। कैसा जाल हम बुनते हैं। माया का अर्थ है, हिप्नोटिक इल्यूजन (सम्मोहक भ्रम)! जैसा आपने देखा होगा, कभी कोई जादूगर एक झोले मे से पौधा निकालता है। पौधा एकदम बडा हो जाता है, उसमे आम लग जाते हैं, वह आपको आम तोड़कर दे देता है। न कोई झाड़ है वहाँ, न कोई आम है।

मुल्ला नसरुद्दीन एक जादूगर से मिलने गया था। जा तो रहा था दूसरे काम से, लेकिन जादूगर बीच मे मिल गया। जादूगर ने जैसे ही मुल्ला को देखा, उसने अपना डमरू बजाया। मुल्ला चौंका। डमरू बजाकर उसने अपनी झोली में से एक पौधा निकाला। पौधा बड़ा हुआ। उसमे आम लगे। मुल्ला निकट गया। मुल्ला ने कहा, गजब की चीज है, 'मैजिक बैग', जादू का थैला। पूछा—क्या दाम है? जादूगर ने कहा, पहले इसका पूरा राज तो समझ लो। पौधे को एक तरफ रख दिया। अन्दर हाथ डाला। एक खरगोश निकाला, और अन्दर हाथ डाला, चीजें निकलती आईं। जो उसने कहा, वही निकलती

आई। मुल्ला ने कहा, बहुत बढ़िया। जा रहे थे खरीदने कुछ सामान। मैजिक बैग खरीद लिया। निकले थे कुछ और काम से, लेकिन जब मैजिक बैग मिल रहा हो, तो कौन नही खरीदेगा? सोचा, सामान पीछे ले लेंगे। जरूरी चीजें फिर भी की जा सकती हैं, गैर-जरूरी चीजें चूकी नहीं जा सकती। खाना एक दिन का छोड़ा भी जा सकता है, लेकिन हीरे की अंगूठी के बिना काम नही चल सकता। जो गैर जरूरी है, वह तात्कालिक माँग करता है। जो जरूरी हैं, उसे पोस्टपोन किया जा सकता है।

मुल्ला जा रहा था बहुत जरूरी काम से। पत्नी के लिए कुछ दवा वगैरह खरीदने निकला था। फिर सोचा कि दवा की जरूरत क्या, जब मैजिक बैग अपने पास है। इसी मे से निकाल लेंगे। मन में खयाल पहले तो आया कि पत्नी के लिए दवा निकाल लेंगे, लेकिन मन ने सोचा कि नई पत्नी ही क्यो न निकाल लें, जब मैजिक बैग ही पास है। मरने दो पुरानी को। फौरन जितने पैसे थे, दे दिए।

चलते वक्त उस आदमी ने कहा, जरा एक बात खयाल रखना, दीज बैग्स आर वेरी टेम्परामेंटल। ये बड़े मूडी हैं। यह मैजिक बैग है, कोई साधारण नही है। यह जादू का झोला है। यह बहुत संवेदनशील है। जरा होशियारी से, कुशलता से परसुएड करना, फुसलाना। नाराज हो गया तो मुश्किल हो जाएगी। मुल्ला ने कहा, मैं समझता हूं। जब इतनी ऊँची चीज है, तो टेम्परामेंटल तो होगी ही। जादूगर ने कहा कि जल्दबाजी मत करना। घर जाना, आराम से बैठकर सुस्ताना। (क्योंकि तब तक वह जादूगर जरा दूर निकल जाएगा) मुल्ला को घर पहुँचना बहुत मुश्किल हुआ। रास्ते में ही जोर से प्यास लग आई। उसने कहा, ऐसा भी क्या टेम्परामेंटल होगा, एक गिलास पानी तो दे ही सकता है। अन्दर हाथ डाला और कहा, प्यारे, जादू के बस्ते, जरा एक पानी का गिलास दो। वहाँ से कुछ भी न आया। कहा, अरे, क्या खरगोश और आम वगैरह निकालने की आदत तो नहीं है इसकी! कहा, कोई हर्ज नहीं, अच्छा आम का पौधा ही निकाल। उसका भी कोई पता नहीं चला। पूरे बैग में अन्दर हाथ डाला, वह बिलकुल खाली था। जो चीजें निकल सकती थीं, वे निकल चुकी थीं। उसने कहा, बहुत टेम्परामेंटल मालूम होते हो। ऐसी भी क्या नाराजगी। अभी एक अपशब्द भी तुम से नहीं बोला। जो तुम्हारी मर्जी हो, वही निकालो। हाथ डाला, फिर भी कुछ नहीं

आया। बड़ी मुसीबत हो गई। पसे भी खराब गए, अब क्या करें। इसका कोई उपयोग तो होना ही चाहिए।

आदमी ऐसा ही सोचता है। उतने पैसे खराब किए, तो अब इसका कोई उपयोग तो होना ही चाहिए। उसने सोचा, अब इसका और क्या उपयोग हो सकता है। मुल्ला के पास एक गधा था, लेकिन उसके मुंह का जो तोबड़ा था, वह तो था ही। उसने सोचा, इस तोबड़े के लिए एक गधा खरीद लेना चाहिए। बैग का क्या उपयोग करे! भागा बाजार, गधा खरीदने लगा, तो गधा बेचने वाले ने कहा, दो-दो गधे का क्या करोगे? उसने कहा, दो-दो कहाँ, एक गधा और उसका तोबडा। और एक तोबड़ा और उसका गधा। दो कहाँ हैं।

आदमी पूरे वक्त मैजिक बैग लेकर जी रहा है। थैला टैंपरामेंटल है। कुछ निकालो, कुछ निकल आता है। नया कुछ कभी नही निकलता, जो डालो वही निकलता है। यह जिसको हम माया कहते हैं उसका अर्थ है कि हम इस पूरे जगत् में बहुत-से इल्यूजन्स पैदा करते हैं, बहुत से भ्रम पैदा करते हैं और उन भ्रमों के सहारे ही जीते हैं। नही तो जीना बहुत मुश्किल है। हर आदमी अपना मैजिक बैग लिये हुए है और उसमें से चीजें निकालता रहता है। हालांकि कोई उसका मानता नही, लेकिन कम से कम वह खुद मानता है। कोई उसकी नहीं मानता। वह खुद तो कम से कम भरोसा करता है।

मैं पूरे मुल्क में घूमा। मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं, आप ने जो बात कही, वह हमारी समझ मे तो आ गई, लेकिन साधारण आदमियों की समझ में कैसे आएगी। पहले मैंने सोचा, कभी तो वह साधारण आदमी भी एकाध दफे आएगा और कहेगा, असाधारण लोगों की समझ मे तो आ गई, मुझ साधारण की समझ में नहीं आती। अभी तक नहीं आया वह साधारण आदमी! वैसे जब भी आता, साधारण आदमी आता। वह कहता, हमारी समझ में तो आ गई, साधारण आदमियों की समझ में कैसे आएगी। अपने को छोड़कर बाकी को वह साधारण समझता है। बाकी भी यही समझते हैं। हर आदमी अपना मैजिक बैग लिये हुं, उसमें से चीजें निकालता रहता हुं। कोई उसकी मानता नही, लेकिन वह अपनी तो मानता ही है।

मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन अपनी पत्नी से कह रहा है कि तुझे मालूम है कि इस दुनिया में कितने महानपुरुष हैं? उसकी पत्नी ने कहा कि मुझे भी पक्का, भलीभांति मालूम है। तुम जितना सोचते हो, उससे एक

कम। मुल्ला ने कहा, बर्बाद कर दिया। एक ही तो हम सोचते हैं। फैसला हो गया। घटाने की कोई जरूरत नहीं, एक तो हम सोचते ही हैं। दो का सवाल कहाँ है। नसरुद्दीन की पत्नी भी जानती है कि वह महान् पुरुष कौन है, इसलिए उसने पहले एक घटा दिया और कहा कि तुम एक तो घटा ही दो। बाकी सख्या कोई भी हो, मैं राजी हो जाऊँगी।

हर आदमी अपने आसपास एक भ्रमजाल खड़ा करके जी रहा है। उस भ्रम-जाल मे वह न मालूम क्या-क्या निर्मित करता रहता है। वह सब माया है। वह सब झूठ है। वह है नही, वह सिर्फ दिखाई पडता है। और दिखाई भी उसको पडता है, जो देखने के लिए आतुर है। वह भी जरा संभलकर देखेगा तो दिखाई नही पड़ेगा, बैग खाली पाएगा। वहाँ कुछ भी नही है।

ऋषि कहता है कि हमारी माया, ममता, अहंकार सब उलटा चल रहे है। माया सबसे बड़ा घेरा है हमारे भ्रम का। उसके बाद जो सेकेण्ड, जो दूसरी परिधि है, घेरा है, वह है ममता और उसके भीतर जो सेन्ट्रल फोर्स (केंद्रीय शक्ति) है, वह है अहकार। वह जो केन्द्र पर शक्ति है, उसका ही यह सारा फैलाव है। जो माया को, ममता को, अहंकार को मरघट पर चिता के जैसा जला देता है, वही अनाहत अगी है। यह शब्द बहुत अद्भुत है, 'अनाहत अंगी'। इसका अर्थ है, पूर्ण व्यक्तित्व। अनाहत, जिसका एक भी अग आहत नही हुआ, जो पूर्ण है, 'द होल'।

अँग्रेजी मे शब्द है 'होली'। 'होली' बनता है 'होल' से। पवित्र वही है, जो पूर्ण है। पावन वही है, जो पूर्ण है, जिसका कोई भी अंग आहत नही, खण्डित नही। लेकिन आदमी अजीब-अजीब काम कर लेता है। ऐसी कौमें हैं जमीन पर कि वह शरीर के किसी अंग का आपरेशन नही करवाती। क्योंकि अगर आहत होकर मरे, तो खण्डित होकर मरे। अगर कभी मौके-बेमौके ऐक्सीडेंट हो जाए, हाथ टूट जाए, कुछ हो जाए, तो उसको सँभालकर रख दें। इसलिए जब आदमी मर जाता है, तो उसके हाथ वगैरह को जोड़कर अनाहत अगी करके, पूरे अग करके उसको दफना देते हैं। यह मतलब नहीं है। लँगड़ा भी अनाहत अंगी हो सकता है, अधा भी अनाहत अंगी हो सकता है। शरीर बिलकुल न रहे, तो भी अनाहत अगी हो सकता है। अनाहत

अंगी होने का मतलब इस शरीर के अंगों से नही। अनाहृत अंगी होने का अर्थ है भीतर जो अखण्ड है, एक है, बिना टूटा-फूटा है, जिसके भीतर कोई खण्ड नही, विभाजन नहीं, द्वैत नही जिसके भीतर, जिसे पूर्ण का अनुभव होता है, जिसे फुलफिलमेंट का अनुभव होता है, जिसे लगता है सब पा लिया, अब कुछ पाने को नही। अगर परमात्मा भी सामने आकर पूछे कि कुछ और चाहिए, तो ऐसा अनाहृत अंगी जो है वह चुपचाप रह जायेगा। वह कहेगा कि जो है, वह पूर्ण से ज्यादा है। अब और क्या हो सकता है। अब कुछ भी नही चाहिए।

अनाहृत अंगी का यह भी अर्थ है कि जो इंटीग्रेटेड है, समग्र है। जिसके भीतर भीड़ नही, जिस पर भरोसा किया जा सकता है। हम तो एक भीड़ हैं। अगर आप क्रोधित हैं, तो समझदार आदमी को इससे कोई चिन्ता नही पैदा होती, क्योंकि यह आपका पूरा हिस्सा नही, सिर्फ एक अंग है। दूसरा अंग है, उसको जरा फुसलाया जाय, आपका क्रोध चला जाएगा। वह दूसरा अंग निकल आएगा सामने। आप कितने ही नाराज हैं, आप कितने ही दुखी हैं, पीड़ित हैं, सब बदला जा सकता है, क्योंकि आपके दूसरे हिस्से भीतर पड़े हैं, उन्हें जरा ऊपर लाने की जरूरत है।

इन्टीग्रेटेड का अर्थ है समग्र, जो एक ही है अपने भीतर। उसके वचन का वही अर्थ है, जो है। उसे बदला नही जा सकता। लेकिन आपको तो आपके छोटे-मोटे बच्चे बदल लेते हैं। छोटा बच्चा कहता है, खिलौना चाहिए डैडी। आप भारी अकड़ दिखलाते हैं कि नहीं, कल ही लिवाया था। वह बच्चा जानता है कि आप मे कितनी अकड़ है और कितनी दूर तक आपकी अकड़ चलेगी। वह वही खडा है। वह कहता है, चाहिए। अब की दफा आप जरा डर कर देखते है। फिर भी रोब दिखाने की कोशिश करते हैं कि देखो, मैने तुमसे कहा कि नहीं, अभी सभव नही है। वह वही खड़ा है। वह जानता है कि तुम्हारी कितनी ताकत है। थोड़ी देर में तुम्हारे दूसरे हिस्से को फुसला लेगा। तीसरी बार आप 'हां' भर देते हैं। एक दफे आपने यह कर दिया कि बच्चा सदा के लिए पहचान गया कि आप एक आदमी नहीं हैं, आपकी बात का कोई पक्का भरोसा नहीं है। आपको बदला जा सकता है। जरा जोर से पैर पटको, शोरगुल करो और आपको रास्ते पर लाया जा सकता है। छोटे-छोटे बच्चे भी डिक्टेटोरियन ट्रिक (तानाशाही चालाकियां)

सीख लेते हैं। उससे वे आपको चलाते रहते हैं। आप समझते हैं कि आप अपने छोटे बच्चे को चला रहे हैं। बड़ी भूल में हैं। छोटे बच्चे भलीभांति जानते हैं कि आपकी कमजोरियाँ क्या हैं। कहाँ से आपको परेशान किया जा सकता है। छोटे-छोटे बच्चे तक अपने डैडी से कहते हैं कि मम्मी से कह देंगे।

नसरुद्दीन का बेटा नसरुद्दीन से पूछ रहा था, आप शेर से डरते हैं? नसरुद्दीन ने कहा, बिलकुल नहीं। हाथी से डरते हैं? नसरुद्दीन ने कहा? कैसी बातें कर रहा है, हाथी से मैं डरूँगा? हाथी मुझसे डरते हैं। साँप से डरते हैं? नसरुद्दीन ने कहा, उठाकर फेंक देता हूँ साँप को। पहाड़ से डरते हैं, समुद्र से डरते हैं? नसरुद्दीन ने कहा, किसी से डरता नहीं बेटा। तो उसके बेटे ने कहा, तो क्या मम्मी को छोड़कर आप किसी से भी नहीं डरते? किसी से नहीं! न शेर से, न हाथी से, न साँप से, न पहाड़ से?

आपके भीतर हिस्से हैं बहुत, डिसइंटीग्रेटेड, अलग-अलग। एक हिस्सा बहादुर का है, एक हिस्सा कायर का है। जब तक बहादुर का हिस्सा ऊपर है, तब तक आप और बातें कर रहे हैं। जब बहादुर का हिस्सा थक जाएगा और कायर का ऊपर आएगा, आप बिलकुल दूसरे आदमी सिद्ध होंगे।

अनाहत अंगी का अर्थ है, जिसके भीतर कोई खण्ड नहीं, जो एक रस, एक जैसा ही है। ऋषि कहते हैं, लेकिन ऐसा अनाहत अंगी तभी कोई हो पाता है जब अहंकार, माया और ममता को भस्मीभूत कर डालता है। लेकिन मरघट में नहीं जलती वह आग, जिसमें माया और ममता और अहंकार को भस्म किया जा सके। वह आग मन्दिर में जलती है। वह आग प्रार्थना से जलती है, ध्यान से जलती है, पूजा से जलती है।

अब हम उस आग को ध्यान से जलाने में लगें।

●

चौदहवां प्रवचन

साधना-शिविर, माऊन्ट आबू, प्रातः, दिनांक १ अक्टूबर, १९७१

भ्रांति भंजन, कामादि वृत्ति दहन, अनाहत मंत्र और अक्रिया में प्रतिष्ठा

निस्त्रैगुण्य स्वरूपानुसंधानम् समयम् भ्रांति हरणम् ।

कामादि वृत्ति दहनम् ।

काठिन्य दृढ़ कौपीनम् ।

चिराजिनवास: ।

अनाहत मंत्र अक्रिययैव जुष्टम् ।

स्वेच्छाचार स्वस्वभावो मोक्ष: ।

इति स्मृते: ।

परब्रह्म प्लव वदाचरणम् ।

"त्रयगुण रहित स्वरूप के अनुसंधान में तथा भ्रांति के भंजन में समय व्यतीत करना,

काम-वासना आदि वृत्तियों का दहन करना,

सभी कठिनाइयों में दृढ़ता ही उनका कौपीन है ।

सदैव संघर्षों में जिनका वास है ।

अनाहत जिनका मंत्र और अक्रिया जिनकी प्रतिष्ठा है ।

ऐसा स्वेच्छाचार रूप आत्मस्वभाव रखना यही मोक्ष है ।

और यही स्मृति का अन्त है ।

पर-ब्रह्म में बहना जिनका आचरण है ।"

संन्यासी करता क्या है ? गृहस्थ तो संसार बसाता है। निर्माण करता है स्वप्नों का। आरोपण करता है विचारों का, माया का, मोह का, ममता का। सन्यासी क्या करता है ? गृहस्थ को तो ऐसा दिखाई पड़ता है कि संन्यासी कुछ भी नहीं करता, भगोड़ा है, एस्केपिस्ट है, क्योंकि जो-जो गृहस्थ करता है, वह सन्यासी नहीं करता है। लेकिन सन्यासी भी कुछ करता है। इस सूत्र में ऋषि कहता है, त्रयगुणों से रहित स्वरूप के अनुसंधान मे तथा भ्रांति के भंजन में समय व्यतीत करता है। गृहस्थ से ठीक उलटी यात्रा है संन्यासी की। गृहस्थ, तीन गुणों का जो फैलाव है, उसमे ही डूबा रहता है। कभी रज में, कभी तम मे, कभी सत्व मे। कभी अच्छे मे, कभी बुरे में, कभी आलस्य मे। संन्यासी उन तीनो के पार चौथे में चलने की चेष्टा में संलग्न होता है।

यहाँ एक बात समझ लेनी जरूरी है। सत्व, शुभ जिसे हम कहते हैं, संन्यासी उसके भी पार चलने मे लगा रहता है। अशुभ जिसे हम कहते हैं, उसके पार तो वह जाता ही है, लेकिन जिसे हम शुभ कहते हैं, संन्यासी उसके भी पार जाने में लगा रहता है। यह थोड़ा समझना कठिन मालूम पड़ेगा। यह तो ठीक है कि अशुभ के हम पार जाएँ, यह तो ठीक है कि बुराई का त्याग हो, लेकिन संन्यासी भलाई का भी त्याग करता है। क्योंकि ऋषि की दृष्टि यह है कि जब तक भला भी न छूट जाए, तब तक बुरा पूरी तरह नहीं छूटता, क्योंकि

बुरा और भला एक ही चीज के दो पहलू हैं। ऋषि की यह दृष्टि है कि अगर भले आदमी को यह भी याद रह जाए कि मैं भला आदमी हूँ, तो उसके भीतर बुराई दबी रह जाती है। वस्तुतः भला आदमी वह है, जिसे यह भी पता नहीं रहता कि मैं भला आदमी हूँ। भलाई भी छूट जाती है। भलाई छूट जाती है, इसका यह अर्थ नहीं है कि वह भला करना बन्द कर देता है। भलाई छूट जाती है, इसका अर्थ यह है कि भलाई वह अपनी तरफ से नहीं करता, उससे जो भी होता है, वह भला है। सत्व के भी पार चला जाना संन्यास है।

यह बहुत मौलिक क्रांति की बात है। जगत् में बहुत तरह के विचार पैदा हुए, लेकिन सत्व के पार ले जाने वाला विचार सिर्फ इस भूमि पर पैदा हुआ। जगत् में जो भी विचार पैदा हुए हैं, वे सब सत्व तक ले जाने की आकांक्षा रखते हैं। आदमी अच्छा हो जाए, यह अन्त नहीं है। आदमी अच्छे के भी पार हो जाए, यही अन्त है। क्योंकि इस बात की स्मृति भी कि मैं अच्छा हूँ, अच्छा हूँ, अच्छा कर रहा हूँ, अस्मिता है, अहंकार है, इगो है। और ध्यान रहे, जहर कितना ही शुद्ध हो जाए; इससे जहर नहीं रह जाता, ऐसा समझने की कोई भी जरूरत नहीं है। सच तो उलटा है कि शुद्ध होकर जहर और जहरीला हो जाता है।

बुरे आदमी का भी अहंकार होता है, अशुद्ध होता है। बुरा आदमी अपने अहंकार से परेशान भी होता है, बुरा आदमी अपने अहंकार को बुरा भी समझता है। किन्हीं क्षणों में पश्चात्ताप भी करता है। किन्हीं क्षणों में उसके पार जाने की चेष्टा भी करता है। लेकिन भला आदमी अपने अहंकार को बुरा भी नहीं समझता। पश्चात्ताप का तो सवाल ही नहीं है। अहंकार उसका भला है। कृष्णमूर्ति एक शब्द का प्रयोग करते हैं। वह ठीक शब्द है, पायस इगोइस्ट, पवित्र अहंकारी। दोनों शब्द उलटे मालूम पड़ते हैं। पवित्र अहंकारी। अहंकारी पवित्र कैसे होगा? और जो पवित्र है वह अहंकारी कैसा होगा? लेकिन होता है। जिनको अच्छे होने की भ्रांति पैदा हो जाती है, वे पवित्र अहंकारी हैं।

लेकिन ध्यान रखें, अहंकार पवित्र होकर शुद्ध जहर हो जाता है—प्योर पॉयजन। बुरा आदमी तो थोड़ा-सा पीड़ा भी पाता है, उसे कांटे की तरह चुभता भी है कि मैं बुरा आदमी हूँ। इसलिए बुरा आदमी अपने अहंकार को

उसकी पूरी शुद्धता में खड़ा नहीं कर सकता। उसकी अकड़ में एक कमी रह ही जाती है, भीतर ही उसके कोई कहे चला जाता है, तुम बुरे आदमी हो। तो बुराई के आधार पर अहंकार का पूरा विस्तार नही हो सकता। आधार-शिला में ही कमी रह जाती है। लेकिन मैं भला आदमी हूँ, तब तो अहंकार के फैलाव की पूरी सुविधा और गुंजाइश है। तब अहंकार छतरी की तरह छा जाता है। बड़े सुदृढ़ आधार पर खड़ा होता है।

भले आदमी का जो अहंकार है, संन्यासी के लिए वह भी सार्थक नहीं है। लेकिन समाज इसका उपयोग करता है, क्योंकि समाज को पता है कि आदमी को अहंकार के पार ले जाना अति कठिन है। इसलिए समाज के पास एक ही उपाय है कि वह भलाई के लिए प्रेरित करने में आदमी के अहंकार का उपयोग करे। इसलिए हम आदमी से कहते हैं, ऐसा मत करो, लोग क्या कहेंगे। काम बुरा है, यह नही कहते। बाप अपने बेटे को समझाता है कि झूठ मत बोलो; पकड़ जाओगे, तो बड़ी बदनामी होगी। झूठ मत बोलना, लोग क्या कहेंगे। झूठ मत बोलना, चोरी मत करना। हमारे कुल में कभी किसी ने चोरी नहीं की। यह सब अहंकार को उकसाया जा रहा है। एक बीमारी को दबाने के लिए दूसरी बीमारी को उठाया जा रहा है। लेकिन समाज की अपनी कठिनाई है। समाज अब तक ऐसे सूत्र नहीं खोज पाया है कि आदमी में बिना अहंकार के भलाई का जन्म हो सके। इसलिए हम अहंकार का उपयोग करते हैं और अहंकार को भलाई के साथ जोड़ते हैं। इससे जो घटना घटती है, वह यह नही है कि अहंकार भलाई के साथ जुड़कर भला हो जाता हो। घटना यह घटती है कि अहंकार के साथ भलाई जुड़कर बुरी हो जाती है। जहर की एक खूबी है कि वह एक बूंद भी काफी है, सब जहरीला हो जाएगा।

हम अहंकार को भलाई से जोड़ देते हैं, क्योंकि हमें दिखता नहीं कि और कोई उपाय है। अगर किसी आदमी से मन्दिर बनवाना है, तो पत्थर पर उसका नाम खोदना ही पड़ेगा। कोई आदमी ऐसा मन्दिर बनाने को राजी नहीं है, जिस पर उसका नाम ही न लगे। वह कहेगा, फिर प्रयोजन ही क्या रहा। मन्दिर में किसी को रस नही है। वह जो मन्दिर के भीतर की प्रतिमा है, उसमें किसी को रस नहीं है, वह जो मन्दिर के बाहर पत्थर लगता है नाम का, उसमें रस है। ऐसा नहीं है कि मन्दिर बनाए जाते हैं और फिर पत्थर

जगाए जाते हैं। पत्थर के लिए मन्दिर बनाए जाते हैं। पत्थर पहले बन जाता है। मन्दिर बनवाना हो, तो वह पत्थर लगवाना पड़ता है। नहीं तो मन्दिर बन नहीं सकता।

मन्दिर भी हम बनाएँगे, तो अहंकार के लिए ही बनवाएँगे। लेकिन कठिनाई तो यह है कि जो मन्दिर अहंकार के लिए बनता है, वह मन्दिर नहीं रह जाता। इसलिए सारी दुनिया में मन्दिर और मस्जिद उपद्रव के कारण बने। क्योंकि जहाँ अहंकार है, वहाँ सिर्फ उपद्रव ही पैदा हो सकता है। होना उलटा चाहिए था कि मन्दिर और मस्जिद जगत् मे प्रेम की बरसा बन जाते, अमृत के द्वार खोलते, लेकिन उन्होंने बहुत जहर के द्वार खोले। नास्तिकों के ऊपर इतने पापों का जिम्मा नही है, जितना तथाकथित आस्तिकों के ऊपर है।

वोल्तेयर ने कहीं कहा है कि हे परमात्मा, अगर तू कही है, तो कम से कम मन्दिर और मस्जिद तो गिरवा दे। तेरे होने से हमें कोई अड़चन नही, लेकिन तेरे मन्दिर और मस्जिद बहुत दिक्कतें दे रहे हैं। यह बात ठीक ही है। भलाई मे अगर एक बूंद भी अहंकार का पड़ गया, तो भलाई बुराई हो जाती है। समाज जो तरकीब जानता है, वह यह है कि अगर आपको भला बनाना है तो आपके अहंकार को परसुएड करना (फुसलाना) पड़ता है। आपसे कहना पडता है कि कैसे महान् हैं आप, दिव्य हैं, तब आपके भीतर रस जनमता है। यह रस उसी अहंकार मे जनम रहा है। इसलिए मनोवैज्ञानिक एक बहुत अनूठी बात कहते हैं। वे कहते हैं कि जिनको हम अपराधी कहते हैं और जिनको हम तथाकथित अच्छे आदमी कहते हैं, सज्जन कहते हैं, इनमें बुनियादी फर्क नही होता। दोनो ही अटेंशन (ध्यान) चाहते हैं। समाज का ध्यान उन पर जाए, इसकी आकांक्षा में वे जीते हैं। एक आदमी भला होकर सड़क पर चलने लगता है, ताकि लोगों का ध्यान उस पर जाए। एक आदमी को कोई रास्ता नही दिखाई पड़ता भला होने का, तो वह बुरा हो जाता है।

अभी बेल्जियम में एक मुकदमा था। एक आदमी ने चार हत्याएँ की थीं। और चारो अजनबी थे, जिनकी हत्याएँ की थीं। उन्हें उसने हत्या करने के पहले कभी देखा भी नही था। समुद्र के किनारे लेटे हुए चार आदमियों की हत्या कर दी। अदालत में उसने कहा कि मैं अखबार में 'मेन हेडिंग्स' (शीर्ष स्थान) मे अपना नाम देखना चाहता था। मुझे कोई उपाय नहीं दिखता था। महात्मा होने में बहुत देर लगे और महात्मा होना पक्का भी

नहीं है, और कोई कितना बड़ा महात्मा हो जाय, सभी लोग उसे महात्मा कभी स्वीकार नहीं कर पाते। फिर महात्माओं को भी सूली लग जाती है इसलिए सुरक्षित मार्ग वह भी नहीं है। जब जीसस को सूली लग जाती है और सुकरात को जहर मिल जाता है, तो उसने कहा, वह भी कोई बहुत सुरक्षित रास्ता नहीं दिखता। समय ज्यादा लेता है। भारी कठिनाई झेलो। अक्सर ऐसा होता है कि जिन्दगी भर मेहनत करने पर भी मरकर ही आदमी महात्मा हो पाता है। क्योंकि जिन्दा आदमी को कोई महात्मा कहे, तो कहनेवाले के भी अहंकार को चोट लगती है, सुनने वाले के भी अहंकार को चोट लगती है। जब कोई मर जाए, तब मुर्दे को जो जी चाहे कहो, किसी को कोई अड़चन नहीं होती। नसरुद्दीन कहता था कि कब्रिस्तानों में देखकर मुझे ऐसा लगा कि नर्क में अब तक कोई भी आदमी नहीं गया होगा। क्योंकि कब्रों पर जो वचन लिखे हैं और प्रशस्तियाँ लिखी हैं, वे बताती हैं कि सभी लोग स्वर्ग गए होंगे। मरते ही आदमी भला हो जाता है। पैदा होते ही बुरा हो जाता है।

वोल्तेयर का एक जिन्दगी भर का शत्रु था। हर चीज में वोल्तेयर से उसका मतभेद था। वह मर गया। स्वभावतः उसके शत्रु के मित्रों ने वोल्तेयर के पास जाकर कहा कि तुम्हारे जिन्दगी भर के सम्बन्ध थे। कोई वक्तव्य तुम दोगे, तो अच्छा होगा। माना कि शत्रुता थी। वोल्तेयर ने एक पत्र लिखकर दिया, जिसमें उसने लिखा कि 'ही वाज ए ग्रेट मैन, ए वेरी रेयर जीनियस, बट प्रोवाइडेड ही इज रिअली डेड।' बहुत महापुरुष था वह, बड़ा प्रतिभाशाली था, लेकिन अगर मर गया हो तब। अगर जिन्दा हो, तो यह वक्तव्य मैं नहीं दे सकता हूँ।

मर जाए आदमी, तो फिर अच्छा हो जाता है, यही तो दुख है। दुनिया का कि मरा हुआ आदमी अच्छा होता है, और जिन्दा आदमी बुरा होता है। यह जो हम भलाई का जाल खड़ा किए हुए हैं, उसके भीतर हम अहंकार को ही पोषण करके खड़ा करते हैं। अगर बच्चे को शिक्षित करना है, तो उसे प्रथम लाना पड़ता है, गोल्ड मेडल देना पड़ता है। अगर शिक्षित करना है, तो उसके अहंकार को तृप्त करना पड़ता है, उसे विशेषता देनी पड़ती है, फिर उपद्रव होते हैं। लेकिन समाज इससे बेहतर कोई रास्ता नहीं खोज पाया है और यह बहुत बदतर रास्ता है।

ऋषि कहता है कि संन्यासी तो शुभ के भी पार चला जाता है। अशुभ के पार तो चला ही जाता है, शुभ के भी पार चला जाता है। अंग्रेजी में तीन शब्द हैं—एक शब्द है इम्मॉरल, अनैतिक। एक शब्द है मॉरल, नैतिक। एक शब्द है एमोरल या अति नैतिक। संन्यासी इम्मॉरल तो होता ही नहीं, मॉरल भी नहीं होता, एमोरल होता है। वह न तो नैतिक होता है, न अनैतिक होता है, वह नीति-मुक्त होता है। लेकिन इस तीसरी सीढ़ी तक पहुँचने के लिए अनीति को छोड़कर नीति में और नीति को छोड़कर अतिनीति मे प्रवेश करना होता है। इसलिए ऋषि इंच-इंच आगे बढ़ रहा है। पीछे की सब बातें खयाल रखेंगे, तभी तो ये सूत्र समझ में आएँगे, जो आगे आ रहे हैं, अन्यथा समझ मे नही आएँगे। ये सूत्र अलग-अलग नहीं है, पीछे की पूरी श्रृंखला से बँधे हुए हैं। तो ऋषि कहता है, वह दो काम में लगा रहता है, एक तो तीन गुणों के पार जाने की सतत चेष्टा करता रहता है। और दूसरा, भ्रांति के भजन मे समय लगाता है। ये दोनों एक ही प्रक्रिया के अंग हैं।

हम सब भ्रांति के सृजन मे जीवन व्यतीत करते हैं। नीत्से ने कहा है, मैन कैन नॉट लिव विदाउट इल्यूजन। जरूरी हैं भ्रातियाँ, उन्हीं के सहारे आदमी जीता है, नहीं तो नहीं जी सकता। नीत्से दूर तक ठीक कहता है। जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है, नीत्से सौ प्रतिशत ठीक कहता है कि आदमी बिना भ्रांतियों के नही जी सकता। हजार तरह की भ्रातियाँ उसके चारो तरफ चाहिए। उन्हीं के बीच वह जी सकता है। तो नीत्से ने कहा है—इल्यूजन्स आर नेसेसरी। भ्रम भी जरूरी हैं, और झूठ भी उपयोगी हैं। नीत्से ने बहुत बढ़िया बात कही है। उसने तो यह कहा है कि सत्य का कोई अर्थ ही नही है। जो असत्य काम पड़ जाए, वही सत्य है। पर असत्य काम पड़ते हैं, चौबीस घण्टे काम पड़ रहे हैं। थोड़ा-सा हम देख लें कि किस भाँति काम पड़ते हैं।

हमें कोई पता नहीं कि आत्मा अमर है, लेकिन जिन्दा रहना है, तो मन में यह खयाल लेकर चलना चाहिए कि आत्मा अमर है, नहीं तो जिन्दा रहना मुश्किल हो जाएगा। हमें कोई पता नहीं है कि प्रेम शाश्वत होता है, चारो तरफ देखें तो क्षणिक होता है। शाश्वत नहीं होता है, क्षण में बिखर जाता है। लेकिनअगर जिन्दा रहना है, तो मानकर चलना चाहिए कि प्रेम शाश्वत चीज है। कविताएँ बड़ी जरूरी हैं आदमी के आस-पास जीने के लिए। उनके सहारे वह अपने को भुलाये रखता है। कल होगा, इसका कोई निश्चय नहीं है।

लेकिन हम कल का इन्तजाम करके सोते हैं। नहीं तो रात सोना ही मुश्किल हो जाएगा। सवाल कल के इन्तजाम का इतना महत्त्वपूर्ण नही है, आज की रात सोने का सवाल है। कल का इन्तजाम कर लेते हैं, और कल होगा ही, ऐसी मान्यता मन मे रख लेते हैं तो रात नींद आसानी से आ जाती है। अगर यह पक्का हो जाए कि कल सुबह नही होगी, कल सुबह मौत है, तो कल सुबह मौत होगी कि नहीं होगी, यह बड़ा सवाल नहीं है, आज की नींद खराब हो जाएगी। फिर आज सोया नहीं जा सकता। सोना हो, तो कल का भ्रम बनाए रखना जरूरी है। अगर जिन्दगी के दुखों को गुजारना हो, तो भविष्य की आशा को जिलाए रखना जरूरी है कि कोई बात नही, सुख मिलेगा। अगर इस मकान में नही मिला, दूसरे मकान मे मिलेगा और इस व्यक्ति से नही मिला, दूसरे व्यक्ति से मिलेगा। आज नही मिला, कल मिलेगा। फ्यूचर ओरिएंटेशन, भविष्य की तरफ आशाओं को दौड़ाए रखना जरूरी है।

मनोवैज्ञानिक एक बहुत कीमती बात कहते हैं, जो बहुत नई खोज है एक अर्थ मे। पहले कभी किसी ने खयाल नही किया था। रात आप सपने देखते हैं, तो आप सोचते होंगे, सपनो से नींद मे बाधा पड़ती है। ऐसा सदा सोचा जाता रहा है। कई आदमी मेरे पास भी आते हैं। वे कहते हैं, रात मे बहुत सपने आते हैं, तो नींद ठीक नही हो पाती। सभी का यह खयाल है। लेकिन मनोवैज्ञानिक ज्यादा निष्कर्ष पर हैं। वे कहते हैं, अगर सपने न हों, तो आप सो ही न पाएं। वे बहुत उलटी बात कहते हैं। वे कहते हैं सपने जो है, वे नींद में बाधा नहीं हैं, सहयोगी हैं। नींद टूट ही जाए, अगर सपने न हो। नींद को सतत जारी रखने के लिए सपने काम करते हैं। समझ लें, तो खयाल मे आ जाएगा।

नींद में आपको प्यास लगी है जोर से। आप एक सपना देखना शुरू कर देंगे कि पानी पी रहे हैं। झरना बह रहा है, झरने के पास बैठे पानी पी रहे हैं। अगर यह सपना न आए, तो प्यास आपकी नींद तोड़ देगी। आपको उठकर पानी पीने जाना पड़ेगा। नींद में बाधा पड़ जाएगी। यह सपना जो है, एक इल्यूजन पैदा करता है। कहता है कहाँ जाने की जरूरत है, नींद टूटने का तो कोई सवाल ही नहीं। झरना कह रहा है, पीयो। भूख लगी है, राजमहल में निमंत्रण मिल जाता है। नहीं तो भूख नींद को तोड़ देगी। सपना सब्स्टीट्यूट है और नींद को सँभालने का उपाय है। ठीक

ऐसे ही जिन्दगी में भी भ्रांति जागरण को सँभालने का उपाय है। जिसे हम जागरण कहते हैं, उसके आस-पास भ्रांति चाहिए, नहीं तो हम मुश्किल में पड़ जाएँगे।

मुल्ला नसरुद्दीन एक स्त्री के प्रेम में पड़ गया है। वह सम्राट् की पत्नी है। मुल्ला उससे बिदा ले रहा है। रात चार बजे उसने उससे कहा, तुझसे सुन्दर स्त्री मैंने अपने जीवन में न देखी और न मैं सोच भी सकता हूँ कि तुझसे सुन्दर स्त्री हो सकती है। तू अनूठी है। परमात्मा की अद्भुत कृति है। स्त्री फूल गई, जैसा कि सभी स्त्रियाँ फूल जाती हैं। उस क्षण जमीन पर उसके पैर न रहे। लेकिन मुल्ला मुल्ला ही था। जब उसने उसे इतना फूला देखा, तो उसने कहा, लेकिन एक बात और, 'जस्ट फॉर योर इन्फार्मेशन' कि यह बात मैं और स्त्रियों से भी पहले कह चुका हूँ। मैं वायदा नहीं कर सकता कि आगे और स्त्रियों से नहीं कहूँगा। वह स्त्री जो एकदम आनन्द की मूर्ति हो गई थी, कुरूप हो गई। प्रेम एकदम सूखा हुआ मालूम पड़ा। सब नष्ट हो गया। सपने खंडहर होकर गिर गए। मुल्ला ने एक सत्य कह दिया। सभी प्रेमी यही कहते हैं, लेकिन जब कहते हैं, तब इतने भाव से कहते हैं कि वे भी भूल जाते हैं कि यह बात हम पहले भी कह चुके हैं।

मुल्ला एक स्त्री के प्रेम में है, लेकिन शादी को टालता चला जाता है। आखिर उस स्त्री ने कहा, अंतिम निर्णय हो जाना चाहिए। आज आखिरी बात। शादी करनी है या नहीं। अब टालना नहीं हो सकता। मुल्ला ने कहा, भ्रम जब बहुत ताजे थे, तभी शादी हो जाती, तो हो जाती। अब तो भ्रम बहुत बासी पड़ गए हैं। अब तो हम उस हालत में हैं कि अगर शादी हो गई होती, तो तलाक का इन्तजाम हो रहा होता। उस स्त्री ने कहा, दरवाजे से बाहर निकल जाओ। मुल्ला ने कहा, जाता हूँ, लेकिन मेरे प्रेम-पत्र लौटा दो। स्त्री ने कहा, क्या मतलब, क्या करोगे प्रेम-पत्रों का? मुल्ला ने कहा, फिर भी जरूरत पड़ेगी ही। दुबारा लिखने की झंझट कौन करे। और फिर मैंने यह एक 'प्रोफेसनल राइटर' से लिखवाए थे, पैसा खर्च किया था।

वही भ्रम बार-बार खड़ा करना पड़ता है। अन्यथा जीना मुश्किल है। एक कदम चलना मुश्किल है। इसलिए गृहस्थ हम उसे कहें, जो बिना भ्रम के नहीं जी सकता। अगर इसकी ठीक मनोवैज्ञानिक परिभाषा करनी हो, तो गृहस्थ वह है जो, "वन हू कैन नॉट लिव विदाउट इल्यूजन्स"—उसे भ्रमों के घर

बनाने ही पड़ेंगे, उसे कदम-कदम पर भ्रम की सीढ़ियाँ निर्मित करनी पड़ेंगी। संन्यासी वह है, जो बिना भ्रम के रहने के लिए तैयार हो गया। जो कहता है, सत्य के साथ ही रहेंगे, चाहे सत्य जार-जार कर दे, तोड़ दे, खण्ड-खण्ड कर दे, मिटा दे, नष्ट कर दे, लेकिन अब हम सत्य जैसा है, उसके साथ ही रहेंगे। अब हम भ्रम खड़े न करेंगे। इसलिए सन्यासी भ्रमों को तोड़ने में लगा रहता है, भ्रांतियों को तोड़ने में लगा रहता है। जहाँ-जहाँ उसे लगता है, भ्रांतियाँ खड़ी की जा रही हैं, वहाँ-वहाँ वह तोड़ता है। मन के प्रति सजग होता है कि मन कहाँ-कहाँ भ्रांतियाँ खड़ी करवाता है। देखता है अपने चारों तरफ कि मैं कोई सपने तो नहीं रच रहा हूँ जागने में या सोने में। मैं बिना सपने के जीऊँगा।

बिना सपने के जीने की बात बड़ा दुस्साहस है। यह साधारण साहस नहीं है, दुस्साहस है, क्योंकि इंच भर सरकना मुश्किल है बिना सपने के। बिना सपने के इंच भर भी सरकना मुश्किल है। एक कदम न उठेगा अगर सपने आपसे छीन लिये जाएँ। आप यहीं गिर जाएँगे। मिट्टी के ढेर हो जाएँगे। सन्यासी फिर भी चलता है, उठता है, बैठता है सारे भ्रम को तोड़कर। और जैसे ही भ्रमों को तोड़ देता है, वैसे ही उसकी सत्य में गति हो जाती है। टु नो द अनट्रू ऐज़ अनट्रू इज़ द ओनली वे टुवार्ड ट्रूथ। असत्य को असत्य की भ्रांति जान लेना सत्य की ओर एक मात्र मार्ग है। भ्रांति को भ्रांति की भांति पहचान लेना सत्य की अनुभूति का द्वार है। इसलिए प्राथमिक रूप से संन्यासी को भ्रांतियाँ तोड़नी पड़ती हैं।

संन्यासी के पास अगर कोई रहे, तो बड़ी मुश्किल में पड़ जाता है। संन्यासी तो मुश्किल में होता है अपने ढंग की, लेकिन उसकी मुश्किल तो ठीक है, उसके पास कोई रहे, तो बहुत मुश्किल में पड़ जाता है। क्योंकि संन्यासी भ्रम नहीं पोसना चाहता और जो भी उसके पास रहेगा, वह भ्रम पोसना चाहता है। अगर संन्यासी सत्य के ही साथ सीधा जीता है, तो जो भी उसके निकट है वह अड़चन में पड़ना शुरू हो जाता है। क्योंकि संन्यासी ऐसी बातें कहेगा, इस ढंग से जीएगा कि आप अपने भ्रमों को न पोस पावें। इसलिए एक बहुत दुर्घटना इस जमीन पर घटती रही है और वह यह है कि इस जमीन पर जिन लोगों ने भी सत्य की खोज की है, उनके आसपास के लोग कभी भी उनको प्रेम नहीं कर पाए और कभी उनको समझ भी नहीं पाए।

सुकरात की पत्नी तक सुकरात को भली भाँति नहीं समझ पाई, क्योंकि सुकरात कोई भ्रम में सहायता न देगा। सुकरात से उसकी पत्नी का कलह अनिवार्य हो गया, क्योंकि पत्नी चौबीस घण्टे भ्रमों की मांग करती और सुकरात कोई भ्रम नहीं दे सकता। पत्नी के मन में आकांक्षा होती थी कि कभी सुकरात कहे कि तुम सुन्दर हो। लेकिन सुकरात कहता कि सौंदर्य तो मन का भाव है। शरीर से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। शरीर से उसका कोई अर्थ नहीं है। अब पत्नी बड़ी मुश्किल में पड़ती। पत्नी चाहती थी कि सुकरात कभी कहे कि तुम्हारे बिना मैं न जी सकूँगा। सुकरात कहता था, सब सबके बिना जी सकते हैं। बल्कि अगर सुकरात से सच पूछो, तो वह कहेगा कि तुम्हारे बिना मैं ज्यादा आसानी से जी सकूँगा। लेकिन पत्नी के मन को तो बड़ी तकलीफ होगी, बड़ी पीड़ादायी हो जाएगी बात। बहुत कठिन हो जाएगा, क्योंकि उसके कोई सपने खड़े न हो पाएँगे और वह तोड़ने की तैयारी में नहीं होगी।

जब जीसस ने अपनी माँ को कहा कि कोई मेरी माँ नहीं, कोई मेरा पिता नहीं, तो हम समझ सकते हैं कि माँ को कैसी पीड़ा हुई होगी। बेटा चोर होता, बेईमान होता और कह देता तू मेरी माँ नहीं, तो माँ प्रसन्न भी हो सकती थी कि झंझट मिटी। बदनामी अपने सिर न आएगी। बेटा हो गया है पैगम्बर। हजारों लोग उसे भगवान् का बेटा मानने लगे हैं। माँ बहुत आतुरता से आई होगी। भीड़ के सामने जीसस कह देगा कि तू मेरी माँ है। जीसस ने कह दिया, कौन किसकी माँ! कौन किसका बेटा! किसी का कोई भी नहीं। तो हम समझ सकते हैं कि माँ को, माँ के भ्रम को कैसा धक्का लगा होगा।

जब बुद्ध ने अपने पिता को कहा, आप नहीं जानते कि मैं कौन हूँ, आप मुझे नहीं पहचानते। तो बुद्ध के पिता तो क्रोध से भर गए। उन्होंने कहा, मैं तुझे नहीं पहचानता? मैंने तुझे पैदा किया। ये तेरी हड्डियाँ, यह तेरा खून, यह तेरा मांस मेरा है। तेरी रगों में जो बह रही है ताकत, वह मेरी है। और मैं तुझे नहीं पहचानता? तू नहीं था, उसके पहले मैं था। बुद्ध ने कहा, वह सब ठीक है। वह खून भी आपका होगा, हड्डियाँ भी आपकी होंगी, वह शरीर भी आपका होगा, लेकिन मेरा उससे कुछ लेना-देना नहीं, मैं और ही हूँ। बुद्ध के बाप ने कहा, मुझ से पैदा हुआ है। बुद्ध ने कहा, वह भी ठीक है। लेकिन आप एक चौराहे की तरह थे, जिस पर से मैं आया। लेकिन मेरी

यात्रा आपके मिलने से बहुत पहले से चलती है। आप एक रास्ता थे, जस्ट ए पैसेज। जिससे मैं आया, वह ठीक है। लेकिन अगर दरवाजा यह कहने लगे कि चूंकि मैं उसमें से निकला, इसलिए वह मुझे जानता है, तो भ्रांति हो जाएगी। बाप तो आग-बबूला हो गया। उन्होंने कहा, तू मुझे सिखाता है? सभी बाप आग-बबूला हो जाएंगे कि तू मुझे सिखाता है। बुद्ध सत्य की बात कह रहे हैं, कठिनाई वहीं है और बाप अभी भ्रमों के बीच जीना चाहता है।

बुद्ध की पत्नी ने अपने बेटे को कहा कि राहुल, अपने बाप से वसीयत मांग ले। ये तेरे बाप खड़े हैं। गहन व्यंग्य था। बुद्ध के पास तो कुछ भी न था देने को। लेकिन पत्नी रोष में थी। यह आदमी छोड़कर भाग गया था। बेटे ने तो पहली बार बुद्ध को देखा था, क्योंकि बेटा तो पहले ही दिन का था, पैदा ही हुआ था, तब बुद्ध घर से निकल गए थे। बारह साल बाद लौटे हैं, तो राहुल को सामने खड़ा करके उनकी पत्नी ने कहा कि ये हैं तुम्हारे पिता। इन्होंने तुम्हें जन्म दिया। जन्म देकर भाग गए। अब मिले हैं, मौका मत चूकना। फिर भाग जाएंगे। इनसे ले लो वसीयत कि मेरे लिए क्या देते हो जगत् में? मुझे पैदा तो कर दिया है।

बुद्ध की पत्नी जो व्यंग्य कर रही है। वह भ्रमों की दुनिया का व्यंग्य है। लेकिन बुद्ध ने कहा कि मेरे निकट आ, बड़ी सम्पदा मेरे पास है, वह मैं तुझे देता हूं। और जो दिया, वह भिक्षा-पात्र था। उन्होंने आनन्द को कहा, आनन्द, संन्यास में दीक्षित करो राहुल को। पत्नी तो कँप गई। रोने लगी, लेकिन राहुल दीक्षित हो चुका था। बुद्ध ने कहा, जो मेरे पास श्रेष्ठ है, वही तो मैं दूंगा। जो संपदा है, वही मैं दूंगा। जिसको छोड़ गया था, वह विपदा थी। अब मैं संपदा लेकर आया हूं। वही मैं देता हूं। बुद्ध के बाप रोने लगे और उन्होंने कहा, तू बर्बाद करके रहेगा, अकेला तू मेरा बेटा था। तेरे जाने से भारी उपद्रव हुआ। अब तेरा बेटा ही सारे साम्राज्य का मालिक है। इसको भी तू संन्यासी बना रहा है। बुद्ध ने कहा, आप भी राजी हो जाएं, क्योंकि यह साम्राज्य पाकर आपको क्या मिला? मुझे छोड़कर क्या खो गया? और यह मेरा बेटा भी इसी चक्की में पिसता रहे, तो क्या मिल जाएगा? मैं इसे सम्पदा देता हूं। लेकिन सबको लगा कि बुद्ध भारी अन्याय कर रहे हैं। सारे गांव में दुख की लहर फैल गई कि बारह साल के लड़के को दीक्षा दे दी। हद अन्याय है। लेकिन बुद्ध जहां जीते हैं, वहां भ्रमों का जगत् नहीं है। संन्यासी

चौबीस घण्टे भ्रम को तोड़ने में लगा रहता है, और भ्रम टूटते हैं, तभी तीनों गुणों के पार यात्रा शुरू होती है।

काम वासना आदि वृत्तियों का दहन करना—कामादि वृत्ति दहनम्। यह दहन शब्द बहुत अद्भुत है। दमन नहीं, दहन। दबाना नहीं, जला डालना, राख कर देना। जैसे एक बीज है, बीज को दबाने से बीज नष्ट नहीं होता, आपको पता है? दबाने से ही अंकुरित होता है। न दबाओ, तो बीज ही रह जाए। दबा दो जमीन में, अंकुर बन जाए। और जब बीज अंकुरित होता है, तो एक बीज से हजार लाख बीज पैदा हो सकते हैं। जब तक बीज बीज रहता है, एक बीज है। जब अंकुरित होता है, तो लाख हो सकते हैं। बीज को दबाने की भूल मत करना, नहीं तो एक बीज के लाख बीज हो जाएँगे। संन्यासी दबाने में नहीं लगता, 'नॉट इन सप्रेशन।' फ्रायड ने तो अभी इस सदी में आकर कहा कि सप्रेशन, दमन जो है, वह रोग है। ऋषि सदा से कहते रहे हैं कि दमन रोग है। दमन से कुछ होगा नहीं, दबाकर क्या होगा? जिसे मैं दबाऊँगा, वह मेरे भीतर घुस जाएगा, और गहरे में उतर जाएगा और अचेतन में जकड़ जाएगा। जिसे मैं दबाऊँगा, वह मेरी गरदन को और जोर से पकड़ लेगा।

मुल्ला नसरुद्दीन के घर कोई मेहमान भोजन करने को आने को है। मेहमान बड़ा आदमी है। राजनीतिज्ञ है, नेता है। भूतपूर्व मन्त्री है। एक और खूबी है कि उसकी नाक इतनी बड़ी है कि उसका मुँह दिखाई नहीं पड़ता, दब जाता है। पत्नी ने मुल्ला से कहा कि देखो, एक बात का ध्यान रखना। जो अतिथि आ रहे हैं, उनकी नाक की चर्चा मत चलाना। बात ही मत उठाना। कसम खा लो, नहीं तो कोई गड़बड़ कर दोगे। मुल्ला ने कहा, क्यों उठाएँगे। अपने को दबाकर रखेंगे। संयम रखेंगे। पहली बात तो बोलेंगे नहीं। लेकिन नाक इतनी बड़ी थी कि मुल्ला बड़ी मुश्किल में पड़ गया। देखो तो नाक दिखाई पड़े, आँख बन्द करे तो नाक दिखाई पड़े। मुँह तो दिखता ही नहीं था, नाक बहुत बड़ी थी। उनकी तरफ देखे, तो नाक दिखाई पड़े, उनकी तरफ मुँह करे, तो नाक दिखाई पड़े। बहुत परेशानी हो गई। तो दबाता रहा, दबाता रहा, दबाता रहा।

अतिथि ने आखिर पूछा, नसरुद्दीन, बोलते बिलकुल नहीं हो? नसरुद्दीन ने कहा, नहीं बोलूँ, उसी में सार है। नहीं, ऐसी क्या बात है? पत्नी भी

बड़ी हैरान थी कि बहुत संयम रखा। भोजन भी पूरा होने के ही करीब था। पत्नी ने कहा, ऐसी कोई बात नही है। इशारा किया हाथ से कि थोड़ा बहुत बोल सकते हो। नसरुद्दीन ने भी सोचा, क्या बोलूं। थोड़ी सी मिठाई उठाकर मेहमान को देने लगा। मेहमान ने कहा कि नहीं। नसरुद्दीन ने कहा कि नाक में डाल दूं, क्योंकि मुँह तो दिखाई नही पडता। बस भूल हो गई। वह नाक ही नाक तो भीतर चल रही थी। मुँह तो दिखाई पड़ता नहीं, नाक ही दिखाई पडती थी। लगता था कि सज्जन नाक से ही भोजन कर रहे हैं। जो भी हम दबाते हैं, वह जाता नहीं। दमन से इस जगत् में कोई चीज कभी नही जाती, सिर्फ इकट्ठी होती है, फूटती है और विस्फोट होती है।

ऋषि कहते हैं, 'कामादि वृत्ति दहनम्।' जैसे बीज कोई जला दे, तो फिर वह कभी अंकुरित न हो सकेगा। दबा दे, तो अंकुरित होगा। जला दे, दग्ध कर दे, तो फिर कभी अंकुरित न हो सकेगा। संन्यासी अपनी काम की वृत्ति के दहन में लगे रहते हैं, जलाने में लगे रहते हैं। किस आग में जलेगी काम की वृत्ति? समझना पड़ेगा। काम की वृत्ति किस पानी से पल्लवित होती है? ठीक उसके विपरीत करने से जल जाएगी।

कभी आपने खयाल किया कि जब काम-वासना मन को पकड़ती है, तो चित्त बिलकुल मूच्छित हो जाता है, बेहोश हो जाता है। ऐसा पकड़ लेता है भीतर से जैसे कि नशे में हो गए। वैज्ञानिक कहते हैं, शरीर-शास्त्री कहते हैं कि शरीर के पास भीतरी ग्रन्थियाँ हैं, जिनके पास विषाक्त द्रव्य हैं, जहरीले द्रव्य हैं और अब नवीनतम खोजें कहती हैं कि शरीर के पास ऐसी ग्रन्थियाँ भी हैं, जिनमें सम्मोहन पैदा करने वाले रस, ड्रग्स हैं। कोई स्त्री जब आपको सुन्दर दिखाई पड़ती है या कोई पुरुष सुन्दर दिखाई पड़ता है, तब आपके शरीर में नए रासायनिक द्रव छूटने शुरू हो जाते हैं, जो हेल्यूसिनेशन पैदा कर देते हैं, जो सौन्दर्य का भ्रम पैदा कर देते हैं। और जब आप काम-वासना से भरे होते हैं, तब होश में नहीं होते, आप करीब-करीब बेहोश होते हैं, नशे में होते हैं। नशे में कुछ भी हो सकता है। होश आते ही पछताते हैं। ऐसा आदमी खोजना मुश्किल है, जो अपनी वासना-पूर्ति के बाद पछताता न हो। पश्चाताप करता है, रोता है, सोचता है क्या किया। क्या नासमझी है, लेकिन फिर थोड़े ही घण्टे बीते

हैं कि वासना पकड़ लेती है, फिर रस बन गए। फिर शरीर में हेल्यूसिनेशन के द्रव्य इकट्ठे हो गए। अब वे फिर भ्रम पैदा करवा देंगे। फिर वही मूर्च्छा, फिर वही मूर्च्छा।

मूर्च्छा काम-वासना के लिए पानी का काम करती है। इसलिए कामातुर जो व्यक्ति है, वह बहुत जल्दी शराब की तलाश मे निकल जाता है। अगर ऋषियों ने शराब और नशे का विरोध किया है, तो इसलिए नही कि शराब अपने आप में कुछ बुरी है। बल्कि इसलिए कि वह उस आदमी की तलाश है, जो अपनी काम-वासना को सींचना चाहता है। जिन लोगों की काम-वासना शिथिल हो गई होती है, शरीर शिथिल हो गया होता है, वे लोग शराब पी-पी कर अपनी वासना को सजग करने की चेष्टा में लगे रहते हैं।

मूर्च्छा, बेहोशी, तन्द्रा, काम-वासना के लिए जल का काम करती हैं, उसे सींचती हैं; और होश, जागरण, विवेक, ध्यान काम-वासना को वध करने का काम करता है। जिस क्षण आप पूरे होश मे होते हैं, उस क्षण काम-वासना भीतर नहीं रह सकती है। जिस दिन भीतर होश की पूरी अग्नि जलती है, उस दिन काम-वासना जल जाती है। इसे थोड़ा और तरफ से देखना जरूरी है। पशुओ के जगत् मे बहुत-से राज छिपे हैं और आदमी अपने को समझना चाहे, तो पशुओं को समझना जरूरी है, क्योंकि आदमी के भीतर बहुत कुछ हिस्सा पशुओ का है।

अफ्रीका में एक मकोड़ा होता है। जब भी नर मकोड़ा मादा मकोड़े के साथ संभोग में जाता है और संभोग शुरू करता है, उधर मादा उस मकोड़े के शरीर को खाना शुरू कर देती है। एक ही संभोग कर पाता है वह मकोड़ा, क्योंकि वह संभोग करता रहता है और मादा उसके शरीर को खाती चली जाती है। वैज्ञानिक जब उसके अध्ययन में थे, तब बड़े हैरान हुए कि क्या उस मकोड़े को यह भी पता नही चलता कि मैं मारा जा रहा हूँ, खाया जा रहा हूँ, नष्ट किया जा रहा हूँ। मकोड़ा संभोग के बाद मुर्दा ही गिरता है। उसकी लाश को मादा खा जाती है। बस एक ही संभोग कर पाता है। दूसरे मकोड़े यह देखते रहते हैं, लेकिन जब उनकी संभोग की वृत्ति जगती है तब वे भूल जाते हैं कि मौत में उतर रहे हैं। शरीर-शास्त्रियों ने उस मकोड़े का बहुत अध्ययन करके पता लगाया कि उसके शरीर में बड़ी गहरी विषाक्तता है। जब काम-वासना उसको पकड़ती है, तो उसे इतना भी होश नहीं रह जाता

कि मैं काटा जा रहा हूँ, मारा जा रहा हूँ, खाया जा रहा हूँ। यह भी भूल जाता है। आश्चर्यजनक है। लेकिन अगर हम अपने को भी समझें, तो आश्चर्य-जनक नही मालूम होगा।

वह कीड़ा है, इससे क्या फर्क पड़ता है? इससे कोई फर्क नहीं पडता। वही स्थिति मनुष्य की भी है। वह जानता है, भलीभांति पहचानता है। फिर वासना पकड़ लेती है, फिर वासना पकड़ लेती है। वासना के बाद अनुभव भी होता है कि व्यर्थ है। कोई अर्थ नहीं। लेकिन उस व्यर्थता के बोध का कोई लाभ नही होने वाला है, क्योंकि जब तक बेहोशी न टूटे, वह फिर आ जाएगा; जिसको व्यर्थ कहा, वह फिर सार्थक हो जाएगा। इसलिए ऋषि यह नहीं कहते कि उसे दबाओ। वे कहते हैं, इतना जागो, होश की इतनी अग्नि पैदा करो, द फायर आफ अवेकनिंग कि उसमें सब राख हो जाए। और जब काम-वासना राख हो जाती है, तो और शेष वासनाएं अपने आप राख हो जाती हैं। यह कोई फ्रायड की नई खोज नहीं है कि काम-वासना सभी वासनाओं का केन्द्र है। यह तो ऋषि सदा से जानते रहे हैं। जिन्होंने भी खोज की है मनुष्य के अन्तरात्मा मे, वे सदा से जानते रहे हैं कि बाकी सारी वासनाएँ काम-वासना से ही पैदा होती हैं।

मुल्ला नसरुद्दीन मर कर स्वर्ग के द्वार पर पहुँचा। सेंट पीटर ने, जो कि स्वर्ग के द्वारपाल हैं, मुल्ला नसरुद्दीन से पूछा कि जमीन पर काफी देर रहे। (क्योंकि वह एक सौ दस वर्ष का होकर मरा) कभी चोरी की, बेईमानी की? नसरुद्दीन ने कहा, कभी नही। पूछा, कभी शराब पी, नशा किया? नसरुद्दीन ने कहा, इन बातों से सदा दूर रहे।' फिर पूछा, स्त्रियों के पीछे भागते रहे? नसरुद्दीन ने कहा, कैसी बातें करते हैं आप! तो सेंट पीटर ने कहा, "देन व्हाट यू वेयर डूइंग देअर फॉर सच ए लौंग टाइम?" एक सौ दस वर्ष तक तुम वहाँ कर क्या रहे थे जमीन पर? इतना लम्बा वक्त! अगर स्त्रियों के पीछे नहीं दौड़ रहे थे, तो गुजारा कैसे?

वह ठीक है बात। जिसको हम जिन्दगी कहते हैं, वह ऐसी ही दौड़ है। स्त्री पुरुष के पीछे, पुरुष स्त्री के पीछे; और यह कोई आदमी ही कर रहा है, ऐसा नहीं; वृक्ष, पौधे, पशु, पक्षी सभी वही कर रहे हैं। लेकिन हाँ, आदमी होश से भर सकता है। यह उसके लिए एक अवसर है। इसलिए पशुओं को

हम दोषी नहीं ठहरा सकते कि वे कामुक हैं। कामुकता के पार जाने का उनके पास फिलहाल कोई उपाय नहीं है। जिस जगह उनकी चेतना है, उस जगह से कोई रास्ता काम-वासना से पार जाने के लिए नहीं निकलता। लेकिन आदमी को दोषी ठहराया जा सकता है, आदमी दोषी है, क्योंकि वह पार जा सकता है। और जब तक पार न जाए, तब तक कोई तृप्ति, कोई संतोष, कोई आनन्द उसे उपलब्ध होने को नहीं है। ऋषि कहते हैं, संन्यासी क्या करते रहते हैं— कामादि वृत्ति दहनम्। जलाते रहते हैं, दग्ध करते हैं काम की वृत्ति को। क्योंकि काम की वृत्ति ही संसार के फैलाव का मूल स्रोत है।

सभी कठिनाइयों में दृढ़ता ही उनका कौपीन है। एक ही उनकी सुरक्षा है, एक ही उनका वस्त्र है —सभी कठिनाइयों में दृढ़ता। कठिनाइयां होंगी ही, बढ़ ही जाएंगी। गृहस्थ तो और तरह से इन्तजाम कर लेता है। तिजोरी है, बैंक बैलेंस है, मकान है, मित्र हैं, प्रियजन हैं, सगे-सम्बन्धी हैं। बहुत इन्तजाम कर लेता है। संन्यासी के पास तो कोई भी नहीं है, कुछ भी नहीं है। अपनी आंतरिक दृढ़ता के अतिरिक्त उसके पास और कोई उपाय नहीं है। जब कठिनाइयां आती हैं, तो गृहस्थ कठिनाइयों से लड़ने के लिए बाहर इन्तजाम कर लेता है। संन्यासी के पास तो सिर्फ भीतरी ऊर्जा और शक्ति है। जब कठिनाइयां आती हैं, तब वह भीतर से ही अपनी ऊर्जा को दृढ करके कठिनाइयों से लड़ सकता है, और तो कोई उपाय नहीं। संन्यासी अकेला है। पर एक मजे की बात है कि जितना आप भीतर की शक्ति का उपयोग करते हैं कठिनाइयों में. उतना ही क्रमशः दृढ़ होते चले जाते हैं। और एक दिन ऐसा आ जाता है कि कठिनाइयां कठिनाइयां नहीं मालूम पड़तीं, बड़ी सरलताएं, बड़ी सुगमताएं हो जाती हैं, क्योंकि वह तो तुलनात्मक है। जब आप भीतर चट्टान की तरह दृढ़ हो जाते हैं, तो बाहर की कठिनाइयों का कोई मूल्य नहीं रह जाता। इसलिए एक बड़े मजे की घटना घटती है।

गृहस्थ तो बहुत इन्तजाम करता है बाहर कठिनाइयों से लड़ने का, लेकिन कठिनाइयां बढ़ती चली जाती हैं, क्योंकि भीतर गृहस्थ दुर्बल होता चला जाता है। उसका रेजिस्टेंस (प्रतिरोध शक्ति) कम होता चला जाता है। अगर आप धूप में बिलकुल नहीं बैठते, छाया में ही बैठते हैं, तो थोड़ी-सी धूप भी तकलीफ दे देगी, क्योंकि रेजिस्टेंस कम हो गई है, आपकी प्रतिरोधक शक्ति कम हो गई है। लेकिन एक दूसरा आदमी गड्ढे

खोद रहा है धूप में, छाया में रहने का उसे कोई अवसर ही नहीं मिलता। वह घण्टों, दिन भर धूप में गड्ढे खोद रहा है और धूप उसका कुछ नहीं बिगाड़ पाती है। कारण क्या हैं? उसके पास प्रतिरोधक शक्ति, रेजिस्टेंस, इनर फोर्स खड़ी हो जाती है। इसलिए आदमी को जितनी दवाएँ मिलती जाती हैं, उतनी बीमारियाँ बढ़ती चली जाती हैं। रेजिस्टेंस उसका टूटता चला जाता है। आदमी को जितनी सुविधाएँ मिलती जाती हैं, उतनी असुविधाएँ मिलती चली जाती हैं। आदमी जितना इन्तजाम कर लेता है, उतना ही पाता है कि मुश्किल में पड़ गया है। क्योंकि सब इन्तजाम बाहर होता है और भीतर से जो इन्तजाम हो सकता था, उसका इन्तजाम टूट जाता है। जब उसकी जरूरत ही नहीं रह जाती, बात समाप्त हो जाती है।

एक सूफी फकीर बायजीद नग्न घूम रहा था रेगिस्तान में। कुछ राहगीरों ने उसे देखा और उन्होंने कहा कि जलती धूप में, आग पड़ते रेगिस्तान में तुम नग्न घूम रहे हो? फिर रात रेगिस्तान बर्फीला हो जाता है, ठंडा, तब भी तुम नग्न ही पड़े रहते हो। बात क्या है, राज क्या है? तो बायजीद ने कहा कि अपने चेहरे से पूछो। तुम्हारे चेहरे पर भी वही चमड़ी है, जो तुम्हारे हाथ में, तुम्हारे पैर में, तुम्हारी छाती में है। लेकिन चेहरा धूप में भी परेशान नहीं होता, सर्दी में परेशान नहीं होता। उसका कुल कारण इतना है कि चेहरा सदा से खुला है, उसका रेजिस्टेंस ज्यादा है। बाकी सारा शरीर ढँका है, उसका रेजिस्टेंस कम है। बायजीद ने कहा, हमने पूरे शरीर को ही चेहरे की तरह कर लिया, तब से धूप और सर्दी का पता नहीं चलता। संन्यासी के पास जब बाहर कोई इन्तजाम नहीं, भीतर इन्तजाम है।

इस दिशा में एक बात और समझ लेनी जरूरी है जो कि पूरब और पश्चिम का बुनियादी फर्क है। पश्चिम ने सब इन्तजाम बाहर किए, इसलिए भीतर पश्चिम बिलकुल दुर्बल और इम्पोटेंट हो गया, बिलकुल नपुंसक हो गया। इन्तजाम उन्होंने बहुत बढ़िया बाहर कर लिये। रेगिस्तान में भी हो तो भी शीतल इन्तजाम हो सकता है। बीमारी हो, तो तत्काल दवाएँ पहुँचा-कर बीमारी से लड़ा जा सकता है। अगर एक तरह के जीवाणु ने शरीर को पकड़ लिया हैं, तो उससे विपरीत जर्म फौरन शरीर में डालकर उसको मिटाया जा सकता है। पश्चिम ने सब इन्तजाम कर लिया है। लेकिन आंतरिक शक्ति रोज क्षीण होती चली गई।

पूरब ने एक दूसरा प्रयोग किया। वह प्रयोग यह था कि हम बाहर से लड़ने के लिए सहायता न लेंगे, हम भीतर की शक्ति से ही लड़ेंगे। इसका फायदा हुआ। एक फायदा हुआ कि पूरब भीतर से समृद्ध हुआ, लेकिन एक नुकसान हुआ कि बाहर से दरिद्र हो गया, बाहर से गरीब होता चला गया। बाहर की गरीबी दिखाई पड़ती है और भीतर की समृद्धि दिखाई नहीं पड़ती। इसलिए पश्चिम से जब कोई आता है, तो पूरब की बाहर की दरिद्रता को देखकर कहता है, क्या बुरी हालत है! भीतर का तो कुछ दिखाई नही पड़ता। भीतर का दिखाई पड नही सकता।

पूरब ने एक प्रयोग किया था। वह यह था कि हम व्यक्ति की चेतना को ही दृढ़ करते रहेंगे ताकि सब परिस्थितियों में वह स्वयं इसका दृढ़ हो कि पार हो जाए। पश्चिम ने एक प्रयोग किया कि हम बाहर की परिस्थितियों को ऐसा बना देंगे कि व्यक्ति को लडने की जरूरत हो न रह जाए। लेकिन जो लड़ता नहीं, वह लड़ने की क्षमता खो देता है। लड़ने की क्षमता कायम रखनी हो, तो लड़ना जारी रखना पड़ता है। यह निर्भर इस पर करता है कि आप किस शक्ति को जगाना चाहते हैं। अगर भीतर की शक्ति को जगाना चाहते हैं, तो ऋषि ठीक कहता है, सभी कठिनाइयो मे वृक्ता। असुरक्षित, इनसिक्योर, बिना इन्तजाम के सारी कठिनाइयो को झेल झेने की जो बात है, उससे भीतर की प्रतिरोधक शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि कठिनाइयाँ नीचे पडी रह जाती हैं और चेतना पार निकल जाती है।

सदैव संघर्षों मे ही उनका वास है—चिरा जिन वासः। संघर्ष ही उनका घर है। संघर्ष ही उनका आवास है। इसे थोड़ा समझ लेना जरूरी है।

संघर्ष ही उनका आवास है। एक तो संघर्ष है दूसरों से, परायों से। वह हिंसा है। एक संघर्ष है स्वयं से, अपने से, वह संघर्ष हिंसा नही है। एक संघर्ष है, जब हम किसी को जीतने जाते हैं, वह पाप है। यह संघर्ष है, जब हम स्वयं को अपराजय बनाने जाते हैं, वह संघर्ष पुण्य है। ऋषि कहता है, संघर्ष में उनका वास है। वे चौबीस घण्टे स्ट्रगल में हैं, किसी और से नहीं। असुरक्षित हैं, कोई उनके पास व्यवस्था नहीं, अनजाने भविष्य में कदम रख देते हैं बिना योजना के। सुबह उठते हैं, तब यह जानते हैं कि सुबह ने क्या मौजूद किया, उससे गुजरते हैं। रात आती है तब जानते हैं कि रात ने क्या मौजूद किया, तब उससे गुजरते हैं। लिविंग मोमेन्ट टू

मोमेन्ट—एक-एक क्षण जीते हैं। निश्चित ही संघर्ष होगा। एक-एक क्षण अगर कोई जीएगा, तो संघर्ष होगा ही।

हम तो भविष्य को व्यवस्थित करके जीते हैं। व्यवस्था का अर्थ ही है, संघर्ष को कम कर लेना। कल क्या करना है, कैसे करना है, उसका हमने पूर्व इन्तजाम कर लिया, तो कल संघर्ष न्यून हो जाएगा, कम हो जाएगा। कल अनजान, अपरिचित, अननोन में उतर जाना है, ऐसे ही जैसे कोई सागर में उतर जाए, और उसकी गहराइयों का पता न हो। जैसे कोई सागर में उतर जाए, जिसके किनारों का पता न हो। जैसे कोई सागर में उतर जाए, जिसके तूफानों का कोई पता न हो, बिना किसी इन्तजाम के। संन्यासी ऐसे ही जीवन में चलता है बिना किसी इन्तजाम के। क्यों? इस संघर्ष की जरूरत क्या है? क्योंकि संन्यासी जानता है कि इसी संघर्ष से निखार है। इसी रोज-रोज के संघर्ष से, क्षण-क्षण के संघर्ष से निखार पैदा होता है। वह जो निखार है व्यक्तित्व का, वह जो प्रतिभा पर धार आती है, वह इसी संघर्ष से आती है। यह संघर्ष किसी और से नहीं है। यह किसी दूसरे से नहीं है। यह संघर्ष सहज जीवन की धारा से है। और इस संघर्ष में कोई दुख भी नहीं है, कोई पीड़ा भी नहीं है।

ऋषि कहता है, संघर्ष उनका घर है। संघर्ष से कोई शत्रुता भी नहीं है। यही उनका आवास है। इससे कोई दुश्मनी नहीं है, यही उनका आसरा, यही उनकी छाया, इसी के नीचे वे विश्राम करते हैं। ध्यान रखें, संघर्ष को घर कहना बड़ी उलटी बात मालूम पड़ती है। संघर्ष ही उनकी छाया, उनका विश्राम, उनका बिछौना। इसका अर्थ हुआ, संघर्ष के प्रति कोई शत्रुता का भाव नहीं। इसका अर्थ हुआ कि वे संघर्ष को संघर्ष नहीं मानते।, वे उसे जीवन का सहज क्रम मानते हैं। वे मानते हैं कि ऐसा होगा ही।

सिकन्दर हिन्दुस्तान से लौटता है। वह एक संन्यासी को यूनान ले जाना चाहता है। नंगी तलवारों से एक संन्यासी को घेर लिया जाता है। उसे कहा जाता है कि तुम यूनान की तरफ चलो। वह संन्यासी कहता है कि मैंने जिस दिन संन्यास लिया, उस दिन से मैंने किसी की आज्ञा मानना बन्द कर दिया। सिकन्दर कहता है, यह नंगी तलवार देखते हो, अभी काटकर तुम्हें यह टुकड़े-टुकड़े कर देगी। वह संन्यासी कहता है,जिस दिन मैंने संन्यास लिया, उस दिन जो काटा जा सकता था, उससे मैंने संबन्ध विच्छिन्न कर लिया।

तुम काटोगे जरूर, लेकिन मुझे नहीं। तुम उसी को काटोगे, जिसे हम खुद ही काट चुके हैं।

सिकन्दर का इतिहास लिखने वाले लोगों ने लिखा है कि सिकन्दर की तलवार और हाथ पहली दफे कँपा हुआ दिखाई पड़ा। हाथ उठाया भी, पर रुक गया। सामने एक हँसता हुआ आदमी खड़ा था। सिकन्दर ने पूछा उस संन्यासी को, उसका नाम था दवामि, कि क्या तुम्हारे मन में ऐसा नहीं लगता कि कैसा दुर्भाग्य तुम्हारे ऊपर आ गया? उस संन्यासी ने कहा, सौभाग्य की अपेक्षा ही हम नहीं रखते। जो आ जाए, हम उसके लिए राजी हैं।

संघर्ष ही उनका आवास है। इस संघर्ष के प्रति कोई भी विरोध नहीं है, तभी संघर्ष आवास बनेगा। अगर विरोध है, तो आवास नहीं बनेगा। संघर्ष स्वीकार है, तभी तो वह आवास बनेगा। उसका विरोध ही नहीं है। क्योंकि संन्यासी मानता है, जीवन एक पाठशाला है, जहाँ संघर्ष शिक्षण की पद्धति है। जो जितना अपने को संघर्ष से बचा लेगा, वह उतना ही अपने को शिक्षित होने से बचा लेता है।

सुना है मैंने कि एक करबपति महिला एक समुद्र तट पर विश्राम करने के लिए उतरी। होटल के सामने उसकी कार रुकी। जितने कुली वहाँ खड़े थे, सब को उसने बुलाया। कुली भी थोड़े चकित हुए। इतना सामान तो गाड़ी में नहीं होगा। एक-एक सामान एक-एक कुली को पकड़ा दिया। फिर एक छोटा बच्चा बच गया। उस महिला का एक मोटा-तगड़ा बच्चा अभी आराम से गाड़ी में बैठा था। उस कुली लड़के से कहा, तुम इसको कन्धे पर उठा लो। उस लड़के ने पूछा, क्या इसके पैर खराब हैं? उस बूढ़ी औरत ने कहा, "थैंक गॉड, हिज लेग्स आर आलराइट, बट थैंक गॉड ही विल हैव नेवर टू यूज देम। उसके पैर बिलकुल ठीक हैं, लेकिन भगवान् की कृपा कि उसको कभी उपयोग करने की जरूरत न पड़ेगी। उठाओ कन्धे पर।

अगर पैरों को भी उठाने की जरूरत न पड़े, तो पैर शक्ति खो देंगे। धीरे-धीरे शक्ति खो जाएगी। चलते रहें, तभी उनकी शक्ति है। न चलें, तो उनकी शक्ति तिरोहित हो जाएगी। हम जिसका उपयोग करते हैं, वह सक्रिय हो जाता है। संन्यासी अपनी पूरी चेतना का उपयोग करता है जीवन के

संघर्ष में। कहीं बचाव नहीं करता। कहीं आड़ नहीं लेता। कहीं छिपता नहीं।

नसरुद्दीन सेना में भर्ती हुआ था। युद्ध चल रहा था जोर से। सभी जवान भर्ती कर लिये गए थे। नसरुद्दीन भी भर्ती हो गया था। जो जनरल था, वह नसरुद्दीन से बहुत प्रभावित हुआ, क्योंकि कैसी भी हालत हो, नसरुद्दीन सदा जनरल के पीछे खड़ा रहता। कितना ही संघर्ष हो, कितना ही उपद्रव हो, बम गिरते हों, तलवारें चलती हों, तीर आते हों, कुछ भी हो, नसरुद्दीन कभी जनरल का पीछा न छोडता। युद्ध समाप्त हुआ, तो जनरल ने कहा, नसरुद्दीन, तुम बहुत बहादुर आदमी हो। इतना बहादुर आदमी मैंने नहीं देखा। हर हालत में तुम मेरे साथ रहे। नसरुद्दीन ने कहा, सचाई बता दें? जब मैं घर से चलने लगा, तो मेरी पत्नी ने कहा, सदा जनरल के पीछे रहना, क्योंकि जनरल कभी मारे नहीं जाते। उसी कारण आपके पीछे तकलीफें उठाकर भी मैं लगा रहा। घर लौट आए नसरुद्दीन, पर तलवार पकड़ना भी सीख न पाए, क्योंकि आड़ में ही समय बीता।

गाँव में खबर फैल गई कि नसरुद्दीन लौट आए हैं युद्ध से। तो काफी हाउस में भीड़ इकट्ठी हो गई। लोग नसरुद्दीन से पूछने लगे कि कुछ सुनाओ। नसरुद्दीन क्या सुनावें! उन्होंने कुल एक ही काम किया था। फिर भी कुछ सुनाना जरूरी था। सोचने लगे, तभी एक और सैनिक काफी हाउस में बैठा था। उसने कहा, कुछ बताते नहीं, इतना भयंकर युद्ध हुआ, मैंने अकेले सैकड़ों आदमियों की गरदनें काट दीं। नसरुद्दीन, तुम तो तमगा लेकर लौटे हो जनरल का, कि तुम बड़े बहादुर आदमी हो। नसरुद्दीन ने कहा कि गरदनें? ऐसा हुआ एक बार कि तीन-चार आदमियों के पैर मैंने काट दिए।

उस सैनिक ने कहा, पर यह बहादुरी हमने कभी नहीं सुनी। आदमी काटता है तो गरदन! नसरुद्दीन ने कहा, गरदन तो कोई पहले ही काट चुका था। नो अपर्चुनिटी, कोई मौका ही न था, तो मैंने उठाई तलवार और चार-छह आदमियों के पैर धड़ल्ले से काट दिए। इतनी बहादुरी करके मुल्ला लौटा था। यह स्वाभाविक है। आड़, और आड़, और आड़, तो जिन्दगी ऐसी ही हो जाती है। लोच-पोच उसमें कुछ बचता नहीं। भीतर का सब कुछ गिर जाता है, नीचे गिर जाता है।

ऋषि कहता है, संघर्ष ही उनका आवास है। आड़ में वे नहीं जीते। खुले, वलनरेबल, ओपेन, जो भी हो राजी। तूफान आवे, आंधियां आवें, दुख आवें, पीड़ा आवें, मौत आए, वे वलनरेबल हैं—सदा खुले।

अनाहृत जिनका मंत्र, अक्रिया जिनकी प्रतिष्ठा। अनाहृत मन्त्रम्। इन संन्यासियों का मंत्र क्या है। इनकी साधना क्या है? ऋषि कहता है, अनाहृत मंत्र। इसे थोड़ा समझना पड़ेगा। हमारे शरीर के भीतर सात चक्र हैं। उनमें एक चक्र है अनाहृत। प्रत्येक चक्र से साधना हो सकती है। इसलिए प्रत्येक चक्र की साधना अलग-अलग हैं, और प्रत्येक चक्र का मंत्र भी अलग-अलग हैं। उस मंत्र के द्वारा उस चक्र पर चोट की जाती है, जिससे वह चक्र सक्रिय हो जाता है और उसमें छिपी हुई ऊर्जा ऊपर की तरफ यात्रा पर निकल जाती है।

ऋषि कहता है, संन्यासी का मंत्र अनाहृत है। वह जो अनाहृत चक्र है, वहीं वह चोट करता है। उस चोट की अपनी ध्वनियां हैं, जिनसे अनाहृत पर चोट की जाती है। जैसे सोहम्, अनाहृत पर चोट करने का ध्वनि सूत्र है। आपने कभी खयाल न किया होगा कि जब भी आप कोई शब्द बोलते हैं, तो उसकी चोट आपके शरीर के अलग-अलग हिस्सों मे पड़ती है। अगर आप भीतर कहें 'ओम्', तो हृदय से नीचे तक 'ओम्' की ध्वनि नही जाएगी। 'ओम्' का अधिक गुंजार मस्तिष्क मे होगा। जैसे आप यहाँ उच्चारण कर रहे हैं 'हू', 'हू', तो 'हू' ठीक सेक्स सेन्टर तक जाएगा। बहुत-से मित्र मुझे आकर कहते हैं, अजीब बात है, इस 'हू' के प्रयोग करने से हमारी तो काम-वासना उठती हुई मालूम पड़ती है। पड़ेगी, क्योंकि उसकी चोट ठीक सेक्स सेंटर तक जाती है, काम-केन्द्र तक जाती है।

हर शब्द की गहराई है आपके भीतर। हर ध्वनि आपके भीतर अलग गहराइयों तक प्रवेश करती है। इसलिए मंत्र गुरु के द्वारा दिया जाता रहा। इसका और कोई कारण नहीं था, और जब गुरु मंत्र देता है, तो कई दफे लेने वाले को लगता है कि अरे, यह मंत्र। यह तो हमें पहले ही मालूम था। तो गुरु के पास गए, उन्होंने बड़े प्राइवेट (गोपनीयता) में कान में कहा कि 'राम, राम' बोलना। हद हो गई, यह भी कोई मंत्र हुआ? इस 'राम', 'राम' का किसको पता नहीं है? यह तो हम पहले ही से बोल रहे थे। तो गुरु ने ऐसा कौन-सा खूबी का काम कर दिया कि कान में कह दिया, 'राम', 'राम' बोलना।

उसके कारण और हैं। 'राम', 'राम' से तो आप परिचित हैं, लेकिन आपके उपयोग का है या नहीं, यह आपको पता नहीं है।

कई बार लोग गलत मंत्रों का उपयोग करते रहते हैं, जो नहीं करना चाहिए। क्योंकि हो सकता है, उन मंत्रों के उपयोग से उनके भीतर जहां चोट पड़ती हो, वह उन्हें कठिनाई में डाले। जैसे कि मैं 'हू' पर आग्रह करता हूं, क्योंकि मेरा मानना है कि हमारा युग कामातुर युग है। 'सेक्स सेंटर इज द मोस्ट सिग्नीफिकेंट टू डे।' आज की अधिकतम बीमारियां, आज की अधिकतम चिन्ता, आज की अधिकतम परेशानी, काम-केन्द्र से जुड़ी है। अगर इस युग मे कोई भी रूपातरण करना है, तो एक ऐसी ध्वनि का उपयोग करना पड़ेगा, जो काम-ऊर्जा को जगाए और कुण्डलिनी की तरफ प्रवाहित कर दे।

संन्यासी का मंत्र अनाहत है, क्योंकि संन्यासी वह है जिसकी काम-ऊर्जा कुण्डलिनी की तरफ चल पड़ी। उसे वहां चोट करने का सवाल नहीं है। वह अनाहत पर चोट करेगा। 'अनाहत, सोहम्'। अनाहत का अर्थ होता है, जो बिना चोट के पैदा हो—बिना आहत, बिना किसी चोट के। अगर हम दोनो तालियां बजाएं तो यह आहत ध्वनि है। क्योंकि दो चीजो की चोट हुई, तब यह पैदा हुई। जो भी ध्वनि चोट से पैदा होगी, वह आहत ध्वनि है। वह अनाहत चक्र तक नहीं पहुंचेगी। अनाहत तक एक ही ध्वनि पहुंच सकती है, जो बिना चोट के पैदा होती है।

झेन फकीर जापान मे अपने साधक को कहते हैं कि जाओ और खोजो उस ध्वनि को, जो एक ही हाथ से पैदा होती है। एक ही हाथ से कोई ध्वनि पैदा नहीं होती। एक ध्वनि है जो अनाहत है, जैसे सोहम्। 'सोहम्' आपको पैदा नहीं करना पड़ता। अगर आप शांत बैठ जाएं और केवल अपनी श्वांसों को आते और जाते देखते रहें, कमिंग इन, गोइंग आउट, सिर्फ श्वांस को देखते रहें, थोड़ी ही देर में 'सोहम्' का उच्चार शुरू हो जाएगा बिना आपके। श्वांसों की गति ही सोहम् के उच्चार को पैदा करती है। श्वांस के होने में ही सोहम् की ध्वनि छिपी हुई है। इसलिए सोहम्, न तो संस्कृत है, न किसी और भाषा का है। सोहम्, निसर्ग की ध्वनि है, जो आपके भीतर श्वांस से पैदा होती है। यह अनाहत ध्वनि है। इस ध्वनि की चोट अनाहत चक्र पर होती है। इस ध्वनि की चोट बड़ी गहरी, बड़ी बारीक और बड़ी सूक्ष्म है। अनाहत चक्र मे वह सारी शक्ति छिपी

है, जो ऊर्ध्वगमन के लिए साधन बनती है।

संन्यासी का मंत्र अनाहत है। वह ऐसे मंत्र का उपयोग नहीं करता, जो ओठों से बोला जाएगा। वह ओंठों से गहरा नही जाता। वह ऐसे मंत्र का उपयोग नही करता, जो कण्ठ से बोला जाए, क्योंकि जो कण्ठ से बोला जाएगा, वह कण्ठ तक ही रह जाता है। वह ऐसे मंत्र का उपयोग नहीं करता, जो मन से बोला जाए, क्योंकि जो मन से बोला जाएगा, वह मन के पार नही ले जा सकता। ऋषियों ने एक ऐसे मंत्र को खोजा है, जो अनाहत है, जो न कण्ठ से बोला जाता, न ओठ से बोला जाता—जो बोला ही नही जाता, अबोला हैं, अजपा है। उसका जप किया नहीं जाता। उसका जप चल ही रहा है, सिर्फ हमने सुना नहीं। जैसे कभी अँधेरी रात में सन्नाटा होता है। आप गपशप में लगे हैं, सुनाई नहीं पड़ रहा है। फिर गपशप बन्द हो गई। आप अकेले बैठे हैं, अचानक चारो तरफ सन्नाटे की आवाज गूँजने लगती है। वह जब आप बोल रहे थे, तब भी गूँज रही थी, लेकिन आपके बोलने में इतनी दबी हुई थी।

मुल्ला नसरुद्दीन एक संगीतज्ञ को सुनने गया है। साथ में उसकी पत्नी है। संगीतज्ञ बड़े जोर से आलाप भर रहा है। शास्त्रीय संगीतज्ञ है। नसरुद्दीन बड़ा बेचैन हो रहा है। पत्नी बड़ी आनन्दित हो रही है। पत्नी ने आखीर में पूछा, कैसा लग रहा है संगीत? अद्भुत है। नसरुद्दीन ने कहा, जरा जोर से बोलो, इस दुष्ट की वजह से कुछ सुनाई नहीं पड़ रहा है। यह इतने जोर से चिल्ल-पों मचा रहा है कि तुम क्या कहती हो, कुछ सुनाई नहीं पड़ता। तो उसकी पत्नी ने कहा, तुम बड़े डोल रहे थे, हिल रहे थे, तो मैं समझी कि तुम बड़े आनंदित हो रहे हो।

नसरुद्दीन ने कहा, मैं बड़ा बेचैन हो रहा हूँ। अपने घर जो बकरा मरा था, वह भी इसी हालत में मरा था। इसी तरह आलाप भर रहा था। मैं यह देख रहा हूँ कि यह आदमी अब मरा, अब मरा। यह बिलकुल आखिर घड़ी में है। इसको बचाना बहुत मुश्किल है। बकरे को भी हम बचा नहीं पाए। मैं इसलिए हिल-डोल रहा हूँ कि कोई उपाय हो सकता है इसको बचाने का कि नहीं। यह दुष्ट बोलना बन्द करे, तो मैं सुन पाऊँ कि तू क्या कहती है। नसरुद्दीन यह सब कह रहा है और पत्नी कह रही है कि अद्भुत है यह संगीत।

हम जब बन्द हों, यह हमारा शास्त्रीय संगीत जो चल रहा है चौबीस घण्टे, यह जब बन्द हो, तो हमें अनाहत नाद का पता चलेगा। वह चल रहा है पूरे वक्त। कहना चाहिए वह बायोलाजिकल है, 'बिल्ट इन बायोलाजिकल' है। वह हमारे होने में ही है। एग्जिस्टेंशियल (अस्तित्वगत) है। जब कुछ भी ध्वनि नहीं रह जाती भीतर, तब भी एक ध्वनि रह जाती है, जो हमारी पैदा की हुई नहीं है, अनाहत है। अपने आप हो रही है, स्व-आविर्भूत है। उस ध्वनि का नाम अनाहत है। और वह ध्वनि जहाँ चोट करती है, उस चोट के स्थान का नाम अनाहत चक्र है। अनाहत की वह ध्वनि ही संन्यासी का मंत्र है, क्योंकि संन्यासी उसकी ही खोज पर निकला है, जो असृष्ट है, अनक्रिएटेड है। संसारी उसकी खोज पर निकला है, जो बनाया हुआ है, बनाया गया है। संन्यासी उसकी खोज पर निकला है, जो अनबना है, अनक्रिएटेड है। अगर अनबने को खोजना है (वह अनबना ही है) तो फिर अनबने साधन से ही खोजना पड़ेगा।

अनाहत उसका मंत्र है। अक्रिया उसकी प्रतिष्ठा है। वह अक्रिया में नहीं जीता, वह अक्रिया में ही प्रतिष्ठित रहता है—क्रिया करते हुए भी। इसलिए कहा, अक्रिया उसकी प्रतिष्ठा है। ऐसा नहीं कहा कि वह क्रिया नहीं करता है। अक्रिय हो जाता है, ऐसा भी नहीं कहा। अक्रिया उसकी प्रतिष्ठा है। चलता है, लेकिन चलते समय भी उसमें प्रतिष्ठित रहता है, जो कभी नहीं चला है। बोलता है, लेकिन बोलते समय भी उसमें प्रतिष्ठित रहता है, जो मौन है। भोजन करता है, लेकिन भोजन करते वक्त भी उसमें प्रतिष्ठित रहता है, जिसके लिए भोजन की कोई भी जरूरत नहीं है। अक्रिया उसकी प्रतिष्ठा है।

क्रिया तो संन्यासी भी करेगा। चलेगा, उठेगा, बैठेगा, सोएगा, भोजन करेगा, थकेगा, विश्राम करेगा। क्रिया तो संन्यासी को भी करनी पड़ेगी। इस जगत् में क्रिया तो अनिवार्य है। इसलिए अगर कोई सोचता हो कि अक्रिया कर लूँगा, तो संन्यासी हो जाऊँगा, यह गलत है। अक्रिया तो सिर्फ मरने से ही होती है। जीवन में क्रिया अनिवार्य है। जीवन क्रियाओं का नाम है। फिर संन्यासी क्या करेगा? गृहस्थ भी क्रिया करता है। संन्यासी भी क्रिया करता है, फिर फर्क क्या रहा? गृहस्थ भी चलता है, संन्यासी भी चलता है, फिर फर्क क्या रहा? प्रतिष्ठा का फर्क है।

चलते वक्त, गृहस्थ चलने मे ही प्रतिष्ठित हो जाता है। बोलते वक्त बोलने में ही प्रतिष्ठित हो जाता है। भोजन करते वक्त भोजन करने में ही प्रतिष्ठित हो जाता है। संन्यासी दूर खड़ा देखता रहता है। उसकी प्रतिष्ठा अक्रिया मे बनी रहती है। 'ही मूव्ज बट रिमेंस इन द इम्मूवेबल।' वह गति करता है, लेकिन अ-गति मे ठहरा रहता है। चलता है, पूरी पृथ्वी घूम लेता है, फिर भी कहता है, हम वहीं हैं, जहाँ थे। हम चले ही नहीं।

बुद्ध के सम्बन्ध में बौद्ध भिक्षु (सिर्फ जापान के बौद्ध भिक्षु) एक मजाक करते रहते हैं कि बुद्ध कभी हुए ही नहीं, और रोज पूजा करते हैं। हिम्मतवर लोग हैं। और जब कोई धर्म हिम्मत खो देता है, तभी अपने गुरु के प्रति हँसने की हिम्मत भी खो देता है। वे कहते हैं, बुद्ध कभी हुए ही नहीं।

लिन ची एक बड़ा फकीर हुआ। रोज सुबह बुद्ध की मूर्ति पर फूल चढ़ा आता है और रोज प्रवचन देता है कि बुद्ध कभी हुए ही नहीं। झूठ है यह बात। कहानी है यह। एक दिन एक आदमी ने कहा, यह बरदाश्त के बाहर हो गया। रोज तुम्हें देखते हैं, फूल चढ़ाते हो। रोज तुम्हारा प्रवचन सुनते हैं, बड़ी हैरानी होती है। बड़े कण्ट्राडिक्ट्री मालूम पड़ते हो, बड़े विरोधाभासी हो। कैसे आदमी हो तुम ? सुबह जिसको फूल चढ़ाते हो, साँझ कहते हो, वह हुआ ही नहीं।

लिन ची ने कहा, निश्चित ही, क्योंकि मैं ने कभी फूल चढ़ाए नहीं। प्रतिष्ठा हमारी अक्रिया में है। वह जो फूल चढ़ाता हूँ सुबह, उसमे मेरी प्रतिष्ठा नहीं है। मैं खड़ा देखता रहता हूँ कि लिनची फूल चढ़ा रहा है। ऐसे ही बुद्ध भी खड़े देखते रहे कि बुद्ध पैदा हुए, कि बुद्ध चले, कि बुद्ध बोले, कि बुद्ध मरे। लेकिन प्रतिष्ठा अक्रिया मे है। संन्यासी की प्रतिष्ठा अक्रिया है।

करते हुए 'न करने' में ठहरा रहना संन्यास है। करते हुए 'न करने' में ठहरा रहना संन्यास है—करने से भाग जाना नहीं। क्योंकि 'करने' से कोई भाग नहीं सकता। एक 'करने' को दूसरे 'करने' से बदल सकता है, और कुछ नही करता है। जब करने से हम भाग ही नहीं सकते, तो एक करने को दूसरे करने से भी क्या बदलना है, इसलिए मैं गृहस्थ को भी संन्यासी बना लेता हूँ। प्रतिष्ठा बदल लो, काम बदलने से क्या होगा ! दुकान न चलाओगे, आश्रम चलाओगे, क्या फर्क पड़ेगा ? ग्राहक न आएँगे,

शिष्य-शिष्याएं आएँगी, क्या फर्क पड़ेगा ? वह भी 'कस्टमर्स' (ग्राहक) हैं। इसलिए गुरुओं में झगड़ा हो जाता है, किसी का 'कस्टमर' किसी दूसरे के पास चला जाए, तो बड़ी झंझट होती है कि हमारा ग्राहक छीन लिया। सब धंधा हो जाता है। तो जब 'कस्टमर्स' में ही जीना है, तो हर्ज क्या है ? दुकान पर बैठकर सामान ही बेचा, तो क्या हर्ज है ? प्रतिष्ठा बदल जानी चाहिए। दुकान पर बेचते हुए दुकानदार न रह जाएँ, काम करते हुए करने वाले न रह जाएँ। अक्रिया में प्रतिष्ठा हो जाए, तो संन्यास है।

ऐसा स्वेच्छाचार रूप आत्म स्वभाव रखना ही मोक्ष है। यह वचन तो अपूर्व है। अद्वितीय, इनकंपेरेबल (अतुलनीय) है। मनुष्य जाति के साहित्य मे, किसी भी साहित्य मे ऐसा वचन खोजना असम्भव है। स्वेच्छाचार स्वस्वभावो मोक्षः। 'स्वेच्छाचार जिनका स्वभाव है,' यह बड़ी कठिन बात है। स्वेच्छाचार तो बड़ा गलत शब्द है हम सबकी नजरों मे। जब किसी आदमी की हमे निन्दा करनी होती है, तो हम कहते हैं, स्वेच्छाचारी है। स्वेच्छाचारी का मतलब यह होता है, कि गया, भटक गया, न किसी की सुनता, न किसी की मानता, न कोई नियम, न कोई मर्यादा, स्वेच्छाचारी है। स्वेच्छाचार तो हमारे लिए गाली-जैसा है। ऋषि कहता है, स्वेच्छाचार स्वस्वभावो मोक्षः। ऐसे स्वेच्छाचार मे जिसने अपने स्वभाव को जाना, वही मोक्ष है। लेकिन यह सूत्र बहुत अन्त मे आता है। इसके पहले सब विसर्जित हो चुका है। वह अहंकार जा चुका, जो स्वेच्छाचार कर सकता था। वह अहंकार अब नहीं बचा, जो स्वेच्छाचार मे उतरने मे अब रस लेता, वह अब जा चुका। अक्रिया मे प्रतिष्ठा हो गई। क्रिया में रस होता, तो स्वेच्छाचार खतरे कर सकता था।

नेपोलियन से कोई पूछ रहा था कि आपकी दृष्टि मे कानून की परिभाषा क्या है। 'हाउ डू यू डिफाइन द लॉ।' नेपोलियन ने कहा, यह काम साधारण लोगों पर छोड़ो। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, 'आई एम द लॉ।' मैं कानून हूँ। यह छोड़ो बेकार लोगो पर, कानूनविदों पर, वह इसका हिसाब लगाते रहेंगे कि परिभाषा क्या है। 'ऐज फार ऐज आइ एम कंसर्न्ड, आई एम द लॉ।' स्वेच्छाचार का यही मतलब होता है। लेकिन नेपोलियन का स्वेच्छाचार और संन्यासी के स्वेच्छाचार में नर्क और स्वर्ग का फर्क है।

नेपोलियन जब स्वेच्छाचारी होता है, तो सिर्फ इसीलिए कि वह दूसरे

की इच्छाओं का खण्डन कर दे, तोड़ दे, मिटा दे; और जो अहंकार कहे, जो मन कहे, जो वासना कहे, जो कामना कहे, वृत्तियाँ कहें, वही करे। तो नेपोलियन का स्वेच्छाचार पाशविक हो जाता है, पशुओं-जैसा हो जाता है। पशुओं से भी बदतर हो जाएगा। क्योंकि पशु की क्षमता आदमी से ज्यादा नीचे गिरने की नहीं है, क्योंकि पशु की क्षमता आदमी से ज्यादा ऊपर उठने की नहीं है। आदमी जितना ऊपर उठ सकता है, उतना ही नीचे जा सकता है। नीचे और ऊपर जाना समानुपाती होता है।

जो वृक्ष जितने ऊपर जाता है, उसकी जड़ें उतनी ही नीचे जाती हैं। वृक्ष की ऊँचाई देखकर आप कह सकते हैं कि जड़ों को कितने नीचे जाना पड़ा होगा। वे अनुपात मे होते हैं, ऊपर और नीचे जाने की क्षमता समान होती है। पशु ऊपर नहीं जा सकते, क्योंकि पशु नीचे नहीं जा सकते। आदमी ही जा सकता है ऊपर और नीचे।

जब आदमी में वासना होती है, कामना होती है, वृत्तियाँ होती हैं, अहंकार होता है, मोह होता है, माया होती है, तो स्वेच्छाचार पाप है, नर्क है। और जब आदमी इन सबसे मुक्त हो जाता है, तो स्वेच्छाचार ही मोक्ष है। तब कोई नियम नहीं बाँधते, तब कोई नियम अनिवार्य नहीं होते, तब कोई मर्यादा नहीं बचती। तब जो भी भीतर से उठता है, स्पांटेनियस, सहज, वही आचरण बन जाता है। तब स्वभाव ही आचरण है।

संन्यासी का उठना, बैठना, बोलना, करना सोचा-विचारा नहीं है, सहज है। जैसे हवाएँ बहती हैं और पानी दौड़ता है सागर की तरफ और आग की लपटें दौड़ती हैं आकाश की तरफ, ऐसा ही स्वभाव में सन्यासी रहता है। वह स्वेच्छाचारी हो जाता है, पर यह स्वेच्छाचार बहुत दूसरा है। अपराधी भी स्वेच्छाचारी होता है। संन्यासी भी स्वेच्छाचारी होता है। फर्क एक ही है कि अपराधी स्वेच्छाचारी होता है वासनाओं के साथ, संन्यासी स्वेच्छाचारी होता है वासनाओं से रिक्त। वासनाओं के साथ जिसने स्वेच्छाचार किया, वह नर्क की यात्रा पर निकलेगा। वासनाओं से छूटकर जो स्वेच्छाचार में उतरा है, वह मोक्ष को उपलब्ध हो जाता है। ऋषि कहता है, स्वेच्छाचार स्वस्वभावो मोक्षः। इससे ज्यादा रिव्होल्यूशनरी, इससे ज्यादा क्रांतिकारी मंत्र नहीं खोजा जा सकता।

इति स्मृतेः। और यही स्मृति का अन्त है। बड़ी अद्भुत बात है यह।

इसके आगे स्मृति की कोई भी जरूरत नहीं। इसके आगे कुछ स्मरण करने योग्य न रहा, क्योंकि स्मरण रखने पड़ते हैं, नियम, मर्यादाएँ, सीमा; स्मरण रखने पड़ते हैं अनुशासन, स्मरण रखनी पड़ती है व्यवस्थाएँ। जो स्वेच्छाचार को उपलब्ध हो गया, स्वस्वभाव को उपलब्ध हो गया, उसे स्मृति की कोई जरूरत न रही। जब तक ज्ञान नहीं, तब तक स्मृति की जरूरत है। 'मेमोरी इज ए सब्स्टिट्यूट फॉर नौइंग।' जो जानता हूँ, उसे स्मृति की जरूरत नहीं रह जाती। जो नहीं जानता है, उसे स्मृति की जरूरत रहती है। हमें वही याद करना पड़ता है,'जिसे हम भूल-भूल जाते हैं। लेकिन जिसका हमें ज्ञान ही हो गया, उसे क्या याद रखना पड़ता है? चोर को याद रखना पड़ता है कि चोरी करना ठीक नहीं, लेकिन जिसकी चोरी ही खो गई, क्या उसे यह याद रखना पड़ेगा कि चोरी करना पाप है? इसलिए कई दफे बड़ी मजेदार घटनाएँ घट जाती हैं।

कबीर के घर बहुत लोग आते थे और कबीर सबको कहते, भोजन करके जाना। कबीर का लड़का कमाल मुश्किल में पड़ गया। उसने कहा, हम कितना ऋण लें। हम थक गए, आगे नहीं चल सकता। आप यह बन्द करें। कबीर कहते, अच्छा। कल सुबह फिर वही होता। लोग आते और कबीर कहते, भोजन के लिए रुक कर जाना। कमाल सिर ठोंक लेता कि फिर वही। इति स्मृतेः। ऐसे आदमी स्मरण से नहीं जीते, तत्काल जीते हैं, जो सामने होता है, उसे ही जीते हैं, फिर भूल गए।

आखिर कमाल एक दिन बहुत क्रोध में आ गया। उसने कहा, अब यह आगे एक क्षण नहीं चल सकता। क्या मैं चोरी करने लगूं? कबीर ने कहा, यह तूने पहले क्यों न सोचा?

अद्‌भुत घटना है यह। इतनी अद्‌भुत घटना है कि कबीर पंथी इसका उल्लेख नहीं करते, क्योंकि इसमें तो बड़ा गड़बड़ हो जाएगा।

कबीर बोले, पागल, पहले क्यों न सोचा? अगर ऐसा कोई उपाय हो सकता है, तो कर। कमाल ने कहा, क्या कह रहे हैं? चोरी करने के लिए कह रहे हैं?

कबीर को अब स्मरण कहाँ कि चोरी पुण्य है, कि चोरी पाप है। इति स्मृतेः।' ऐसी जगह आकर तो सब स्मृति खो जाती है। अब तो कबीर को याद दिलानी पड़ेगी उस जगत् की, जिस जगत् को, समय हुआ, वे छोड़ चुके,

जहां चोरी पाप थी, उस लोक की, जहां चोरी करना जुर्म था, जहां समझाया जाता था, चोरी मत करना और चोरी चलती थी; जहां चोर तो चोर था ही, जहां मजिस्ट्रेट भी चोर था। उस जगत् से कबीर का अब कोई नाता न रहा, वह आयाम न रहा, वह यात्रा और हो गई।

कबीर को अब पता ही नहीं कि चोरी भी पाप है। कबीर से कमाल ने पूछा, तुम कुछ ऐसा बेचैन दिखते हो, जैसे कोई गलती बात हो रही है। कमाल ने कहा, हद हो गई। चोरी के लिए कह रहे हैं, दूसरे का सामान उठा लाऊं? कबीर ने कहा, इसमें मुझे कुछ हर्ज दिखाई नहीं पड़ता। दूसरा, यानी कौन? एक ही तो बचा है। सामान किसका? कौन उठा लाएगा?

कमाल ने सोचा कि परीक्षा लेनी ही पड़ेगी। ऐसे नहीं चलेगा। कमाल गजब का लड़का था। रात होने पर उसने कहा कि चलिए, मै चोरी को जा रहा हूं, आप भी चलिए। कबीर उठे और साथ हो लिये। कमाल तो बहुत घबराया। उसने सोचा कि क्या चोरी करवा कर रहेंगे? हद हो गई, अब तो सीमा के बाहर बात चली जा रही है। होश मे हैं कि बेहोश हैं! मगर उनका ही वह बेटा था। उसने कहा, ऐसे न छोड़ूंगा, आखिरी क्षण तक जांच कर लेनी जरूरी है।

जाकर कमाल ने सेंध खोदी। कबीर खड़े रहे। सेंध खोदकर कमाल मकान के भीतर घुसा। एक गेहूं का बोरा खींचकर बाहर लाया। कबीर खड़े रहे। कमाल ने कहा, आप उठाने में सहारा दें, अकेले मुझसे न उठेगा। कबीर सहारा देने लगे।

कमाल ने सोचा, हद हो गई। अब और कहां तक? अब तो यह चोरी हुई ही जा रही है। कमाल ने पूछा, ले चलें घर? कबीर ने कहा, घर के लोगों को कह दिया न कि ले जा रहे हैं? लौटकर जा, घर के लोगों को कह आ। सुबह नाहक खोजेंगे, परेशानी में पड़ेंगे। कह दो कि हम एक बोरा गेहूं चोरी करके ले जा रहे हैं। इति स्मृतेः। ऐसी जगह जाकर जब स्मृति खो जाती है।

पर ब्रह्म में बहना ही उनका आचरण है। जस्ट फ्लोइंग इन द डिवाइन। चलते भी नहीं, तैरते भी नहीं, बस उस दिव्य परमात्मा में बहते हैं। यही उनका आचरण है।

●

पन्द्रहवाँ समापन प्रवचन

साधना-शिविर, माऊन्ट आबू, रात्रि, दिनांक २ अक्टूबर १९७१

निर्वाण रहस्य अर्थात् सम्यक् संन्यास, ब्रह्म-जैसी चर्या और सर्व देहनाश

ब्रह्मचर्यं शान्ति संग्रहणम् ।

ब्रह्मचर्याश्रमेऽधीत्य वानप्रस्थाश्रमेऽधीत्य स सर्वसं विन्यासम्
संन्यासम्

अन्ते ब्रह्माखण्डाकारम् नित्यं सर्वं देहनाशनम् ।

एतन्निर्वाणदर्शनम् शिष्यं विना पुत्रं विना न देय ।

मित्युपनिषत् ।

"ब्रह्मचर्य और शांति जिनकी सम्पत्ति या संग्रह है ।

ब्रह्मचर्याश्रम मे, फिर वानप्रस्थाश्रम मे अध्ययन से फलित सर्व त्याग ही संन्यास है ।

अन्त में समस्त शरीरों का नाश हो जाता है और ब्रह्म रूप अखण्ड;आकाश में प्रतिष्ठा होती है ।

यही निर्वाण दर्शन है, जिसका शिष्य या पुत्र के अतिरिक्त अन्य किसी को उपदेश न करना, ऐसा यह रहस्य है ।

निर्वाण उपनिषद् समाप्त ।"

ऋषि कहता है ब्रह्मचर्य और शांति उनकी सम्पदा है। सम्पदा किसे कहें ? हम जिसे सम्पदा कहते हैं, वह हम से छीनी जा सकती है। हम जिसे सम्पदा कहते हैं, मृत्यु तो निश्चित ही हमे उससे अलग कर देती है। हम जिसे सम्पदा कहते हैं, उसके कारण सिवा विपदाओ के हमारे ऊपर आता हुआ और कुछ मालूम नही पडता है। ऋषि इसे सम्पदा नहीं कहते हैं। वे उसे सम्पदा कहते हैं, जो हमसे छीनी न जा सके। वही सम्पत्ति है। उसी के हम मालिक हैं, जो हमसे छीनी न जा सके। जो हमसे छीनी जा सकती है, उसकी मालकियत नासमझी का दावा है। लेकिन हम तो जिन-जिन संपत्तियो को जानते हैं, वे सभी हमसे छीनी जा सकती हैं। क्या ऐसी किसी सम्पत्ति का हमें पता है, जो हमसे छीनी न जा सके ?

उपनिषद् कालीन एक कथा है कि ऋषि याज्ञवल्क्य अपनी सारी सम्पत्ति अपनी दोनो स्त्रियों को सौंपकर संन्यस्त होना चाहता है। उसकी एक पत्नी तो राजी हो गई। आधी सम्पत्ति बहुत सम्पत्ति थी। लेकिन दूसरी पत्नी ने पूछा कि आप जो मुझे दे जा रहे हैं, यह क्या है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, यह सम्पदा है। पत्नी ने पूछा, सम्पदा को छोड़कर आप क्यों जा रहे हैं ? और अगर आप छोड़कर जा रहे हैं, तो आप किसकी तलाश में जा रहे हैं ? पति ने कहा, मैंने तो समझ लिया, यह सम्पदा नहीं है। मैं असली सम्पदा की खोज में जाता हूँ। पत्नी ने कहा, फिर असली सम्पदा की खोज में मुझे

भी ले चलें। इस कचरे को मेरे लिए क्यों छोड़ जाते हैं ? अगर आपको पता ही चल गया है कि यह सम्पदा नही है, तो मुझे देने की बात ही क्यों उठाते हैं ?

सम्पदा जिनके पास है, वे भलीभाँति जान लेते हैं, उससे वह नही मिलता है, जो मूल्यवान है। जो भी उससे खरीदा जा सकता है, वस्तुतः उसका कोई मूल्य नहीं है। सम्पत्ति से जो खरीदा जा सकता है, उसका कोई भी ऐसा मूल्य नही है जो शाश्वत हो, नित्य हो, ठहरने वाला हो। लेकिन हम उससे अपने खाली मन को भर लेते हैं।

ऋषि कहता है, संन्यासी की सम्पदा क्या है ? उसकी सम्पदा को वह कहता है, एक तो ब्रह्मचर्य है। उसका आचरण ऐसा होगा, जैसे स्वयं परमात्मा उसके भीतर विराजमान होकर आचरण करता हो। ब्रह्मचर्य शब्द बहुत कीमती है। इसे तथाकथित नीतिवादियो ने बुरी तरह विकृत किया है, 'करप्ट' किया है। क्योंकि जब भी कोई कहता है ब्रह्मचर्य, तो हमे तत्काल खयाल आता है सेक्स कण्ट्रोल, काम-वासना का नियन्त्रण। 'ब्रह्मचर्य' बहुत सूक्ष्म शब्द है और 'काम-वासना का नियन्त्रण' बहुत क्षुद्र और साधारण-सी बात है। ब्रह्मचर्य एक बड़ा सत्य है। ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ होता है, ब्रह्म जैसी चर्या। ऐसे जीना, जैसे परमात्मा ही जी रहा हो। ब्रह्मचर्य बहुत विराट् शब्द है और काम-वासना का नियन्त्रण अति क्षुद्र और साधारण-सी बात है। लेकिन हमने इस विराट् शब्द को ऐसी बुरी तरह बिगाड़ा है कि पश्चिम में जब अँग्रेजी में अनुवाद करते हैं, तो कर देते हैं 'सेलिबेसी'। पर उसका अर्थ और है।

अगर परमात्मा की कोई चर्या होगी, तो वैसी ही चर्या संन्यासी की चर्या है। असल मे सन्यासी इस बोध से ही उठता है कि परमात्मा उठा मेरे भीतर, इस बोध से ही चलता है कि परमात्मा चला मेरे भीतर, इस बोध से ही बोलता है कि परमात्मा बोला मेरे भीतर, इस बोध से ही जीता है कि परमात्मा जीया मेरे भीतर। संन्यासी स्वयं को तो बिदा कर देता है और परमात्मा को प्रतिष्ठित कर देता है। उसका जो भी है, वह सब परमात्मा का है।

इस तरह अपने भीतर परमात्मा को जिसने प्रतिष्ठित किया हो, जो परमात्मा का मन्दिर ही बन गया हो, उसके आचरण का नाम ब्रह्मचर्य है।

निश्चित ही, उसमें काम-नियंत्रण तो आ ही जाता है। उसे उसकी चर्चा करने की भी जरूरत नहीं रह जाती। लेकिन ब्रह्मचर्यमात्र काम-नियंत्रण नहीं है, काम-नियंत्रण एक छोटा-सा अंग है, ब्रह्मचर्य बहुत बड़ी बात है।

ऋषि कहता है, ब्रह्मचर्य सम्पदा है। जिसने यह अनुभव कर लिया कि मेरे भीतर परमात्मा है, उससे अब कुछ भी छीना नहीं जा सकता। एक ही है सत्य, जो हमसे छीना नहीं जा सकता, वह सत्य ऐसा होना चाहिए, जो हमारा स्वरूप भी हो। जिसे हमसे अलग करने का उपाय ही नहीं है, वह केवल परमात्मा है। बाकी सब हमसे अलग किया जा सकता है। मित्र हो, पत्नी हो, बेटा हो, सब हमसे जुदा किए जा सकते हैं। अपना शरीर भी अपने साथ नहीं होगा, अपना मन भी अपने साथ नहीं होगा। सिर्फ एक ही सत्य है, एक ही अस्तित्व है परमात्मा का, जो हमसे छीना नहीं जा सकता। जो हमारा होना ही है, 'द व्हेरी बीइंग,' उसे अलग करने का कोई मार्ग नहीं है। उसे ही ऋषि सम्पदा कहता है।

'आचरण ब्रह्म-जैसा,' लेकिन आचरण तो बाहर होता है आचरण का अर्थ ही होता है, बाहर। चर्या का अर्थ ही होता है बाहर। चर्या का अर्थ ही होता है दूसरों के सम्बन्ध में। अकेले कोई आचरण नहीं होता, आचारण का अर्थ है, 'इन रिलेशनशिप टु सम वन।'

एक राजधानी में धर्मगुरुओं का एक बड़ा सम्मेलन था। एक यहूदी धर्म गुरु, एक ईसाई धर्मगुरु, एक हिन्दू धर्मगुरु और मुल्ला नसरुद्दीन एक होटल में ठहराए गए थे। लेकिन रात जुए में चारों पकड़े गए। अदालत में जब सुबह मौजूद किए गए, तब मजिस्ट्रेट भी थोड़ा सकोच से भर गया। कल साँझ ही इनके प्रवचन उसने सुने थे। वह बड़ा प्रभावित हुआ था। लेकिन पुलिस का आदमी ले आया था अदालत में, तो अब मुकदमा चलता ही। उसने सोचा, जल्दी निपटा देने-जैसा है। यह आगे खींचने-जैसा नहीं है।

उसने ईसाई पुरोहित से पूछा कि क्या आप जुआ खेल रहे थे? ईसाई पुरोहित ने कहा, क्षमा करेंगे, 'इट डिपेन्ड्स ऑन हाउ यू डिफाइन।' यह बहुत-सी बातों पर निर्भर करेगा कि आप जुए की व्याख्या क्या करते हैं। वैसे तो पूरी जिन्दगी ही जुआ है। मजिस्ट्रेट जल्दी मुक्त करना चाहता था। उसने देखा, यह तो लम्बा थियोलाजी का मामला हो जाएगा। उसने कहा, साफ-साफ कहिए, आप जुआ नहीं खेल रहे थे? ईसाई पादरी ने कहा, पूरी

जिन्दगी जहाँ जुआ है, वहाँ जुए से बचा कैसे जा सकता है जज ने कहा, मैं समझ गया, आप जुआ नहीं खेल रहे थे, आप बरी किए जाते हैं। ईसाई पादरी बाहर चला गया।

यहूदी रबी से पूछा, आप जुआ खेल रहे थे? आपके सामने टेबुल पर रुपए रखे थे और ताश पीटे जा रहे थे। यहूदी रबी ने कहा, क्षमा करें, अभिप्राय अपराध नहीं है। अभी जुआ शुरू नहीं हुआ था, अभी सिर्फ आशय था। हम शुरू करने को जरूर ही थे, लेकिन अभी शुरू नहीं हुआ था और जो शुरू नहीं हुआ है, अभी अदालत के कानून के बाहर है। जज ने कहा, माना, आप बरी किए जाते हैं, आप जुआ नहीं खेल रहे थे, सिर्फ अभिप्राय पर कोई कानून नहीं लग सकता। आप जाएँ।

हिन्दू धर्मगुरु से पूछा, आप भी इसमें सम्मिलित थे? हिन्दू धर्मगुरु ने कहा, यह जगत् माया है। जो दिखाई पड़ता है, वैसा है नहीं—इट जस्ट एपियर्स।' कैसा जुआ, कैसे पत्ते, कौन पकड़ा गया, किसने पकड़ा? मजिस्ट्रेट ने कहा, मैं समझा। आप जाएँ, जब जगत् ही असत्य है, तब कैसा जुआ? बिलकुल ठीक कहते हैं।

लेकिन मुल्ला बहुत मुसीबत में था, क्योंकि उसी के हाथ में पत्ते पीटते हुए पकड़े गए थे, और उसी के सामने पैसों का ढेर भी लगा था। मजिस्ट्रेट ने कहा कि इन तीनो को तो छोड़ देना आसान था नसरुद्दीन, तुम्हारे लिए क्या करें? तुम क्या जुआ खेल रहे थे? नसरुद्दीन ने पूछा, क्या मैं पूछ सकता हूँ, विथ हूम? किसके साथ मैं जुआ खेल सकता था? क्योंकि तीनों तो जा ही चुके थे, बरी हो चुके थे। नसरुद्दीन ने कहा, अकेले भी जुआ अगर खेला जा सकता है, तो जरूर खेल रहा था।

हमारा सारा आचरण दूसरे के सम्बन्ध में है। अकेले के आचरण का कोई अर्थ नहीं है। सत्य बोलें तो किसी से, झूठ बोलें तो किसी से, चोरी करें तो किसी की, अचोर रहें तो किसी के सम्बन्ध में। हमारा सब आचरण दूसरे से सम्बन्धित है। इसलिए ऋषि ने कहा, पहले तो ब्रह्मचर्य सम्पदा है संन्यासी की। ब्रह्मचर्य दूसरे के साथ ऐसा सम्बन्धित होना, जैसे ईश्वर संबंधित होता हो।

और दूसरी बात कही, भीतर शान्ति। आचरण तो बाहर है। भीतर, भीतर परम मौन है। सन्नाटा है, शांति है। वहाँ कोई तरंग भी न उठे,

वहाँ कोई लहर न उठे, जीवन की जो ऊर्जा है, चेतना है, वह कंपित न हो। ऐसी निष्कंप मौन शान्ति, जहाँ हवा का एक झोंका भी नहीं, उसे आतरिक सम्पदा कहा है।

आचरण ईश्वर-जैसा, अन्तस निर्वाण-जैसा है—शून्य, शांत, मौन। ऋषि कहता है, यही संपदा है, जो छीनी नहीं जा सकती। इसके अतिरिक्त जो किसी और चीज को संपदा समझ कर बैठे हैं, वे अति दीन हैं, दरिद्र हैं। अपनी दरिद्रता को वे कितना ही छिपाने की कोशिश करें, वह जगह-जगह से प्रकट होती रहती है। धन उनके पास होता है, वे स्वयं धनी नहीं हो पाते, क्योंकि धन उनसे किसी भी क्षण छीना जा सकता है। और धन न भी छीना जाए, तो भी धन सिर्फ धनी होने का धोखा है। भीतर की दीनता तब तक नहीं मिटती, जब तक तनाव न मिट जाए। जब तक अशांति न मिट जाए, तब तक भीतर समृद्धि का जन्म नहीं होता। जब तक इतना भीतर सघन परमात्मा प्रकट न होने लगे कि चारो तरफ उसकी किरणें बिखरने लगें, तब तक व्यक्ति सम्राट् नहीं है। तब तक व्यक्ति हजार-हजार रूपों में गुलाम ही होता है। संन्यासी तो सम्राट् है।

स्वामी राम कहा करते थे कि एक गरीब फकीर ने घोषणा कर दी थी कि अब मैं मरने के करीब हूँ। लोग बहुत-बहुत धन मेरे पास चढाते चले गए हैं, वह इकट्ठा हो गया है। मैं उसे किसी गरीब को दे देना चाहता हूँ। गाँव भर के गरीब घोषणा सुनकर इकट्ठे हो गए। गरीबो की क्या कमी थी! जो गरीब नहीं थे, वे भी अपनी पगडी आदि घर रखकर हाजिर हो गए। फकीर तो चकित हुआ। उसमें कई लोग तो ऐसे थे, जो उसको दान चढ़ा गए थे। वे छिपे हुए भीड़ में खड़े थे। सबको अन्दाज था कि फकीर के पास बहुत पैसा होगा, जिन्दगी भर लोग चढ़ाते रहे हैं। था भी बहुत। एक बड़ी झोली में उसने सब भर रखा था। कई हीरे भी थे, मोती भी थे, सब थे। सोने के सिक्के भी थे, वह सब उसने झोली मे भर रखा था। उसने लोगों को कहा कि भाग जाओ यहाँ से। मैंने सबसे ज्यादा गरीब आदमी को देने का तय किया है। एक भिखारी ने कहा कि मुझसे ज्यादा गरीब कौन होगा? मेरे पास कल के लिए भी खाना नहीं है। फकीर ने कहा, मुझे जाँच करनी पड़ेगी। तब मैं तय करूँगा।

इसी बीच सम्राट् की सवारी निकली। हाथी पर सम्राट् जा रहा था।

फकीर ने चिल्ला कर रुक जाने को कहा। सम्राट् रुका और उसने वह थैली उन भिखारियों की भीड़ के सामने सम्राट् के हाथी पर फेंक दी। सम्राट् ने कहा, क्या मजाक कर रहे हैं ? मैंने तो सुना है कि आपने सबसे ज्यादा गरीब को देने का तय किया था। फकीर ने कहा, तुमसे ज्यादा गरीब और कौन होगा ? क्योंकि यहां जितने लोग खड़े हैं, इनकी आशाएं और आकांक्षाएं बहुत बड़ी नही है। तुम्हारे पास इतना बडा साम्राज्य है, लेकिन अभी भी तुम्हारी इच्छा का कोई अन्त नही है, वह और आगे दौड़ेगी। तुम बड़े से बड़े भिखारी हो, तुम्हारी इच्छा कभी पूरी न होगी। तुम्हारा भिक्षा-पात्र ऐसा है कि कभी भर न पाएगा। तुम्ही सबसे बड़े गरीब हो। यह मैं तुम्हें दे देता हूं।

गरीब कौन है ? जिसकी वासनाएं दुष्पूर हैं। अमीर कौन है ? जिसकी कोई वासना नहीं। गरीब कौन है ? जिसकी मांग का कोई अन्त नहीं। अमीर कौन है ? जो कहता है, अब मांगने को कुछ भी न बचा।

राम जब अमरीका गए, तो वे अपने को बादशाह कहते थे। एक लँगोटी थी पास में, लेकिन कहते थे अपने को बादशाह राम। उन्होंने एक किताब लिखी है, उसका नाम है, बादशाह राम के छह हुक्मनामें। एक लँगोटी थी और पुस्तक लिखी थी : 'हुक्मनामें बादशाह राम के'। अमरीका का प्रेसिडेंट मिलने राम से आया। और तो उसे सब ठीक लगा, एक बात जरा उसे बेचैन करने लगी। उसने कहा, 'और सब तो ठीक है, मगर आप अपने को खुद अपने मुंह से बादशाह राम कहते हैं,' वे ऐसा कहते थे कि बादशाह राम कल वहां गए।

प्रेसिडेन्ट ने कहा कि जरा पूछना चाहता हूं कि बादशाहत कौन-सी है जिसकी आप बात कर रहे हैं। क्या है आपके पास, जिसके आप बादशाह हैं। राम ने कहा, जब तक कुछ भी मेरे पास था, तब तक मैं गुलाम था, क्योंकि जो भी मेरे पास था, वह मेरा मालिक हो गया था। अब मैं बिलकुल बादशाह हूं, क्योंकि अब मेरी कोई गुलामी न बची। जब तक मेरे पास कुछ था, तब तक मेरी मांग कायम थी, अब मेरी कोई भी मांग नहीं है। अब तुम हीरे-जवाहरातों के ढेर लगा दो, तो मैं उन पर ऐसे चल सकता हूं जैसे धूल पर चल रहा हूं। अब मुझे महलों में ठहरा दो, तो मैं ऐसे ठहर सकता हूं जैसे झोंपड़े मे सो रहा हूं। अब तुम दुनिया का मुझे बादशाह

भी बना दो, तो मुझे ऐसा न लगेगा कि 'समर्थिंग हैज बीन ऐडेड', कुछ जुड़ गया नया मुझसे, ऐसा नहीं लगेगा। स्वामी रामतीर्थ बादशाह थे ही। संन्यासी सदा ही सपदा उसे कहता रहा है, जो परिपूर्ण तृप्ति से, टोटल फुलफिलमेंट से जनमती है।

ऋषि कह रहा है, ब्रह्मचर्य आश्रम मे, फिर वानप्रस्थ में अध्ययन से फलित सर्व ज्ञान ही संन्यास है। इस देश मे हमने आदमी के जीवन को आश्रमों में विभक्त किया था। शायद मनुष्य जाति के इतिहास मे हमारा प्रयोग अकेला और अनूठा था जिसमे हमने आदमी की जिन्दगी को चार खण्डों में बाँटा था और बड़ी वैज्ञानिक व्यवस्था से बाँटा था। अगर सौ वर्ष हम आदमी की औसत उम्र मान लें, तो हमने चार टुकड़े कर दिए थे पच्चीस-पच्चीस वर्षों के। पच्चीस वर्ष के पहले टुकड़े को हम ब्रह्मचर्य आश्रम कहते थे। इन पच्चीस वर्षों में व्यक्ति को अपनी समस्त शक्ति को जगा कर संग्रहीत करना ही लक्ष्य था। इसलिए कि जब वह गृहस्थ बनेगा, तो उसके पास इतनी ऊर्जा होनी चाहिए कि वह जीवन के समस्त भोगों को जान पाए।

ये भारत के मनीषी दुस्साहसी थे, भगोड़े नहीं थे। यह पच्चीस वर्ष के ब्रह्मचर्य का समय इसलिए था, ताकि व्यक्ति इतनी शक्ति-संपन्नता से भोग के जीवन में जाए कि भोग को अंतिम किनारे तक छू सके—'टु द आप्टीमम', क्योंकि ऋषियों ने जाना था वह सत्य कि जिस बात को हम पूरा जान लें, उससे छुटकारा हो जाता है। अगर आप से भी छुटकारा चाहिए, तो आपको पूरा जान लेना जरूरी है। आधा जिसने जाना है, उसके मन में लगाव कायम रह ही जाता है कि पता नहीं, वह जो आधा शेष था, वहाँ न मालूम क्या होगा।

मुल्ला नसरुद्दीन मर रहा है। पुरोहित आ गए हैं उसे विदा करने को। वे उससे कहते हैं, पश्चाताप करो। तुमने जो पाप किए हों, उनके लिए पश्चाताप करो। नसरुद्दीन आंख खोलता है और कहता है, पश्चाताप मैं कर रहा हूँ, (देयर इज रिपेन्टेंस इन मी।) लेकिन थोड़ा-सा फर्क है मुझमें और आप में। मैं उन पापों का पश्चाताप कर रहा हूँ, जो मैं नहीं कर पाया। मन में बड़ी पीड़ा रह गई कि शायद उनको भी कर लेता, तो पता नहीं क्या पा जाता। जो किए, उनसे तो कुछ नहीं मिला। लेकिन क्या यह जरूरी है कि जो नहीं किए, उन्हें करता तो उनसे भी न मिलता? जो किए उनसे

नहीं मिला। लेकिन जो नहीं किए उनमें खजाने छिपे होंगे, यह कौन मुझे आज मरते क्षण में आश्वासन देगा। पश्चात्ताप कर रहा हूँ।

नसरुद्दीन जब सौ वर्ष का हुआ था, तो उसकी सौवीं वर्षगांठ मनाई जा रही थी। गांव के पत्रकार उसके पास आए थे। उन्होंने नसरुद्दीन से कहा कि अगर तुम्हें दुबारा जिन्दगी मिले तो क्या वे ही भूलें फिर करोगे जो इस जिन्दगी में कीं। नसरुद्दीन ने कहा, वे तो करूंगा ही; जो नहीं कर पाया, वह भी करूंगा। एक बात में फर्क करूंगा कि इस बार मैंने जिन्दगी मे भूलें बड़ी देर से शुरू कीं। अगली बार में जल्दी शुरू कर दूंगा।

पत्रकारों ने पूछा कि तुम्हारी इतनी लंबी उम्र का राज क्या है?—तुम सौ वर्ष जिये! तो नसरुद्दीन ने कहा, मैंने शराब भी नहीं छुई, मैंने धूम्रपान भी नहीं किया, मैंने किसी लड़की का स्पर्श भी नहीं किया, जब तक दस वर्ष का नहीं हो गया। इसके सिवा और तो मुझे लंबी उम्र का कोई रहस्य मालूम नहीं पड़ता। अगर दोबारा जिन्दगी मिले, तो जो भूलें मैंने देर से शुरू की हैं, उन्हें जरा मैं जल्दी शुरू करूंगा!

आदमी पछताता है उन पापों के लिए, जो उसने नहीं किए। आप उन पापों की याद नहीं करते, जो आपने किए। उन पापों की यादें मन को घेरे रहती हैं, जो आपने नहीं किए।

भारतीय मनीषी बहुत समझदार थे, बुद्धिमान थे, प्रज्ञावान थे। वे कहते थे पच्चीस वर्ष ऊर्जा को इकट्ठा कर लो, समस्त शक्ति को जरा भी बहने मत दो, ताकि जब तुम कूदो जीवन के भोग के जगत् में, तो तुम्हारी शक्ति से भरी हुई ऊर्जा के तीर तुम्हें वासनाओं के आखिरी तल तक पहुंचा दें। तुम वह सब देख लो, जो संसार दिखा सकता है, ताकि संसार से पीठ मोड़ते वक्त मन में एक बार भी पीछे लौटकर देखने का भाव न आए। यह ब्रह्मचर्य का अर्थ था। उसका यह अर्थ नहीं था कि लोगों को साधु बनाना है, इसलिए ब्रह्मचर्य। लोगों को भोग की इतनी स्पष्ट प्रतीति हो जानी चाहिए कि भोग व्यर्थ हो जाए। तभी तो साधुता का जन्म होता है।

फिर ब्रह्मचर्य के पच्चीस वर्ष के बाद हम व्यक्ति को भेज देते थे गृहस्थ-आश्रम में। अजीब-सी बात थी कि पच्चीस साल तक उसे रखते थे दूर वासनाओं के जगत् से और पच्चीस साल के बाद बैण्ड-बाजे बजाकर उसे वासनाओं के जगत् में प्रवेश कराते थे। बड़े गुणी लोग थे, जिन्होंने यह

सोचा। उन्होंने सोचा, शक्ति पहले तो संग्रहीत होनी चाहिए !

आज पश्चिम मे या पूरब मे भी कोई भी व्यक्ति काम-वासना से तृप्त नही है, यद्यपि आज के युग मे जितनी काम-वासना को तृप्त करने के उपाय हैं और आज के युग मे जितना काम-वासना को तृप्त करने का प्रचार है और आज के युग में काम-वासना को जितना प्रदर्शित किया जाता है, उतना दुनिया मे कभी भी नही था। फिर भी कोई आदमी तृप्त नहीं मालूम होता। उसका कारण है कि शक्ति संग्रहीत हो इसके पहले ही विसर्जित होनी शुरू हो जाती है। इसके पहले कि फल पके, जड़े रस को मिट्टी में खोना शुरू कर देती हैं। फल कभी पक नही पाता। जो फल कच्चा ही रह जाता है, वह कैसे त्याग कर दे वृक्ष का। कच्चे फल कही वृक्ष का त्याग करते हैं ? पके फल गिरते हैं, चुपचाप गिर जाते हैं। वृक्ष को भी पता नहीं चलता कब गिरा। लेकिन फल को पकने के लिए ऊर्जा चाहिए। जीवन के अनुभव के पकने के लिए भी ऊर्जा चाहिए।

तो पच्चीस वर्ष तक तो हम समस्त रूपों मे शक्ति को संग्रहीत और शक्ति को जनमाने और शक्ति को पैदा करने का उपाय करते थे। और एक-एक आदमी को हम एक रिजर्वायर (कुण्ड) बना देते थे जो ऊर्जा से आन्दोलित थे। वह शक्ति-संपन्न, शक्ति से भरा हुआ जगत् मे आता था। ध्यान रहे, जितना शक्तिशाली पुरुष हो, उतनी जल्दी वह वासनाओं से मुक्त हो जाता हैं। जितना निर्बल पुरुष हो, उतनी देर लग जाती है, क्योंकि निर्बल कभी भोग का अनुभव ही नही कर पाता, जिसका अनुभव नही, उसका छुटकारा कैसे होगा ? जिसे जाना नही कि व्यर्थ है, वह कैसे छोड़ा जा सकेगा ? व्यर्थता का ज्ञान तो पूरे जानने से ही उपलब्ध होता है। इसलिए दुनिया जब तक मनीषा के द्वारा विभाजित मनुष्य के खण्डों को पुन. स्वीकार नही कर लेगी, तब तक हम मनुष्य के वासनाओं से मुक्त करने मे समर्थ न हो सकेंगे।

ऋषि कहता है, पच्चीस वर्ष ब्रह्मचर्य के आवास में जो जाना, गृहस्थ जीवन मे जो अनुभव किया, पचास वर्ष की उम्र तक गृहस्थ रहेगा। पच्चीस वर्ष वह गृहस्थ जीवन का अनुभव करेगा। जब वह पचास वर्ष होने के करीब होगा, तब तक उसके बेटे आश्रम से लोटने के करीब हो जाएँगे। उसके बेटे पच्चीस वर्ष के करीब होने लगेंगे। भारत के ऋषि कहते थे कि जब बेटा घर में पत्नी के साथ आ जाए, तब भी पिता बच्चे पैदा करता जाए,

इससे बेहूदी और कोई बात नहीं हो सकती। है भी बेहूदी बात। बेटा जब भोग में उतर जाए, तब भी बाप भोगना जारी रखे, यह असंगत है। जरा भी इसमें समझदारी नही दिखाई पड़ती। और फिर भी बाप चाहे कि बेटा आदर दे, तो मूढ़ता की हद हो गई। कोई वजह नहीं। लगता तो ऐसा है, बेटा आपके कन्धे में हाथ रखे और ट्विस्ट करे, क्योंकि दोनों की योग्यता बराबर है। बेटा भी वही कर रहा है, बाप भी वही कर रहा है। बेटा भी खड़ा है क्यू में सिनेमा घर के, बाप भी खड़े हैं क्यू में सिनेमा घर के। फिर आदर, फिर श्रद्धा, फिर सम्मान अगर खो जाएँ, तो कसूर किसका है ?

नहीं, नियम यह था कि बेटा जिस दिन विवाहित होकर घर आए उस दिन बाप वानप्रस्थ हो गया, उस दिन माँ का वानप्रस्थ हो गया, उसी दिन हो गया। बात खत्म हो गई। जब बेटे भोगने के जगत् में आ गए, तब बाप को अब त्यागने के जगत् में जाना चाहिए। नहीं तो फासला क्या है, फर्क क्या है, भेद क्या है ?

पचास वर्ष में व्यक्ति वानप्रस्थ हो जाएगा। वानप्रस्थ का अर्थ है, जिसका मुँह वन की तरफ हो गया। अभी वन में गया नही है। अभी जंगल चला नहीं गया, क्योंकि जो बेटे अभी गुरुकुल से वापस आए हैं, बाप की कुछ जिम्मेवारी है कि उनको वह अपने जीवन के अनुभव दे दें। अभी अगर वह जगल भाग जाए, तो बेटों और बाप के बीच, पीढ़ियों के बीच जो ज्ञान का सक्रमण होना चाहिए, ट्रांसमिशन होना चाहिए, वह नहीं हो पाएगा। अभी बेटे गुरुकुल से आए हैं, अभी वे ज्ञान की बातें लेकर आए हैं, शब्द सीख कर आए हैं, शास्त्र सीख कर आए हैं, शक्ति लेकर आए हैं, अभी चमत्कृत हैं जीवन से, अभी ऊर्जा से भरे हुए हैं, युवा अवस्था है। अभी पिता ने पच्चीस वर्षों के गृहस्थ जीवन में जो जाना है, वह सब उसे सिखा दे। पच्चीस वर्ष तक माता और पिता वानप्रस्थ होंगे, वन की तरफ जाते हुए। चेहरा उनका अब जंगल की तरफ है, पीठ घर की तरफ हो जाएगी। पच्चीस वर्ष रुकेंगे, ऐज ए ट्रस्टी, एक संरक्षक की तरह। ताकि जो उन्होंने जाना है, वह बेटे को सौंप दें।

लेकिन जब वे पचहत्तर वर्ष के होंगे, तब तक तो बेटों के बेटे गुरुकुल से लौट रहे होंगे। तब उनके रुकने की कोई जरूरत नही रही, क्योंकि उनके बेटे ही अब अनुभवी पिता हो गए हैं, वे पचास साल के हो गए हैं। अब वे अपना ज्ञान और अनुभव अपने बेटों को दे सकेंगे। अब उनके संन्यास का क्षण

आया, अब वे छोड़ दें और जंगल चले जायें। और ऐसा एक बहुत अद्‌भुत सर्किल हमने निर्मित किया था।

ये जो पचहत्तर वर्ष के वृद्ध जन जंगल चले जाएँगे, ये आने वाले बच्चों के लिए गुरु का काम करेंगे। यह एक सर्किल था हमारा। और ध्यान रहे कि हमने कभी यह स्वीकार नहीं किया कि विद्यार्थी और गुरु के बीच इससे कम उम्र का फासला उचित है। पचास साल की उम्र का फासला जरूरी है, क्योंकि ऐसे वृद्ध की सब वासनाएँ क्षीण हो गई होती हैं। केवल ऐसे वृद्ध ही, जिनकी समस्त वासनाएँ क्षीण हो गईं, जो अनुभव से वासनाओं के पार हो गए, हैं, अपने बच्चों को ब्रह्मचर्य में दीक्षित कर सकते हैं, नहीं तो नहीं। कैसे करेंगे? अभी जब गुरु खुद गीता मे काम-शास्त्र छिपा कर पढ़ता हो, फिर बच्चे भी पहचान जाते हैं। पहचानने मे देर नहीं लगती। फिर वही गुरु उनसे ब्रह्मचर्य की बात करता है। बच्चे देख लेते हैं, सुन लेते हैं, लेकिन जान जाते हैं कि ये सब बातें करने की हैं। आज तो युनिवर्सिटी में ऐसा ही होता है, अक्सर ऐसा होता है। वहाँ अक्सर ऐसा हो जाता है कि एक ही लड़की के लिए प्रोफेसर भी दीवाना है और लड़के भी दीवाने हैं। भारी प्रतिस्पर्धा हो जाती है। अब ब्रह्मचर्य की बात करने की भी जरूरत नहीं रह गई, शोभा भी नहीं देती। हमने माना था कि पचास साल का फासला विद्यार्थी और गुरु में होना चाहिए। इतना डिस्टेंस (फासला) कई अर्थों में जरूरी है।

वार्धक्य का अपना सौंदर्य है, अपनी गरिमा है। अगर कोई व्यक्ति सच मे, ढंग से बूढ़ा हुआ, तो बुढ़ापे का जो सौंदर्य है, वह किसी भी स्त्री में कभी नहीं होता। क्योंकि जवानी में तो एक उत्तेजना होती है, इसलिए सौंदर्य में शान्ति नहीं होती, स्निग्धता नहीं होती, चाँद-जैसा नहीं होता सौंदर्य, जवानी में तो एक उतावलापन होता है, जल्दी होती है। जल्दी कुरूप होती है। जल्दी में कभी भी सौंदर्य नहीं होता। सौंदर्य तो बहुत धीरे से बहने वाली नदी की दशा है और जवानी इतनी ऊर्जा से भरी होती है कि उसे फेंकने के लिए पागल होती हैं, विक्षिप्त होती है।

जवानी कभी भी स्वस्थ नहीं होती। हालाँकि हम कहते हैं कि जवान बहुत स्वस्थ होते हैं! शरीर से होते होंगे, लेकिन मन से जवानी बहुत अस्वस्थ अवस्था है। इस अर्थ में बूढ़े ही स्वस्थ हो पाते हैं, लेकिन अगर कोई

ठीक से वृद्ध हो तभी। ठीक से वृद्ध होने का मतलब यही है कि भीतर जवानी सरकती न रह जाए, और कोई अर्थ ही नहीं होता। नहीं तो शरीर बूढ़ा हो जाता है और मन जवान रह जाता है। तब बूढ़े से ज्यादा कुरूप इस जगत् में कोई घटना नहीं होती (द मोस्ट अग्लीएस्ट), जब शरीर बूढ़ा होता है और मन जवानी की तरह बेताब, पागल, रुग्ण और वासनाग्रस्त होता है।

यह बड़े मजे की बात है कि बच्चे अब भी सुन्दर होते हैं, जवान अब भी सुन्दर होते हैं, लेकिन बूढ़े अब सुन्दर होने बन्द हो गए। कभी मुश्किल से कोई वृद्ध व्यक्ति सुन्दर दिखाई पड़ता है। रवीन्द्रनाथ ने कहा है, जब सचमुच कोई बूढ़ा जीवन के अनुभव से पक कर वार्धक्य के सौन्दर्य को उपलब्ध होता है तो उसके सिर पर आ गए सफेद बाल ऐसे मालूम पड़ते हैं जैसे गौरीशंकर पर जम गई शुभ्र बर्फ—शान्त शिखर को छूता हुआ, आसमान को छूता हुआ। जब बादल भी शर्म से झुक जाते हैं और नीचे पड़ जाते हैं। ऐसे बूढ़ों को हम कहते थे गुरु।

इतना फासला न हो तो गुरु और शिष्य के बीच जो श्रद्धा का जन्म होना चाहिए, वह नहीं हो सकता। और फिर ये जो कुछ जान चुके हैं, उसे देने में समर्थ हो सकते हैं। आज करीब-करीब, जिन्होंने कुछ भी नहीं जाना—शब्द जाने हैं, परीक्षापत्र जाने हैं, सर्टिफिकेट जाने हैं, जिनका अनुभव से कोई सम्बन्ध नहीं, वे उनको ज्ञान देते रहते हैं, जो करीब-करीब उनकी ही मनोदशा में हैं। कोई भेद नहीं। अगर विद्यार्थी थोड़ा होशियार हो, तो शिक्षक से ज्यादा आज जान सकता है। पहले यह असंभव था। विद्यार्थी थोड़ा होशियार हो, तो शिक्षक से ज्यादा जान सकता है और अक्सर कुछ विद्यार्थी तो थोड़े होशियार होंगे ही और शिक्षक से थोड़ा ज्यादा ही जानकार होंगे।

शिक्षक के कार्य की तरफ जाने वाला जो वर्ग है, समाज का वह सबसे कम होशियार वर्ग होता है। उसके कारण हैं। शिक्षक का न वेतन ठीक है, न कोई सम्मान है। लोग पूछते हैं, अच्छा, मास्टर हो गए! यानी बेकार हो गए! आदमी डरता है बताने में कि वह मास्टर है। इससे अच्छा तो कांस्टेबल कहता, तो रीढ़ अकड़ जाती कि कांस्टेबल हैं। मास्टर हैं, तो वह ऐसा कहता है जैसे पिट गए, बेकार हो गए, जिन्दगी बेकार हो गई, मास्टरी में गँवा दी। जाता ही 'मीडियॉकर' वर्ग है, मध्यबुद्धि वाला वर्ग ही जाता है।

जरा-सा भी विद्यार्थी होशियार हो, तो शिक्षक पीछे पड़ जाता है। लेकिन भारत की दृष्टि यह थी कि शिक्षक को किसी भी स्थिति में विद्यार्थी से पीछे नहीं पड़ना चाहिए। यह तभी हो सकता है, जब इतना लम्बा जीवन का अनुभव हो।

ऋषि कह रहा है कि जिन्होंने ब्रह्मचर्य जाना, गृहस्थ जाना, वानप्रस्थ जाना, इस जानने से ही वे जिस त्याग को उपलब्ध होते हैं, उसका नाम संन्यास है। इस जानने से ही, 'दिस वेरी नोइंग लीड्स टु रिनंसिएशन', यह जानना ही संन्यास बन जाता है। जिसने जान लिया जीवन को इतने-इतने पहलुओं से, वह जीवन से चिपका नहीं रह जाता। वह जान लेता है कि असार को पकड़ कर रखने का क्या प्रयोजन है, तो असार छूट जाता है और अंत में समस्त शरीरों का नाश हो जाता है और ब्रह्मरूप अखण्डाकार में प्रतिष्ठा होती है।

मनुष्य के सात शरीर हैं। एक शरीर, जो हमे दिखाई पड़ता है, यह है। फिर इसके भीतर और, और, और सात शरीरों की पर्तें हैं। एक शरीर तो भौतिक है, जो हमे दिखाई पड़ता है। और सूक्ष्म शरीर हैं, जो हमें दिखाई नहीं पड़ते, लेकिन जब कोई योग में प्रवेश करता है, तो वे दिखाई पड़ने शुरू हो जाते हैं। एक-एक आदमी सात परतों (सेवन लेयर्स) से घिरा हुआ है। ये जो सात शरीर हैं हमारे, जब तक ये सातो के सातो न गिर जाएँ, तब तक अखण्ड ब्रह्माकार स्थिति नहीं बनती। अगर एक शरीर भी बच जाए पीछे, तो वह यात्रा जारी रखता है। अगर सातो शरीर हों, तो जन्म होता है अलग ढंग से। अगर एक ही शरीर रह जाए, तो भी जन्म होता है अलग ढंग से। भौतिक शरीर निर्मित नहीं होता, लेकिन जन्म की यात्रा जारी रहती है।

जन्म तो उसी दिन मिटते हैं, जिस दिन हमारे भीतर कोई शरीर ही नहीं रहता। लेकिन कब यह घटना घटती है कि कोई शरीर न रह जाए? यह तभी घटती हैं, जब भीतर कोई वासना न रह जाए, क्योंकि वासना शरीर को संग्रहीत करती है, 'क्रिस्टलाइज' करती है, इकट्ठा करती है। हमारे भीतर वासनाओं के भी सात तल हैं, इसलिए हमारे भीतर सात शरीर हैं। जब कोई व्यक्ति सब जानकर जीवन का त्याग कर देता है, तब सातो शरीर भस्मीभूत हो जाते हैं। वैसे व्यक्ति की अखण्ड ब्रह्म के साथ सत्ता एक हो जाती है। फिर जन्म का कोई उपाय न रहा, क्योंकि जन्म लेगा कहाँ?

जाएगा कहाँ ? आवागमन की कोई सुविधा न रही। फिर तो प्रतिष्ठा उसमें हो गई, जो सरल है, आकाश की भांति जो फैला है सब ओर। उसके साथ एक होना हो गया।

यही क्षण परम अनुभूति और परम आनन्द का क्षण है, जब हमें जनमने की जरूरत नहीं रह जाती, क्योंकि फिर मरने का कोई कारण नही रह जाता। जब हमें शरीर ग्रहण नहीं करने पड़ते, तब हमें शरीरों से पैदा होने वाले कष्ट भी नहीं झेलने पड़ते और जब इन्द्रियाँ हमें नही मिलतीं, तब इन्द्रियों से जो भ्रांतियाँ पैदा होती हैं, वे भ्रांतियाँ भी नहीं पैदा होतीं। तब हम शुद्ध चैतन्य में, शुद्ध सत्य में, शुद्ध अस्तित्व के साथ एक हो जाते हैं। इस एकता का जो ज्ञान है, इस एकता का जो दिशा-निर्देश है, इस परम ऐक्य की जो इंगित व्यवस्था है, ऋषि कहता है, यही निर्वाण दर्शन है।

एक बहुत अद्‌भुत बात कही है अन्त में, इस सूत्र के, जिसका शिष्य या पुत्र के अतिरिक्त अन्य किसी को उपदेश नहीं करना है। ऐसा यह रहस्य है। यह बहुत अजीब लगेगा। इतनी अद्‌भुत बातों के बाद, इतने परम ज्योतिर्मय की ओर इशारे करने के बाद एक बात ऋषि कहता है कि यह ज्ञान ऐसा है कि इसे अपने पुत्र या अपने शिष्य के अतिरिक्त और किसी से मत कहना। उपनिषद् का अर्थ होता है, 'द सीक्रेट डॉक्ट्रिन', उपनिषद् का अर्थ होता है गुह्य रहस्य। उपनिषद् शब्द का अर्थ होता है, जिसे गुरु के पास चरणों में बैठकर सुना।

रहस्य इतना गुह्य है कि ऐसे ही राह चलते नहीं कहा जाता। रहस्य इतना गुह्य है कि हर किसी से नही कहा जाता। बहुत 'इन्टिमेसी' चाहिए, बड़ा आंतरिक संबंध चाहिए। रहस्य ऐसा गुह्य है कि जहाँ तर्क और वितर्क और विवाद चलता हो, वहाँ नही कहा जा सकता है। जहाँ प्रेम की अन्तर्धारा बहती है, वहीं कहा जा सकता है। जहाँ संवाद संभव हो, जहाँ कम्यूनिकेशन संभव हो, जहाँ हृदय-हृदय से बोल सके (हार्ट टु हार्ट), वहीं कहना। ऋषि ने यह सूचना दी है।

बेटे या शिष्य को भी कहने का कारण है। असल में बेटे से मतलब है, जो इतना अपना हो कि अपनी ही मांस-मज्जा मालूम पड़े। जरूरी नहीं है कि वह आपके शरीर से पैदा हुआ हो। यह जरूरी नहीं है। यह जरूरा है कि वह आपको ऐसा लगे कि अगर वह मर जाए, तो आपका कोई हिस्सा मर

जाएगा, अगर वह खो जाए, तो आपका कोई अंग खो जाएगा, वह डूब जाए, नष्ट हो जाए, तो आपके हृदय की धड़कनें कुछ नष्ट हो जाएँगी। आप फिर कभी उतने पूरे न होंगे, जितने उसके होने से थे। जिसके साथ ऐसी आत्मीयता मालूम हो, जो इतना आत्मज मालूम पड़े, उससे कहना। क्योंकि यह रहस्य गुह्य है, या उससे कहना जो शिष्य हो।

शिष्य का अर्थ होता है, 'वन हू इज रेडी टु लर्न' जो सीखने को तैयार है। बहुत कम लोग दुनिया में सीखने को तैयार होते हैं, मुश्किल से। सिखाने की उत्सुकता बहुत आसान है, सीखने की तैयारी बहुत कठिन है। क्योंकि सीखने के लिए झुकना पड़ता है, इस शिष्य शब्द से मुझे खयाल आया। हमारे मुल्क में पाँच सौ वर्ष पहले नानक के शब्दों से एक धर्म का जन्म हुआ, जिसको हम कहते हैं सिख। लेकिन सिख केवल शिष्य का पंजाबी रूपान्तरण है। शिष्य का पंजाबी रूप है सिख — जो सीखने को तैयार है। इतना ही उसक मतलब है। सिख कोई पंथ नहीं, कोई मजहब नहीं; जो भी सीखने को तैयार है, वही सिख है।

ऋषि कहता है, यह जो सीखने की तैयारी अगर न हो, तो मत कहना। क्योंकि ये बातें ऐसी हैं कि सीखने को जो तैयार न हो, उससे कहो, तो उसके कानों में भी प्रवेश नहीं होगा और खतरा यह है कि वह इनके गलत अर्थ निकाल लेगा। यह रहस्य गुह्य है, यह सीक्रेट है। यह ऐसी बात नहीं है बोलचाल की कि कह दी। इसे सोच-समझ कर कहना।

निश्चित ही हम पूरी उपनिषद् देख गए हैं, सोच-समझकर कहने-जैसा है। 'स्वेच्छाचार संन्यास है', यह जरा सोच समझकर उससे कहना, जो समझ सके, समझने की जिसकी तैयारी हो, नहीं तो वह ठीक से नहीं समझेगा। स्वेच्छाचार का मतलब समझेगा कि लाइसेंस मिल गया। अब कुछ करो। अगर कोई कुछ कहे, तो कहना, संन्यासी हैं, क्या समझते हो? स्वेच्छाचार करेंगे ही, संन्यासी जो हैं।

हम देख गए हैं, पूरी निर्वाण उपनिषद्, ने जो बातें कही हैं, वे निश्चित ऐसी हैं कि ऋषि को यह वक्तव्य पीछे दे ही देना चाहिए कि उससे ही कहना, जो इतना निकट हो कि मिस-अण्डरस्टैंड न कर पाए, गलत न समझ पाए। उससे ही कहना, जो सीखने को इतना तैयार हो कि अपनी तरफ से कुछ जोड़े

नहीं। जो कहा जाए, वही समझे। जो चरणों में बैठकर झुक सके, जो सिर्फ प्रश्न ही न कर रहा हो, जो केवल जवाब ही न चाहता हो, जो समाधान की तलाश में निकला हो, जो समाधि पाना चाहता हो, उससे कहना।

ऋषि कहता है, बस यह आखिरी बात कहने की है कि जब किसी से कहो, तो सोच समझकर कहो। इतना ही मुझे कहना है। निर्वाण उपनिषद् समाप्त हो जाती है।

निर्वाण उपनिषद् तो समाप्त हो जाती है, लेकिन निर्वाण, निर्वाण उपनिषद् के समाप्त होने से नहीं मिल जाता। निर्वाण उपनिषद् जहाँ समाप्त होती है, वहीं से निर्वाण की यात्रा शुरू होती है। उपनिषद् समाप्त हो गई।

मैं इस आशा के साथ अपनी बात पूरी करता हूँ कि आप निर्वाण की यात्रा पर चलेंगे, बढ़ेंगे। और यह भरोसा रखकर मैंने ये बातें कही हैं कि आप सुनने को, समझने को तैयार होकर आए थे। अगर कोई शिष्य के भाव से न आया हो, तो उसके कारण मुझे ऋषि से क्षमा माँगनी पड़ेगी, क्योंकि फिर ऋषि के इशारे के विपरीत बात हो गई। किसी ने अगर मन में विवाद लेकर इन बातों को सुना और समझा हो, तो उससे मैं प्रार्थना करूँगा कि वह भूल जाए कि मैंने उससे कुछ भी कहा।

मैंने जैसा कहा है और जो कहा है, उसमें अगर रत्ती भर भी अपनी तरफ से जोड़ने का खयाल आए, तो स्मरण रखना कि वह अन्याय होगा—मेरे साथ ही नहीं, जिसने निर्वाण उपनिषद् कही है, उस ऋषि के साथ भी।

यही मानकर मैं चला हूँ कि जो यहाँ इकट्ठे हैं, वे आत्मीय हैं, ऐंड कम्यु-निकेशन इज़ पॉसिबल, और संवाद हो सकता है। इसलिए सिर्फ चर्चा नहीं रखी, साथ में आपके ध्यान के गहन प्रयोग रखे। क्योंकि मैं मानता हूँ कि चर्चा में वे लोग भी उत्सुक हो जाते हैं, जो शब्दों को विलास समझते हैं। चर्चा में वे लोग भी उत्सुक हो जाते हैं, जो शब्दों को मनोरंजन समझते हैं, लेकिन ध्यान में वे लोग उत्सुक नहीं होते। दिन में तीन बार अथक श्रम करना पड़े ध्यान के लिए, तो जो चर्चा में उत्सुक थे, वे भाग गए होंगे। भाग जाएँगे, इसलिए ध्यान को अनिवार्य रूप से पीछे जोड़ कर रखा था। और मैं, जब आप मुझे सुनते हैं, आपकी फिक्र नहीं करता हूँ; जब आप ध्यान करते हैं तब आपकी फिक्र करता हूँ।

आपकी ध्यान करने की चेष्टा ने मुझे भरोसा दिलाया है कि जिनसे मैंने बात कही है, वे कहने योग्य थे।

निर्वाण उपनिषद् समाप्त !

निर्वाण की यात्रा प्रारंभ !!

●